शिवमहापुराण की दार्शनिक तथा धार्मिक समालोचना

डॉ॰ रमाशङ्कर त्रिपाठी

शिवमहापुराण की दार्शनिक तथा धार्मिक समालोचना

लेखक

डा० रमाशंकर त्रिपाठी

प्रकाशक

हरिशङ्कर त्रिपाठी

अस्सी, वाराणसी

शिवमहापुराण की दार्शनिक तथा धार्मिक समालोचना

लेखक

डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी

व्याकरणाचार्य, पुराणेतिहासाचार्य (लब्धस्वर्णपदक),

एम० ए०, पी-एच० डी०

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वारारणसी-५

भारतीय बुक कारपोरेशन
१ यू० बी०, जवाहर नगर
बैंग्लो रोड
दिल्ली-११०००७

प्रकाशक

हरिशङ्कर त्रिपाठी

बी० १/१२२-३१ए, डुमरांव कालोनी,

अस्सी, वाराणसी ।

प्रकाशक
हरिशङ्कर त्रिपाठी
बी० १/१२२-३१ ए,
डुमरांव कालोनी,
अस्सी, वाराणसी ।

©
सर्वाधिकार लेखक के अधीन

विक्रमाब्द-२०३२, खृष्टाब्द-१९७५
अजिल्द : पच्चीस रुपये
सजिल्द : तीस रुपये

मुद्रक
श्री शंकर प्रेस,
लङ्का, वाराणसी-५

समर्पण

प्राच्य-पौरस्त्योभयविषविद्यानिष्णात,

दार्शनिकप्रवर, सहृदय मनीषी,

डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र,

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,

एलाहाबाद विश्वविद्यालय

को

सप्रश्रय सर्मपित ।

रमाशङ्कर त्रिपाठी

शिवमहापुराण

की

दार्शनिक

तथा

धार्मिक

समालोचना

दो शब्द

किसी महापुराण पर अनुसन्धान करने की बलवती इच्छा विद्यार्थी अवस्था में ही जागृत हुई थी। यह एक संयोग की ही बात है कि समय आने पर मुझे शिवमहापुराण पर अनुसन्धान करने का अवसर मिला। शिवमहापुराण अपनी दार्शनिक जटिलता के लिये सर्वदा से प्रसिद्ध रहा है। इस पर कुछ लिख पाना सरल कार्य नहीं है। यही कारण है कि आज तक इस पर अनुसन्धानात्मक कार्य करने का किसी विद्वान् ने साहस नहीं किया है। फिर भी मैंने जो कुछ लिखा है उसे भगवान् विश्वनाथ एवं गुरु की कृपा का फल ही समझना चाहिये।

प्रस्तुत ग्रन्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए मूलतः 'शिवमहापुराण का दार्शनिक तथा धार्मिक अध्ययन' इस शीर्षक से लिखा गया था। शिवमहापुराण पर इस प्रकार के कार्य को देख कर परीक्षक पूर्ण सन्तुष्ट थे। उनकी संस्तुति को देखकर इसे प्रकाशित करने की बलवती अभिलाषा तत्काल अङ्कुरित हुई थी। किन्तु कार्य की व्यस्तता एवं व्यग्रता ने बाधा डाली। फलतः इसके प्रकाशन में दस वर्ष का अन्तराल आया। आज भी मैं इस ग्रन्थ को जितना पुष्ट एवं परिबृंहित रूप देना चाहता था, उसे, कुछ कारणों से नहीं दे पा रहा हूँ। यदि भगवान् की इच्छा हुई तो इस अभिलाषा को अगले संस्करण में पूरी करूँगा।

यहाँ मैं यह लिखने में अपार हर्ष एवं गर्व का अनुभव कर रहा हूँ कि प्रस्तुत ग्रन्थ की पूर्णता में स्वर्गीय मनीषी स्वनामधन्य पं० गोपीनाथ कविराज एवं शोधकार्य के निर्देशक डॉ० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, तत्कालीन विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं पालि-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, का असामान्य प्रतिभा एवं सागर सदृश गम्भीर विद्वत्ता से परिपूर्ण निर्देशन ही एकमात्र सहायक रहा है। स्व० कविराज जी शैव-दर्शन के अप्रतिम उद्भावक थे।

यहाँ पर उन सभी महानुभावों को धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ, जो पुस्तक आदि प्रदान कर मेरी सहायता किये हैं। परमादरणीय पं० हरिवंश जी चतुर्वेदी, प्रधानाचार्य, संस्कृत महाविद्यालय चुनार, एवं पं० व्रजवल्लभ जी द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, ने पुस्तक एवं पत्रिका आदि प्रदान कर जो स्नेह अभिव्यक्त किया है, उसके लिये उनका मैं विशेष आभारी हूँ। विश्वनाथ पुस्तकालय एवं जंगमबाड़ी मठ भी एतदर्थ धन्यवाद के पात्र हैं।

रमाशङ्कर त्रिपाठी

नागपञ्चमी

११-८-७१

सम्वत् २०१२

विवरण		पृष्ठसंख्या
	संकेत-सूची	
	विषयानुक्रमणी	
	सारांश	
	प्रस्तावना	
पूर्वार्द्ध :	प्रथम अध्याय-परमात्म-शिव	१
	द्वितीय अध्याय-शक्ति-तत्त्व	२७
	तृतीय अध्याय-तत्त्व	३८
	चतुर्थ अध्याय-आत्म-तत्त्व	५२
	पंचम अध्याय-पाश (बन्धन) और मुक्ति	६८
	षष्ठ अध्याय-शक्तिपात एवं दीक्षा	८०
	सप्तम अध्याय-योग	९५
	अष्टम अध्याय-सर्ग-प्रतिसर्ग	१२८
उत्तरार्द्ध :	प्रथम अध्याय-शिव के अवतार	१३५
	द्वितीय अध्याय-अन्य देवगण	१७१
	तृतीय अध्याय-लिंग	२१२
	चतुर्थ अध्याय-पूजा	२४७
	पंचम अध्याय-वर्णाश्रम धर्म, लोकाचार एवं आभिचारिक क्रियायें	२७१
	षष्ठ अध्याय-भूगोल	२८६
	उपसंहार	३०४
	परिशिष्ट	
	सहायक-ग्रन्थ-सूची	

संकेत-सूची

(अ)	
अग्नि०	अग्निपुराण
अथर्व०	अथर्ववेद
अनु०	अनुशासन पर्व
(ऋ)	
ऋग्०	ऋग्वेद
(ऐ)	
ऐत० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
(क)	
काशी०	काशीखण्ड
कूर्म० ब्रा०उ०	कूर्मपुराण, ब्राह्मीसंहिता, उत्तरार्द्ध
केन०	केनोपनिषद्
(ग)	
गरुड०	गरुडपुराण
(छ)	
छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्
(त)	
तन्त्रा०	तन्त्रालोक
तत्त्वप्रका०	तत्वप्रकाशिका
तत्त्व०	तत्वप्रकाश
तन्त्र०	तन्त्रसार
तैत्ति०	तैत्तिरीयोपनिषद्
तैत्तिरीय आर०	तैत्तिरीय आरण्यक
तैत्ति० सं०	तैत्तिरीय संहिता
तैत्ति० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
(प)	
पराप्रा०	पराप्रावेशिका
प्रत्यभिज्ञा०	प्रत्याभिज्ञाहृदय
पद्म०	पद्मपुराण
(ब)	
ब्रह्माण्ड०	ब्रह्माण्डपुराण
ब्रह्म पु०	ब्रह्मपुराण

ब्रह्म वै०	ब्रह्मवैवर्तपुराण
बौ० धर्मसूत्र	बौधायन धर्मसूत्र
बौधा० गृह्यसूत्र	बौधायन गृह्यसूत्र
(भ)	
भाग०	भागवतपुराण
भविष्य०	भविष्यपुराण
(म)	
महार्थ०	महार्थमंजरी
मत्स्य०	मत्स्यपुराण
महाभा०	महाभारत
मार्क०	मार्कण्डेयपुराण
(य)	
योगसू०	योगसूत्र
(र)	
रत्न०	रत्नत्रय
रामा० बाल का०	रामायण बालकाण्ड
(ल)	
लक्ष्मी०	लक्ष्मीतन्त्र
लिंग०	लिंगपुराण
(व)	
वन०	वनपर्व
बृहदा०	बृहदारण्यक
वायु०	वायुपुराण
वाराह०	वाराहपुराण
विष्णु०	विष्णुपुराण
(श)	
शतपथ०	शतपथब्राह्मण
शत० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शल्य०	शल्यपर्व
श्वेता० उप०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
शिवसूत्र विम०	शिवसूत्रविमर्शिनी
शिव०	शिवपुराण
शैव०	शैवरहस्य

श्रीमद्भाग०	श्रीमद्भागवत
(ष)	
षट्चक्र०	षट्चक्रनिरूपण
(स)	
सर्वदर्शन०	सर्वदर्शनसंग्रह
स्क०	स्कन्दपुराण
स्कन्द०	स्कन्दपुराण
स्पन्द०	स्पन्दकारिका
सांख्य०	सांख्यकारिका
सात्वत०	सात्वतसंहिता
सौर०	सौरपुराण
(ह)	
हठयोग०	हठयोगप्रदीपिका

विषयानुक्रमणी

पूर्वार्द्ध

प्रथम अध्याय

परंब्रह्म शिव—अद्वैतवाद में अन्तिम परिणति—परंब्रह्म शिव की द्वितीयेच्छा—एक ही सत्ता के दो रूप—परमात्म-शिव की शक्तिमत्ता—परमात्म-शिव की शक्तिमत्ता के लिये युक्ति—परमात्म शिव की शक्ति—शक्तित्रय परमात्म-शिव के त्रिनेत्र एवं त्रिशूल का आधार—परमात्म-शिव की पंचविध शक्तियाँ—परमात्म-शिव के पंचकृत्य—पंचकृत्यों की महाभूतों में स्थिति—ब्रह्मा आदि की सृष्टिकार्यों में संगति—परमात्म-शिव में पंचकृत्यों की कैसे संगति ?—परमात्म-शिव का परानुग्रहरूप कर्त्तव्य—परमात्म-शिव की प्रकृति—परमात्म-शिव एवं बन्धन—शिवसंज्ञा का कारण—परमात्म-शिव की इच्छामात्र से जगन्निर्माण—परमात्म-शिव एवं जगत्—व्यापक एवं एक परमात्म-शिव तथा जगत् —अद्वैतवाद की पूर्ण प्रौढता—परमात्म-शिव का सामान्य अनुग्रह एवं निग्रह—तटस्थ परमात्म-शिव—प्रेरक परमात्म-शिव—परमात्म-शिव एवं काल—संसार, शक्ति एवं परमात्म-शिव—केनोपनिषद् के प्रेरक ब्रह्म—परमात्म-शिव के रूप में औपनिषदिक ब्रह्म—सांख्य की दृष्टि में जगत् का मूल कारण—शिवमहापुराण एवं ईश्वर गीता—शिवमहापुराण एवं आचार्य शंकर के जागतिक दृष्टिकोण की तुलना—प्रत्यभिज्ञा के परंशिव—प्रकाशविमर्शमय अन्तिम सत्ता—अन्तिम सत्ता में 'अहम्' एवं 'इदम्'-द्वैतवादी शैवदर्शन और परमात्म-शिव—१–२६ ।

द्वितीय अध्याय

परमात्म-शिव में शक्ति की सत्ता—मरमात्म-शिव और शक्ति में अभेद—परमात्म-शिव एवं शक्ति की परस्परापेक्षा—शक्ति परमात्म-शिव के प्रकाशन का साधन—कर्मकाण्ड में भी परमात्म-शिव एवं शक्ति में साम्य—लोक में अर्द्धनारीश्वर की पूजा का आधार परमात्म-शिव की कल्पना—वस्तुतः एक ही सत्ता के परमात्म-शिव एवं शक्ति दो नाम—एक ही शक्ति के अनेक अभिधान—शक्ति का स्वभाव—शक्ति का बहुधा स्वविभाजन—शक्ति और जगत्—सम्पूर्ण संसार शक्तिमय है—शक्ति शुद्धाध्वा का उपादान कारण भी है—शक्ति का द्विधा परिणाम—शक्ति पाशविच्छेदिका—कूर्मपुराण एवं शक्तितत्त्व—कूर्मपुराण के अनुसार शक्तिभेद—प्रत्यभिज्ञादर्शन में शक्ति—शक्ति के भेद—शक्ति एवं संसार—द्वैतदर्शन में शक्तितत्त्व—शक्ति जगत् का कारण—२७–३७।

तृतीय अध्याय

सदाशिव तत्त्व–सदाशिव तत्त्व की उत्पत्ति एवं प्रकृति–सदाशिव तत्त्व से संसार का प्रारम्भ–काश्मीर शैवदर्शन और सदा शिवतत्त्व–ईश्वर तत्त्व–प्रत्यभिज्ञा और ईश्वर तत्त्व–शुद्ध-विद्या तत्त्व–उत्पत्ति एवं प्रकृति–शुद्ध-विद्यानाम पड़ने का कारण–द्वैतदर्शन और शुद्ध-विद्या–अद्वैतदर्शन और शुद्ध–विद्या–माया और पंच कंचुक–माया शब्द का अर्थ–माया बन्धन का एक भेद है–पंच कंचुक और उनके कार्य–पुरुष–प्रकृति–गुणों के स्वभाव–सांख्य की दृष्टि में प्रकृति–द्वैतवादो शैवदर्शन और प्रकृति–षट्त्रिंशत् संख्या की अनुपपत्ति एवं उसका समाधान–बुद्धि आदि त्रिविंशतितत्त्व–प्रकृत्यादि तत्त्वों की व्यक्ता-व्यक्त अवस्था–व्यक्त एवं अव्यक्त में अभेद–षट्त्रिंशत्तत्त्वों का वर्गीकरण–द्वैत एवं अद्वैत दर्शनों में वर्गीकरण–कुछ और तत्त्वों का परिगणन–३८–५१।

चतुर्थ अध्याय

आत्मतत्त्व–आत्मा परमात्म-शिव से अभिन्न है–'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'तत्त्वमसि' का अर्थ–तत्त्वमसि वाक्य का अभिप्राय–परमात्म-शिव के आत्मत्व में कारण–आत्मा में क्षीणशक्ति की वर्तमानता में कारण–आत्मा और पंच कंचुक–आत्मा के अस्तित्व के लिये प्रमाण–परमात्म-शिव और जीव में अन्तर–आत्मा और शरीर–आत्मा का क्षणिक सम्बन्ध–मल मायादि पाश एवं आत्मा–आत्मा की मल के द्वारा आवृति–आत्मा और मल का संयोग–आत्मा का मल स्वाभाविक है–आत्मा की मलकृत विभिन्न श्रेणियाँ–ब्रह्मादि स्थावरान्त आत्मा हैं–आत्मा के विकास में उसके स्वभाव का महत्त्व–एक भिन्न दार्शनिक दृष्टिकोण–परमात्म-शिव ही पशुओं के पाशक और मोचक–कूर्मपुराण में आत्मा–शिवसूत्रविमर्शिनी एवं आत्मा–आत्मा के मलिन होने की बात अन्य दर्शनों में भी–५२–६७।

पंचम अध्याय

पाश–पाश के त्रिधा भेद–आणवमल–मायीयमल–कार्ममल–संसार का कारण मल ही है–त्रिविध मल के द्विविध भेद–कूर्म–पुराण में पाश–द्वैतदर्शन में पाश–शैवदर्शन और पाश–प्रत्यभिज्ञा और पाश।

मुक्ति–दर्शन का चरम लक्ष्य–शिवमहापुराण में द्विविध दर्शन–शिवमहापुराणस्थ अद्वैतदर्शन के अनुसार मुक्ति–मुक्त, पूर्ण पशुपति शिव ही हो जाता है–अद्वैत दर्शन के अनुसार पर एवं अपर मुक्ति–द्वैत-दर्शन के अनुसार पर एवं अपर मुक्ति–उक्त दोनों दर्शनों की मुक्ति विषयक तुलना–मुक्तिविषयक एक अन्य विवरण–सालोक्य मुक्ति–सान्निध्यमुक्ति–सारूप्य अथवा सार्ष्टि मुक्ति–सायुज्य मुक्ति–कैवल्य मुक्ति–इस पंचविध मुक्ति का द्विधा वर्गीकरण–द्वैतवादी शैवदर्शन में मुक्ति–अद्वैत दर्शन में मुक्ति–६८–७९।

षष्ठ अध्याय

दीक्षा की अनिवार्यता–शक्तिपात के हेतु साधना की आवश्यकता–शक्तिपात का क्रम अविवक्षित है–शक्तिपात की दुर्निवारता–शक्ति-पात का लक्षण एवं साधक के भेद–शिष्य एवं गुरु का परस्पर परीक्षण–शिष्य और गुरु शब्द की व्युत्पत्ति–गुरु का गौरव–गुरु का लक्षण एवं गुरुपरिवर्तन–शिष्यपरीक्षण–स्त्रियों एवं शूद्रों की दीक्षा–दीक्षा के त्रिविध भेद–शाम्भवी दीक्षा–शाक्तीदीक्षा, मान्त्री दीक्षा–द्विधा शब्दार्थभावना–शब्दात्मिका विभूति के त्रिधा भेद–परा शक्ति का षडध्व के रूप में विजृंभण–कलाध्वा तत्त्वाध्वा–भुवनाध्वा–वर्णाध्वा–पदाध्वा–मन्त्राध्वा–निखिल जगत् षडध्वमय है–षडध्व प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक है–षडध्व विशोधन–दीक्षा का महत्त्व एवं नामकरण–द्वैतदर्शन में शक्तिपात एवं दीक्षा कुछ शाब्दिक अन्तर–पांचरात्र आगम में षडध्व-विमर्श–८०–९४।

सप्तम अध्याय

योग–शैवधर्म के चार पाद–योग की परिभाषा–योग के प्रकार–अष्टांग एवं षडंग योग–प्राणायाम के द्विविध भेद–प्राणायाम के चार भेद–प्रस्वेद आदि आभ्यन्तर के उपलक्षक–अन्य वायु का विवरण–परमात्म-शिव का तत्तत्स्थानों में आसन एवं ध्यान–षट्चक्र–सविषय एवं निर्विषय ध्यान–ध्यान का महत्त्व–योगगत विघ्नों पर विजय आवश्यक है–सामान्य विघ्न–सिद्धिसूचक विघ्न–योग का अधिकारी पातंजल योग सूत्र से उक्त योग की तुलना–नादानुसन्धान–कालवंचन योग–तेज–ध्यान, वायु-पान, सुधापान–भक्तियोग–पौराणिक भक्ति का वैदिक उद्गम–शिवमहापुराण में भक्तियोग–भक्ति के द्विधा प्रकार–भक्ति के नव अंग–भक्ति के अंगों का लक्षण–भक्ति का महत्त्व–ज्ञान और भक्ति की परस्परापेक्षा–परमात्म-शिव के प्रसाद और भक्ति की परस्परापेक्षा–भक्ति की परिभाषा–९५–१२७।

अष्टम अध्याय

सर्ग–प्रतिसर्ग–नव सर्ग–प्रतिसर्ग–१२८–१३४।

उत्तरार्द्ध

प्रथम अध्याय

अवतार शब्द की व्युत्पत्ति–अवतार का प्रयोजन और समय–वैदिक साहित्य में अवतार के बीज–शिव के विभिन्न अवतार–अर्द्धनारीश्वरावतार–नन्दीश्वरावतार–वीरभद्रावतार–भैरवातार–गृहपत्यवतार–एकादश रुद्रावतार–दुर्वासावतार–पिप्पलादावतार–अश्वत्थामावतार–दश अवतार–योगावतार–१३५–१७० ।

द्वितीय अध्याय

महादेवी उमा–स्कन्द–विष्णु–मत्स्यावतार, कूर्मावतार, वाराहावतार, वामनावतार, नृसिंहावतार, परशुरामावतार, रामावतार, कृष्णावतार, बुद्धि एवं कल्कि अवतार –ब्रह्मा अथवा ब्रह्मदेव–१७१–२११ ।

तृतीय अध्याय

लिंगार्चन एवं लिंग का अर्थ तथा उसका विकास–द्वादश ज्योतिर्लिंग–सोमनाथ, मल्लिकार्जुन, महाकाल, अमरेश्वर (ओंकारेश्वर), केदारेश्वर, भीमशंकर, विश्वेश्वर, त्र्यम्बक, वैद्यनाथ, नागेश, रामेश्वर, घुश्मेश–अन्य लिंग–पूर्वा दिक्, दक्षिणा दिक्, पश्चिमा दिक्, उत्तरा दिक्–२१२–२४६ ।

चतुर्थ अध्याय

परमात्म-शिव की पूजा और उसका फल–लिंग एवं प्रतिमा–पूजन की वैदिक विधि–पार्थिवपूजन की संक्षिप्त वैदिक विधि–नाम-पूजा-विधि–रुद्राक्ष–भूति (भस्म)–मन्त्र –प्रणव एवं उसका अर्थ–प्रणव के भेद–मन्त्र-जप-विधि–नैवेद्य–व्रत–२४७–२७० ।

पंचम अध्याय

वर्णाश्रम धर्म की प्राचीनता–ब्राह्मणों का कर्तव्य–ब्राह्मणों के विभाग–क्षत्रियों (राजा) का कर्तव्य–युद्ध की प्रशंसा–वैश्यों का कर्तव्य–शूद्रों का कर्तव्य–सम्पूर्ण वर्णों के लिये कुछ सामान्य नियम–आश्रमधर्म का निरूपण–लोकाचार–आभिचारिक क्रियायें –२७१–२८५ ।

षष्ठ अध्याय

पौराणिक भूगोल एवं उसकी आधुनिक प्रामाणिकता–मेरु को केन्द्र मानकर पौराणिक भूगोल का वर्णन–जम्बूद्वीप के केन्द्र इलावृत वर्ष के मध्य में मेरु की स्थिति–द्वीपों के नाम–जम्बूद्वीप, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाकक एवं पुष्कर–जम्बूद्वीप के नव वर्ष–जम्बूद्वीप की नदियाँ–सप्तद्वीप-वर्णन–भूलोक–शिवमहापुराण की दृष्टि में ब्रह्माण्ड–२८६–३०३ ।

उपसंहार

शिवमहापुराण सांख्य, वेदान्त, तन्त्र एवं योग के सिद्धान्तों का समवाय है–सांख्यदर्शन–वेदान्त–तन्त्र–योग ३०७–३२५ ।

सारांश

(पूर्वार्द्ध)

प्रथम अध्याय

परमात्म-शिव

शिवमहापुराण के अनुसार महाप्रलय के समय, स्थावर-जंगम सभी के विनष्ट हो जाने पर, एकमात्र सद्ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। इसी को परंब्रह्म शिव भी कहा गया है। परंब्रह्म शिव में शक्ति की सत्ता अस्फुटावस्था में रहती है।

परंब्रह्म शिव से परमात्म-शिव का प्रादुर्भाव होता है। इनमें शक्ति सुस्फुट एवं कार्योन्मुख होकर वर्तमान रहती है। परमात्म-शिव ही जगत् के कर्त्ता माने गये हैं। परमात्म-शिव की शक्ति, जिसे पराशक्ति भी कहते हैं, स्वाभाविकी, एक एवं विश्व-विलक्षणा है। यह एक होते हुये भी भानु की अमल प्रभा की भाँति अनेक रूपों से प्रकाशित होती है।

परमात्म-शिव के पंचविध जागतिक कृत्य कहे गये हैं–सृष्टि, पालन, संहार, तिरोभाव एवं अनुग्रह।

परमात्म-शिव प्रत्येक काल एवं परिस्थिति में पूर्णतया निष्कलुष, निर्मल तथा बन्धनरहित बतलाये गये हैं। काल की परिधि से भी वे पूर्णतया रहित हैं।

इस जगत् का निर्माण स्वतंत्र परमात्म-शिव की इच्छामात्र से होता है। यह समग्र संसार परमात्म-शिव के स्वरूप का विस्तार ही है। ये ही पशुओं को पाशों से आबद्ध करते हैं। संसार का प्रत्येक कार्य इनको इच्छाशक्ति का विलास है।

सांख्य का भी प्रकृति–पुरुष विषयक सिद्धान्त सशक्तिक शिव (परमात्व-शिव) के वर्णन से मिलता-जुलता है। कूर्मपुराण, प्रत्यभिज्ञादर्शन तथा सिद्धान्त शैव-दर्शन भी अन्तिम सत्ता के इस वर्णन में, आंशिक रूप से, शिवमहापुराण से साम्य रखते हैं।

द्वितीय अध्याय

शक्तितत्त्व

शक्तितत्त्व का प्रादुर्भाव परमात्म-शिव से बतलाया गया है। वस्तुतः परमात्म-शिव एवं शक्ति में कुछ भी भेद नहीं है। शक्ति के बिना शिव शवमात्र हैं। परमात्म-शिव के जगत् के रूप में प्रकाशित होने में मूल-कारण शक्ति ही है। इस शक्ति को एक, परा, कला, चिन्मयी और शिव-संश्रया आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

परमात्म-शिव से अभिन्न होने के कारण यह शक्ति उनकी समान-धर्मिणी कही गई है। परमात्म-शिव के तत्तद्भाव इसमें भी वर्तमान रहते हैं। इसको संसार की निर्माणकर्त्री कहा जाता है। शक्ति शुद्धाध्वा का उपादान कारण मानी गई है।

शक्ति, जिसे परा प्रकृति भी कहा जाता है, का द्विधा परिणाम होता है :—शब्दभावना एवं अर्थभावना, अर्थात् शक्ति शब्द एवं अर्थ के रूप में परिणमित होती है। इसे पशुओं की पाशविच्छेदिका भी कहा गया है।

कूर्मपुराण एवं द्वैताद्वैतवादी शैवदर्शन भी शक्ति के वर्णन में शिव-महापुराण से बहुलांश में साम्य रखते हैं।

तृतीय अध्याय

तत्त्व

शक्ति से सदाशिव तत्त्व की उत्पत्ति बतलाई गई है। संसार का प्रारम्भ सदाशिव तत्त्व से माना जाता है। सदाशिव तत्त्व से ईश्वर तत्त्व का प्रकाशन होता है। यह वायु का अधिपति कहा गया है। इसकी शक्ति का नाम माया है। ईश्वरतत्त्व से शुद्ध-विद्या तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। इस तत्त्व से संबद्ध प्राणी सर्वज्ञ हुआ करते हैं। शुद्धविद्या के अनन्तर मायातत्त्व को परिगणित किया जाता है। इसे ईश्वर तत्त्व की शक्ति कहा गया है। माया से द्विधा–पंचकंचुक एवं प्रकृति की–सृष्टि होती है।

जब परमात्म-शिव अपने आपको माया का विषय बनाते हुये पंचकंचुक को धारण करते हैं तब उन्हें पुरुष (पशु) कहा जाता है। प्रकृति त्रिगुणात्मक एवं माया का कार्य कही गई है। प्रकृति से त्रिगुण की उत्पत्ति होती है। बुद्धि एवं अहंकार के प्रादुर्भाव के विषय में शिवमहापुराण दो मत—एक संख्यानुसारी दूसरा स्वतन्त्र—रखता है। शेष तत्त्वों का वर्णन सांख्य की ही भांति किया गया है।

पूर्वोक्त षट्त्रिंशत्तत्त्वों को तीन विभागों—शुद्ध, शुद्धाशुद्ध एवं अशुद्ध—में विभक्त किया जाता है। इन तत्त्वों के अतिरिक्त शिवमहापुराण में कुछ और तत्त्वों का नाम निर्देश है, जिन्हें मिलाकर तत्त्व-संख्या ५१ तक पहुंच जाती है।

चतुर्थ अध्याय

आत्म-तत्त्व

आत्मा (पशु, पुरुष) परमात्म-शिव से अभिन्न है। जब परमात्म-शिव अपने रूप को माया से संकुचित कर पदार्थों के ग्राहक होते हैं तब उन्हें आत्मा पुरुष) कहा जाता है। माया से मुग्ध आत्मा अपने को शिव से भिन्न मानता है और जब गुरु के द्वारा अपने स्वरूप के विषय में समझा दिया जाता है तब साक्षात् चिद्घन परमात्म-शिव ही हो जाता है।

ब्रह्मादि स्थावरान्त सभी आत्मा (पशु) ईश्वरीय लीला के साधन कहे गये हैं। अपने सुख एवं दुःख के विषय में अनीश आत्मा परमात्म-शिव की प्रेरणा से स्वर्ग अथवा नरक में जाता है।

परमात्म-शिव की प्रेरणा सब पर समान होने पर भी सभी आत्मा एक साथ विकास को नहीं प्राप्त होते, वे अपने अपने स्वभाव के अनुरूप ही, विकास की ओर अग्रसर होते हैं। इस बात को समझाने के लिये सूर्य और कमल का दृष्टान्त दिया जाता है। आत्मा की अपवित्रता (मल) स्वाभाविक है, न कि आगन्तुक।

स्मरणीय है कि पूर्ववायवीय संहिता की अपेक्षा उत्तरवायवीय संहिता में एक भिन्न ही दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाया गया है। प्रथम में आत्मा के स्वभाव की प्रबलता बतलाई गई है तो दूसरे में ईश्वरेच्छा की।

सभी आत्मा में आत्मत्व की समानता रहने पर भी उनमें मल के कारण परस्पर भिन्नता (उत्तरता एवं अधरता) का व्यवहार किया जाता है।

पंचम अध्याय

पाश (बन्धन) और मुक्ति

यह पाश (मल, बन्धन) की ही प्रभुता है कि निरंजन आत्मा अपने को देहादि मानता हुआ संसरण करता है। पाश (मल) प्रधानतया त्रिधा होता है :—आणव, मायीय एवं कार्म। संसार का कारण मल (पाश) ही है। उक्त त्रिविध मल अथवा पाश 'आम' एवं 'पक्व' भेद से द्विधा होते हैं।

शिवमहापुराण में द्विविध शैवदर्शन—अद्वैत एवं द्वैत—का वर्णन किया गया है। अद्वैत दर्शन के अनुसार मुक्ति द्विविध होती है—पर एवं अपर। परमुक्ति की अवस्था में आत्मा पूर्ण परमात्म-शिव ही हो जाता है और अपरमुक्ति की अवस्था में उसका ऊपर के लोकों के लिये अभ्युदय होता है। द्वैतदर्शन के अनुसार भी मुक्ति के दो ही भेद होते हैं :—पर एवं अपर। शिवसाधर्म्य को परमुक्ति कहते हैं। ऊपर के लोकों की प्राप्ति ही अपरमुक्ति है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार मुक्ति के पाँच भेद माने गये हैं :—१. सालोक्यमुक्ति, २. सान्निध्यमुक्ति, ३. सारूप्य अथवा सार्ष्टि मुक्ति, ४. सायुज्य मुक्ति, ५. कैवल्य मुक्ति। मुक्ति के ये पंचविध भेद भी पर एवं अपर दो विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं।

षष्ठ अध्याय

शक्तिपात एवं दीक्षा

शैवसम्प्रदाय के अनुसार दीक्षा के बिना मुक्ति असम्भव है। षडध्व की व्याप्ति का परिज्ञान रूप जो संस्कार है, उसे ही दीक्षा कहते हैं। किन्तु इस दीक्षा के लिये साधक में शक्तिपात (परमात्म-शिव का अनुग्रह) का होना आवश्यक है। जिस व्यक्ति में शक्ति-

पात नहीं हुआ रहता उसकी शुद्धि नहीं होती। प्रबोध तथा आनन्द का सम्भव ही शक्तिपात का लक्षण है। अन्तःकरण का यह विलक्षण विकार, शारीरिक कम्प आदि के द्वारा जाना जाता है। इन भावों की मन्दता, मध्यता एवं तीव्रता से साधकों के भी मन्द, मध्य एवं उत्तम तीन वर्ग बन जाते हैं। शूद्र, पतित एवं शंकर जातियों की दीक्षा नहीं होती। दीक्षा के त्रिविध भेद होते हैं:-शाम्भवी दीक्षा, शाक्ती दीक्षा एवं मान्त्री दीक्षा।

मान्त्री दीक्षा का प्रमुख अंग है षडध्व-प्रक्रिया। षडध्व के अन्तर्गत तीन शब्दाध्वा एवं तीन अर्थाध्वा आते हैं। शब्दाध्वा के अन्तर्गत वर्णाध्वा, पदाध्वा एवं मन्त्राध्वा आते हैं। अर्थाध्वा के अन्तर्गत कलाध्वा, तत्वाध्वा तथा भुवनाध्वा परिगणित होते हैं। परमात्म-शिव की पराशक्ति ही विभाग-स्वरूपा हो षडध्व के रूप में विजृम्भित होती है।

सप्तम अध्याय

योग

आत्मदर्शन के अभिलाषियों के लिए योग एक महान् साधन है। अन्तःकरण की वृत्तियों को एकमात्र शिव में लगाने की जो क्रिया है, उसी को योग कहते हैं।

योग पांच प्रकार का होता है—मन्त्रयोग, स्पर्शयोग, भावयोग, अभावयोग एवं महायोग। योग का एक अन्य भी वर्गीकरण है जिसके अनुसार यह त्रिधा होता है:—ज्ञानयोग, क्रियायोग, तथा भक्तियोग। ज्ञानयोग सर्वोत्तम माना गया है।

योग (ज्ञानयोग) अष्टांग एवं षडंग होता है। योग को नष्ट करने वाले बहुत से उपसर्ग कहे गये हैं, जिन्हें जीतना योगी के लिए आवश्यक है।

योगी शरीर के विभिन्न स्थानों में वर्तमान जिन षट् कमलासनों पर शिव का ध्यान करता है, उनके क्रमिक नाम इस प्रकार हैं:—१. मूलाधार, २. स्वाधिष्ठान, ३. मणिपूरक, ४. अनाहत, ५. विशुद्ध और ६. आज्ञाचक्र। ध्यान द्विधा होता है—सविषय अथवा सबीज और निर्विषय अथवा निर्बीज। वस्तुतः निर्विषय ध्यान होता ही नहीं।

इसके अतिरिक्त शिवमहापुराण में नादानुसंधान, वायुजयप्रक्रिया, तेजोध्यान, वायुपान एवं सुधापान आदि यौगिक प्रक्रियाओं का भी वर्णन है।

भक्तियोग के बीज वैदिक-वाङ्मय में ही उपलब्ध होते हैं। अतः इसे ईसाई धर्म की देन नहीं कहा जा सकता। भक्ति प्रथमतः द्विधा होती है—सगुणा और निर्गुणा। यह द्विधा भक्ति नैष्ठिकी और अनैष्ठिकी भेद से दो-दो प्रकार की होती है। नैष्ठिकी भक्ति षट् प्रकार की और अनैष्ठिकी भक्ति एक प्रकार की होती है।

सगुणा और निर्गुणा भक्ति के नव अङ्ग हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवन, दास्य, अर्चन, वन्दन, सख्य और आत्मसमर्पण। मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक भेद से भक्ति त्रिधा होती है।

अष्टम अध्याय

सर्ग-प्रतिसर्ग

सर्ग

पुराण के पंचलक्षण में सर्ग प्रथम तथा मुख्य लक्षण है। सर्ग मुख्यतया त्रिध। होते हैं :—प्राकृत सर्ग, वैकृत सर्ग तथा प्राकृत-वैकृत सर्ग। प्राकृत सर्ग तीन प्रकार का, वैकृतसर्ग पाँच प्रकार का तथा प्राकृत-वैकृत सर्ग एक प्रकार का होता है। इसके अतिरिक्त शिवमहापुराण में मानसी सृष्टि तथा रौद्री सृष्टि का भी वर्णन मिलता है।

प्रतिसर्ग

परार्द्ध की समाप्ति पर प्रतिसर्ग हुआ करते हैं। ब्रह्मा के एक दिन को कल्प अथवा परार्द्ध कहते हैं।

(उत्तरार्द्ध)

प्रथम अध्याय

शिव के अवतार

'अवतार' शब्द की व्युत्पत्ति 'अव' उपसर्गपूर्वक 'तृ' धातु से 'घ' प्रत्यय करके निष्पन्न होती है। 'अवतार' शब्द का अर्थ है किसी उच्च स्थान से नीचे के स्थल पर उतरने की क्रिया। 'अवतार' की बात किसी अलौकिक शक्ति से सम्पन्न सत्ता के लिए ही उपयुक्त मानी गई है। अलौकिक शक्ति-विशिष्ट किसी सत्ता का अवतार प्राधान्येन धर्म एवं भक्त की रक्षा के लिए हुआ करता है। शिवमहापुराण में परमात्म-शिव के प्रायः इसी प्रकार के अवतार वर्णित हैं।

अवतार के बीज वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। विभिन्न अवसरों पर परमात्म-शिव के विभिन्न अवतार हुए हैं। इन अवतारों में अर्द्धनारीश्वरावतार, नन्दीश्वरावतार, वीरभद्रावतार, भैरवावतार, गृहपत्यवतार, एकादशरुद्रावतार, दुर्वासावतार, पिप्लादावतार, अश्वत्थामावतार, दशावतार तथा अष्टाविंशति योगावतार प्रसिद्ध हैं।

द्वितीय अध्याय

अन्य देवगण

(महादेवी उमा)

शिवमहापुराण के अनुसार परा शक्ति ही सती के रूप में अवतीर्ण हुई थी। यह सती अर्थात् परमात्म-शिव की शक्ति ही पुनः उमा (पार्वती) के रूप में प्रादुर्भूत हुई। अतः सती एवं पार्वती—दोनों ही—पराशक्ति के रूप हैं।

परमात्म-शिव एवं उमा का भेद उपचरित ही है। वस्तुतः वे दोनों ही अभिन्न हैं। पौराणिक सौम्य-शिव के मूल में घोर वैदिक रुद्र की कल्पना की भाँति उमा का मूल पुराण से बाहर अन्विष्ट करना पड़ेगा और उनका यह रूप भी घोर ही होगा।

प्रारम्भ में उमा की पूजा शिव की सहचरी के रूप में होती थी, किन्तु कालान्तर में इसने स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया। उमा की पूजा के दो रूप हैं—सात्त्विक एवं असात्त्विक।

(स्कन्द)

स्कन्द का जन्म तारक असुर से पीडित त्रिलोकी की रक्षा के लिये शिव के वीर्य से हुआ था। स्कन्द अपने माता-पिता पर रुष्ट होकर क्रौंच पर्वत पर चले गये थे। शिव एवं उमा से उनके इस सम्बन्ध विच्छेद का प्रभाव उनकी पूजा पर भी पड़ा। इनके जन्म की कथा विविध ग्रन्थों में वर्णित है।

(गणपति)

पार्वती ने अपने शरीर की मैल से एक चेतन पुरुष का निर्माण कर अपना द्वार-पाल बना दिया। परमात्म-शिव के प्रवेश को निषिद्ध करने पर उस पुरुष के साथ देवों एवं शिव का भीषण संग्राम हुआ, जिसके फलस्वरूप द्वारपाल का शिर शिव ने काट डाला। बाद में पार्वती को प्रसन्नता के लिये हस्ती के शिर को जोड़वा कर भगवान् शिव ने उसे जीवित कर दिया।

यद्यपि गणेश मंगलकारी देव के रूप में ही शिवमहापुराण में चित्रित किये गये हैं, तथापि इसमें उनके विघ्नकारी रूप को खोज निकालना असंभव नहीं है।

(विष्णु)

आज की भांति ऋग्वैदिक काल में भी विष्णु प्रसिद्धतम देवता थे। इनके विश्राम करने के स्थान का नाम क्षीरसागर एवं निवास करने के स्थान का नाम गोलोक है।

धर्म एवं भक्तों की रक्षा के हेतु इनके विभिन्न अवतार हुये हैं, जिनमें मत्स्य आदि दशावतार प्रसिद्ध हैं। इन अवतारों में अधिकांश का मूल-स्रोत वैदिक वाङ्मय में पाया जाता है।

ब्रह्मा अथवा ब्रह्मदेव

वैदिक साहित्य के प्रजापति ही पौराणिक ब्रह्मा के मूल आधार हैं। इस देश में इनके नाम पर कोई भी सम्प्रदाय खड़ा न हो सका। इनके मन्दिर भी बहुत ही कम बने हैं। लोक में इनकी पूजा प्रायः नहीं के बराबर होती है। ब्रह्मा की इस दुःस्थिति का कारण है—विष्णु के साथ इनकी प्रतिद्वन्द्विता।

तृतीय अध्याय

लिंग

माहेश्वर लिंग की अर्चना अतिप्राचीन काल से जगद्व्यापक रही है। ख्रीष्टीय धर्म के प्रचार के पूर्व पाश्चात्य देशों की प्रायः सभी जातियों में किसी न किसी रूप में

लिंगपूजा सर्वत्र प्रचलित रही है। भारतवर्ष तो लिंग-पूजा के लिये सर्वदा प्रसिद्ध रहा है। मोहंजोदरो एवं हरप्पा के उत्खनन में अनेक लिंगों के प्रादुर्भाव से भारत में लिंगपूजा की अति प्राचीनता प्रमाणित होती है। रामायण एवं महाभारत जैसे प्राचीन ग्रन्थों में लिंगार्चन की चर्चा पायी जाती है।

जो लोग शिव-लिंग को शिव जी का लिंग Phallus समझते हैं उनकी धारणा निराधार एवं भ्रमात्मक है। शिवलिंग तो शिव जी की निराकारता का बोधक चिह्न है।

भारत के विभिन्न भागों में पूजित होने वाले शिव के बहुत से प्रसिद्ध लिंग हैं, जिनमें द्वादश ज्योतिर्लिंग सर्वाधिक प्रसिद्ध माने गये हैं। नेपाल के पशुपतीश नामक लिंग की भी गणना प्रसिद्धतम लिंगों में की जाती है।

चतुर्थ अध्याय

पूजा

शिव के पार्थिव पूजन का महत्त्व सर्वातिशायी है। शिवलिंगपूजन की वैदिक विधि के साथ ही शिवमहापुराण में एक अन्य प्रकार की पूजा का भी वर्णन है, जो अपेक्षाकृत सामान्य व्यक्तियों के लिये विशेष उपयोगी है। इसे नाम-पूजा-पद्धति कहा जा सकता है। यह अवैदिक व्यक्तियों (शूद्र आदि) के लिये ही निर्दिष्ट की गयी होगी।

परमात्म-शिव की पूजा के अवसर पर प्रयुक्त रुद्राक्ष, भूति (भस्म) मन्त्र आदि का भी अपना-अपना विशेष महत्त्व है। शिवनैवेद्य भी पापनाशक कहा गया है। शैवव्रतों में सर्वोत्कृष्ट व्रत है 'शिवरात्रि व्रत'।

पंचम अध्याय

वर्णाश्रम धर्म, लोकाचार एवं आभिचारिक क्रियायें

शिवमहापुराण ने सभी वर्णों एवं आश्रमों के धर्म का भी पर्याप्त विवरण दिया है। पुराणकाल में ब्राह्मणों की उत्कृष्टता निर्विवाद थी। क्षत्रियों के लिये प्रजापालन विशेष महत्त्वशाली समझा जाता था। युद्ध को धर्म का आवरण देकर उसकी लोकप्रियता बढ़ा दी गई थी। वैश्यजन सुदूर प्रदेशों से भी व्यापार किया करते थे। शूद्र का प्रधान धर्म त्रिवर्ण की सेवा करना ही माना जाता था। संक्षेप में वर्ण एवं आश्रम की वही व्याख्या एवं धर्म था, जिसे वैदिक काल में मान्यता मिल चुकी थी।

लोकाचार का भी धर्म की ही भांति पालन होता था और आभिचारिक क्रियायें भी अपनी पूर्ण प्रौढता पर थीं। इनका आचरण मानव अपने उद्देश्यपूर्ति के लिये किया करते थे।

षष्ठ अध्याय

भूगोल

शिवमहापुराण की उमासंहिता में वर्णित समस्त संसार एवं भारतवर्ष का भूगोल एक सारवान् विषय है। मेरु को केन्द्र मानकर पौराणिक भूगोल का वर्णन किया गया है। मेरु से महाद्वीपों की स्थिति संकेतित की गई है। महाद्वीपों की संख्या सात बतलाई गई है। इनके नाम हैं—जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलि द्वीप, कुश द्वीप, क्रौंच द्वीप, शाकक द्वीप एवं पुष्कर द्वीप।

जम्बूद्वीप में नव वर्षों की स्थिति बतलाई गई है जिनमें भारतवर्ष अन्यतम है।

प्रत्येक द्वीप के वर्ष पर्वत एवं नदियों का भी वर्णन किया गया है। एक-एक द्वीप एक-एक सागर से आवृत बतलाये गये हैं।

इसके अतिरिक्त चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड का भी वर्णन किया गया है, जिसमें पृथिवी को केन्द्र मानकर षट्लोक उसके ऊपर एवं सप्तलोक उसके नीचे बतलाये गये हैं।

चतुर्दश भुवनों के अतिरिक्त वैकुण्ठ, कौमार आदि और पांच लोकों का भी वर्णन मिलता है।

उपसंहार

शिवमहापुराण सांख्य, वेदान्त, तन्त्र एवं योग का एक समवाय है। यह इनकी दार्शनिक पद्धति को आत्मसात् करके अपने दृष्टिकोण के अनुसार उसकी व्याख्या प्रस्तुत करता है।

सांख्यदर्शन के पंचविंशति तत्त्व शिवमहापुराण में अविकल रूप से वर्णित हैं। वेदान्त तो इस पुराण के दार्शनिक दृष्टिकोण का आधार है। कहीं कहीं तो यह औपनिषदिक ब्रह्म को परमात्म-शिव के रूप में वर्णित करने के लिये उपनिषदों के अध्यायों को ही अविकलरूप से उद्धृत कर देता है। शांकर वेदान्त का भी इस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। रामानुज के अनुयायियों की इसमें कटु आलोचना की गई है।

शिवमहापुराण के कतिपय अध्याय केवल तान्त्रिक बातों का ही वर्णन करते हैं, यथा—दीक्षा आदि।

इस पुराण की परिसमाप्ति यौगिक वर्णन के साथ होती है। यह यौगिक वर्णन पातंजल के योगसूत्र से पर्याप्त प्रभावित है।

इतना होते हुये भी इस महापुराण की अपनी उपलब्धि कम नहीं है।

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं इतिहास के सम्यक् ज्ञान के लिये पुराणों का गहन अध्ययन परमावश्यक है। पुराण भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के मेरुदण्ड हैं। इनके गम्भीर अध्ययन के बिना भारत के अतीत का ज्ञान अपूर्ण ही रह जाता है। भारतीय इतिहास की सच्ची जानकारी पुराणों की सहायता के बिना दुर्लभ है। पुराणों की सत्ता उतनी ही प्राचीन है जितनी कि भारतीय संस्कृति की।

(१) पुराण शब्द की निष्पत्ति :—

आचार्य यास्क के निरुक्त (३, १९) के अनुसार 'पुराण' की व्युत्पत्ति है- 'पुरा नवं भवति' (अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नवीन होता है)। नवीन इस अर्थ में कि पुराण में समय को गति के साथ नवीन बातों का भी समावेश होता चलता था। वह अत्यन्त पुरातन काल से अपने समय तक का सारा इतिहास अपने भीतर संजोये रहता था। वह एक लम्बी अवधि का विश्व-कोष होता था।

महावैयाकरण पाणिनि के अनुसार पुराण शब्द की निष्पत्ति 'पुरा भवं' (प्राचीन समय में होने वाला) इस अर्थ में 'सायं चिरं प्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युटुलौ तुट् च' (पाणिनिसूत्र ४, ३, २३) इस सूत्र से 'पुरा' शब्द से 'ट्यु' प्रत्यय करने एवं 'तुट्' के आगम होने पर 'पुरातन' शब्द बनता है। किन्तु स्वयं महर्षि 'पाणिनि' ने ही अपने दो सूत्रों—'पूर्वकालैक-सर्व-जरत्-पुराण नव-केवलाः समानाधिकरणेन' (२, १, ४९) तथा 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (४, ३, १०५)-में पुराण शब्द का प्रयोग किया है, जिससे 'तुट्' के आगम का अभाव निपातनात् सिद्ध होता है। इस प्रकार महर्षि पाणिनि के अनुसार 'पुरा' शब्द से 'ट्यु' प्रत्यय अवश्य होता है किन्तु 'तुट्' का आगम' जो नियम प्राप्त है, नहीं होता। पाणिनीयव्याकरण की इस व्युत्पत्ति से पुराण-साहित्य की ऐतिहासिकता सूचित होती है। पुराण इस देश के इतिहास समझे जाते थे।

इसके अतिरिक्त स्वयं पुराणों में भी 'पुराण' की व्युत्पत्ति की गई है। वायुपुराण[1] के अनुसार पुराण की व्युत्पत्ति है—'पुरा अनति' अर्थात्

---

१. यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ वायु० १, २०३।

प्राचीन समय में जो जीवित था। पद्मपुराण[२] में इसकी व्युत्पत्ति कुछ भिन्न है—'पुरा परम्परां वष्टि कामयते' अर्थात् जो परम्परा की कामना करता है, वह पुराण कहा जाता है। इन सबसे भिन्न और अधिक तर्कसम्मत व्युत्पत्ति ब्रह्माण्डपुराण उपस्थित करता है:—'पुरा एतत् अभूत्' अर्थात् 'प्राचीन काल में ऐसा हुआ था[३]'।

इन सभी व्युत्पत्तियों से यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जाती है कि पुराण का प्रतिपाद्य विषय अतीत काल की घटनायें एवं बातें थीं। यही कारण है कि पुराण का नामोल्लेख प्राचीन बातों का वर्णन करने वाले इतिहास के साथ-साथ हुआ करता था[४]। पुराण पौराणिक कल्पित बातों के साथ ही अतीत की सच्ची घटनाओं के प्रस्तावक भी समझे जाते थे।

(२) पुराणों की प्राचीनता

ऋग्वेद की कई ऋचाओं में 'पुराण' शब्द का उल्लेख मिलता है[५], किन्तु वहाँ यह शब्द एकमात्र प्राचीनता का ही बोधक है। ऋग्वेद में ऐसा एक भी स्थल नहीं है, जिसके आधार पर ऋग्वैदिक काल में पुराणों की सत्ता निर्विवाद रूप से स्वीकृत की जाय।

अथर्ववेद में 'पुराण' शब्द इतिहास, गाथा तथा नाराशंसी शब्दों के साथ प्रयुक्त मिलता है[६]। निश्चय ही यहां प्रयुक्त 'पुराण' शब्द एक विशिष्ट विद्या का बोधक है। अथर्ववेद के अनुसार—ऋक्, साम, छन्द (अथर्व) और यजुर्वेद के साथ ही पुराण भी उस उच्छिष्ट से (यज्ञ के अवशेष अथवा परमात्मा से) प्रादुर्भूत हुये हैं जिससे कि देवों की उत्पत्ति बतलाई गई है[७]।

(३) ब्राह्मण साहित्य में पुराण

वैदिक काल में ही पल्लवित पौराणिक वाङ्मय ब्राह्मण युग में विकसित तथा लोकप्रिय हो चुका था। शतपथ तथा गोपथ ब्राह्मणों में 'पुराण' का

---

२. पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम् ॥ पद्म० ५, २, ५३।

३. यस्मात् पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्। ब्रह्माण्ड० १, १, १७३।

४. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम् ॥ छान्दोग्य० ७, १, २।

५. ऋग्वेद, ५, ५४, ६; ३, ५८, ६; १०, १३०, ६।

६. तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च स वै पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति, य एवं वेद। अथर्व० १५ काण्ड, १ अनुवाक, ६ सूक्त, ११–१२।

७. ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिता ॥ अथर्व०, ११, ७, २४।

बहुश: उल्लेख किया गया है। गोपथ ब्राह्मण का कथन है कि कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, अन्वाख्यात तथा पुराण के साथ सभी वेद निर्मित हुये। यहाँ इतिहास पुराण का सम्बन्ध वेद से स्थापित किया गया है[८]।

शतपथ ब्राह्मण में अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, गाथा तथा नाराशंसी के साथ इतिहास–पुराण के स्वाध्याय का विधान किया गया है[९]। उस समय भी वैदिक वाङ्मय में इतिहास-पुराण का विशिष्ट स्थान माना जाता था[१०]।

(४) आरण्यक तथा उपनिषद्‌ में पुराण

आरण्यक तथा उपनिषद् ब्राह्मणों के ही अन्तिम भाग हैं। इनके अनुशीलन से प्रतीत होता है कि उस युग में इतिहास-पुराण पूर्वापेक्षा अधिक जनप्रिय तथा प्रचलित हो चुके थे। वेदों की भाँति पुराणों को भी ईश्वर का निःश्वसित माना जाता था[११]। यह उनकी महत्ता को ही सूचित करता है। तैत्तिरीय आरण्यक (२ प्रपाठक, ९ अनुवाक); बृहदारण्यक उपनिषद् (२, ४, ११); छान्दोग्य उपनिषद्[१२] आदि में इतिहास पुराण का उल्लेख बहुधा हुआ है।

(५) सूत्रग्रन्थों में पुराण

पूर्वकाल से ही प्रवहमान होने वाली पुराण गंगा सूत्र ग्रन्थों के काल तक अत्यधिक विस्तृत हो चुकी थी। इस प्रकार तो सूत्र ग्रन्थों में पुराण विषयक चर्चा समुपलब्ध ही है,[१३] किन्तु 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' (२, ९, २३, ३-६) में

---

८. एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः सपुराणाः। गोपथ०, पूर्वभाग, २, १०।

९. य एवं विद्वान् अनुशासनानि विद्यावाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथानाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीयते ।। शतपथ० ११, ५, ६, ८।

१०. ऋग्वेदो यजुर्वेदो सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि वाचेव सम्राट् प्रजायते। वही १४, ६, १०, ६।

११. एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद्दग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणम्। बृह० उप २,४,११।

१२. (क) नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पंचमो वेदनां वेदः। छान्दोग्य० उप० ७,१,४।

(ख) वाग्वा नाम्नी भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति, यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमम्। वही० ७,२,१।

१३. देखिये– आश्व. गृह्य. सू. अ. ३, खण्ड४, एवं अ.४, खण्ड ६।

किसी पुराण के दो श्लोक उधृत किये गये हैं[१४] और 'भविष्यत् पुराण' का स्पष्ट ही नामोल्लेख हुआ है[१५]।

(६) पुराण और रामायण, महाभारत तथा अन्य वाङ्मय

रामायण में पुराण का नामोल्लेखमात्र मिलता है[१६], किन्तु महाभारत के अनुशीलन से परिज्ञात होता है कि उस समय तक पुराण न केवल सामान्य रूप से प्रचलित थे अपितु उनकी कथाओं की शरीर-रचना तथा अष्टादश संख्या निर्धारित हो चुकी थी[१७]। महाभारत के अनुसार पुराणरूपी पूर्ण चन्द्रमा के द्वारा श्रुतिरूपी चन्द्रिका छिटकी हुई है अर्थात् पुराण श्रुति के अर्थ का ही उपबृंहण करते हैं[१८]।

महाभारत के बाद में रचित वाङ्मय-अर्थशास्त्र तथा स्मृति आदि-में क्रमशः पुराणों का स्वरूप अधिक स्पष्ट तथा विशद रूप से प्रतिपादित हुआ है। उस समय तक पुराण सामान्य जनता के भी श्रद्धाभाजन हो चुके थे। उनकी इस महत्ता का परिचय उनके बारम्बार उद्धरण से मिलता है। शनैः-शनैः वृद्धि की ओर उन्मुख पुराण अवान्तर काल में पूर्ण रूप से जन-मानस में छा गये। उनकी यह स्थिति आज भी, प्रायः सर्वत्र, देखी जा सकती है।

यद्यपि पुराण-वाङ्मय अत्यधिक प्राचीन है, किन्तु उसका वर्तमान स्वरूप पूर्णरूप से न तो अत्यधिक प्राचीन है और न एक काल तथा एक कर्त्ता की ही कृति है। समयानुसार पुराणों में परिवर्तन एवं परिवर्धन बराबर होता चला आया है। पुराण सामयिक परिवर्तनों को आत्मसात् करने से विमुख

---

१४. अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजामीडिरर्षयः।
दक्षिणेनार्यम्णः पंथानं ते श्मशानानि भेजिरे॥
अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजां नेषिरर्षयः।
उत्तरेणार्यम्णः पन्थानं तेऽमृतत्वं हि भेजिरे॥ आप० धर्म० सू० २,६,२३,३-६।

१५. आभूत-संप्लवास्ते स्वर्गजितः पुनः सर्गे बीजार्था भवन्तीति भविष्यत्पुराणे। आप० ध० सू० २,६,२४,६। इस तरह की विशेष बातों के लिये देखिये पुराणविमर्श।

१६. इत्युक्त्वा तु रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत्।
श्रूयतां यत्पुरावृत्तं पुराणेषु यथाश्रुतम्॥ बाल० ६,१।

१७. अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवती सुतः।
पश्चाद् भारतमाख्यानं चक्रे तदुपबृंहितम्॥ आदि पर्व।

१८. पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्ना प्रकाशिता। आदि पर्व, १,८६।

नहीं होता। कुमारिका खण्ड (४०/१९८) का स्पष्ट कथन है कि—इतिहास और पुराण लोक में घटित महत्त्वपूर्ण वृत्तान्तों के कारण परिवर्धित होते रहते हैं—'इतिहासपुराणानि भिद्यन्ते लोकगौरवात्।' महर्षि वात्स्यायन अपने न्यायभाष्य (४, १, ६१) में लोक-वृत्तान्त को ही इतिहास तथा पुराण का विषय स्वीकार करते हैं—'लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य विषयः।'

(७) अष्टा दश महापुराण

शिवमहापुराण के अनुसार महापुराणों की संख्या अष्टादश है[१९]। इनके नाम इस प्रकार हैं:—१. ब्रह्म, २. पद्म, ३. विष्णु, ४. शिव, ५. भागवत, ६. भविष्य, ७. नारद, मार्कण्डेय, ९. अग्नि, १०. ब्रह्मवैवर्त ११. लिङ्ग, १२, वाराह, १३. स्कन्द, १४. वामन, १५. कूर्म, १६. मत्स्य, १७. गरुण, १८. ब्रह्माण्ड।[२०]

अधिकांश महापुराणों में पुराणों की यही नामावली दी गई है[२१]। किन्तु कुछ महापुराणों में शिवमहापुराण के स्थान पर, चतुर्थ महापुराण के रूप में, वायुपुराण का नामोल्लेख मिलता है[२२]। ऐसी अवस्था में किस महापुराण को चतुर्थमहापुराण के रूप में गिना जाय यह आशंका उठनी स्वाभाविक है।

(८) शिवपुराण की महापुराणता

ऐसी अवस्था में पुराणों के बहुमत, पुराणों के व्याख्याकार एवं परम्परा के आधार पर ही निर्णय करना संभव एवं न्यायसंगत प्रतीत होता है। जैसा कि पहले निर्देश किया गया है, दो-तीन पुराणों को छोड़ कर स्पष्ट ही अधिकांश महापुराण चतुर्थ महापुराण के रूप में शिवपुराण की गणना करते हैं। पुराणों के इस बहुमत को कथमपि भ्रामक नहीं सिद्ध किया जा सकता।

---

१९. दशधा चाष्टधा चैतपुराणमुपदिश्यते। शिव० ७,१,१,४२।

२०. ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा।
भविष्यं नारदीयं च मार्कण्डेयमतः परम्॥
आग्नेयं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गं वाराहमेव च।
स्कान्दं च वामनं चैव कौर्मं मात्स्यं च गारुडम्॥
ब्रह्माण्डं चेति पुण्योऽयं पुराणानामनुक्रमः। शिव० ७,१,१,४३-४५ तथा ५,४४, ११९-१२२।

२१. देखिये- विष्णु० ३,६,२०-२४ तथा भागवत १२,१३,३-८; पद्म० उत्तरखण्ड, २६१,८१-८४, आदि।

२२. देखिये- देवीभाग० १,३; मत्स्य० ५३ अ०।

पुराण अतीत की एक लम्बी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी संमति सुदीर्घ परम्परा की अभिव्यञ्जिका है। अतः उनका बहुमत प्रामाणिक एवं आदरणीय है।

भागत के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधर स्वामी भागवत की टीका (१,१,४) में 'तथा च वायवीये' कह कर ये साढ़े तीन श्लोक उधृत करते हैं :—

एतन्मनोमयं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते।
यत्रास्य शीर्यते नेमिः स देशस्तपसः शुभः॥
इत्युक्त्वा सूर्यसंकाशं चक्रं सृष्ट्वा मनोमयम्।
प्रणिपत्य महादेवं विससर्ज पितामहः॥
तेऽपि हृष्टतमा विप्रा प्रणम्य जगतां प्रभुम्।
प्रययुस्तस्य चक्रस्य यत्र नेमिर्व्यशीर्यत्॥
तद्वनं तेन विख्यातं नैमिशं मुनिपूजितम्।

ये श्लोक शिवमहापुराण की पूर्ववायवीय संहिता के तृतीय अध्याय में उपलब्ध हैं[२३]। ये वायु पुराण में प्राप्त नहीं होते। इनमें केवल प्रथम श्लोक का भाव वायुपुराण में इस प्रकार प्राप्त होता है :—भ्रमतो धर्मचक्रस्य यत्र नेमिरशीर्यत। कर्मणा तेन विख्यातं नैमिषं मुनिपूजितम्॥२-७॥ इससे अधिक वहां कुछ भी इस विषय में उपलब्ध नहीं होता। वायुपुराण में उस प्रसङ्ग का निर्देश भर किया गया है, जिसका विस्तार शिवमहापुराण में उपलब्ध होता है। वायुपुराण की सरणि से प्रतीत होता है कि वह अति प्रसिद्ध कथानक का निर्देश कर रहा है। इससे यह बात पूर्ण प्रमाणित हो जाती है कि श्रीधर स्वामी जैसे प्रकाण्ड पौराणिक भी 'वायवीय' शब्द से वायुसंहिताओं से समलंकृत शिवमहापुराण का ही अर्थ समझते एवं संकेतित करते थे। श्रीधर स्वामी का समय १२ वीं या १३ वीं शती माना जाता है।

सौन्दर्यलहरी' की 'लक्ष्मीधरा' टीका में एकपंचाशत तत्त्वों का वर्णन करते हुये कहा गया है कि 'ये एकपंचाशत तत्त्व वायवीय संहितादि सभी शैवपुराणों में उल्लिखित हैं[२४]। इससे यह प्रतीत होता है कि वायवीय संहिता को भी कभी-कभी शिवपुराण के रूप में उल्लिखित किया जाता था। यही कारण है कि 'इति वायवीये' कह कर जिस ग्रन्थ का निर्देश किया जाता था वह अधिकांश स्थलों में 'वायुपुराण' का बोधक न होकर शिवमाहापुराणस्थ 'वायवीय-संहिता' का ही बोधक होता था।

---

२३. एतन्मनोमयं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते।
यात्रास्य शीर्यते नेमिः स देशस्तपसः शुभः॥ आदि। शिव० ७,१,३,५३।

२४. देखिये– सौन्दर्यलहरी, प्रथम भाग, श्लोक ११ पर लक्ष्मीधरा टीका।

पुराणों के अनुसार 'वायवीय' पुराण' की श्लोक संख्या चतुर्विंशति सहस्र होनी चाहिये[२५]। यह लक्षण 'शिवमहापुराण' में पूर्णरूप से चरितार्थ होता है, यतः इसकी श्लोक संख्या चतुर्विंशति सहस्र ही है[२६]। वायुपुराण इस लक्ष्य से पूर्ण विसंगत है ; क्यों कि इसमें श्लोकों की संख्या केवल द्वादश सहस्र ही निर्दिष्ट की गई है[२७]। आज तो इसकी संख्या इससे भी कम उपलब्ध होती है। इस प्रकार सप्रमाण यह कहा जा सकता है कि 'वायु पुराण' को चतुर्थ-महापुराण मानने वाले स्वयं नारदपुराण तथा मत्स्यपुराण के द्वारा सूचित श्लोकसंख्या रूपी निकष पर 'वायुपुराण' एक दम दो टूक हो जता है जब कि शिवपुराण उस पर खरा उतरता है।

उपर्युक्त इन तथ्यों के अतिरिक्त एक और प्रबलतम तथ्य है, जो शिव-पुराण को महापुराण सिद्ध करने में रामबाण है। भगवान् शिव त्रिदेवों में ब्रह्मा, विष्णु, महेश में—अन्यतम हैं। लोकप्रसिद्धि की दृष्टि से अथवा साहित्य के आलम्बन की दृष्टि से शिव की महिमा विष्णु से कम नहीं थी और न आज भी कम है। पौराणिक युग में शिव की महिमा की प्रबलता का प्रबल प्रमाण है अधिकांश पुराणों में उनके महत्त्व का प्राधान्येन निरूपण। अट्ठारह पुराणों में दस पुराण शिवपरक कहे गये हैं :—'अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः' (स्कन्द, केदारखण्ड १)। ऐसी अवस्था में जब कि ब्रह्मा के नाम से ब्रह्ममहा-पुराण तथा विष्णु के नाम से विष्णुमहापुराण का निर्माण हुआ तो शिव के इस नाम से शिवमहापुराण का न होना विश्व का अभूतपूर्व आश्चर्य माना जायगा। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शिव के महत्त्व को देखते हुए उनके नाम से निर्मित शिवपुराण ही महापुराण है, न कि वायुपुराण।

उक्त साक्ष्यों से यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जाती है कि शिवपुराण ही चतुर्थ महापुराण होने का अधीकारी है और यही पुराण 'वायवीय' के भी नाम से जाना जाता था। इसे वायवीय कहे जाने का मुख्य कारण यह है कि इसमें

---

२५. (क) यत्र तद्वायवीयं स्याद् रुद्रमाहात्म्यसंयुतम्।
चतुर्विंशतिसहस्राणि पुराणं तदिहोच्यते ॥ मत्स्य० ५३, १८।
(ख) पुराणं यन्मयोक्तं हि चतुर्थं वायुसंज्ञितम् ॥
चतुर्विंशतिसाहस्रं शिवमहात्म्यसंयुतम् ॥ बृहन्नारदीय ४ पा० ९२ अ०।

२६. (क) व्यासेन तत्तु संक्षिप्तं चतुर्विंशतिसहस्रकम् ॥
शैवं तत्र चतुर्थं वै पुराणं सप्तसंहितम् ॥ शिव० १, २, ५६।
(ख) व्यासेन तत्तु संक्षिप्तं चतुर्विंशतिसहस्रकम् ॥
शैवं तत्र पुराणं वै चतुर्थं सप्तसंहितम् ॥ वही, ७, १, १, ५८।

२७. एवं द्वादशसाहस्रं पुराणं कवयो विदुः। वायु० ३२, ६६।

'वायवीय' संहिता का वर्ण्यविषय की दृष्टि से अधिक महत्त्व है। उद्धृत करने योग्य दार्शनिक तथा धार्मिक बातें इसी संहिता में प्राधान्येत वर्णित हैं।'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस नीति के अनुसार 'वायवीय' इस नाम से शिवमहापुराण एवं उसकी वायवीय संहिता ही जानी जाती थी।

(६) शिवमहापुराण का काल

शिवमहापुराण की कैलास संहिता के सोलहवें तथा सत्रहवें अध्याय में प्रत्याभिज्ञा दर्शन के विशद विवेचन के अवसर पर 'शिवसूत्र' के दो सूत्रों· चैतन्यमात्मा' एवं 'ज्ञानं बन्धः'—का तथा तत्सम्बद्ध 'वार्तिक' का स्पष्ट निर्देश किया गया है[२८]। 'शिवसूत्र' एवं उस पर लिखित 'वार्तिक' (भास्कर रचित)[२९] का काल क्रमशः नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध तथा दशवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है[३०]। शिवमहापुराण में शिवसूत्र का उल्लेख एकाधिक स्थलों पर हुआ है[३१]। अलबरुनी (१०३० ई०) भी पुराणों के उद्धरण के प्रसंग में शिव· महापुराण का उल्लेख करता है।

इसके अतिरिक्त शिवमहापुराण की कोटिरुद्रसंहिता में महर्षि गौतम, जो एक ऋषि थे[३१], की कथा वर्णित है। उनका कुछ ऋषियों से कलह चल रहा था। कुछ समय के अनन्तर उन ऋषियों के षड्यंत्र के कारण गौतम को अपना आश्रम छोड़ना पड़ा। उनका यह आश्रम दक्षिण दिशा में 'ब्रह्मगिरि' पर्वत पर था[३२]। बाद में गौतम को जब इस षड्यंत्र का पता चला तो उन्होंने उन लोगों को शाप देते हुये कहा—'मुझ शिवभक्त को दुःख देने वाले तुम सब दुरात्मा हो। तुम सब वेदविमुख होओगे। आज से तुम लोगों के मस्तक

---

२८. चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम् ॥
चैतन्यमिति विश्वस्य सर्वज्ञान-क्रियात्मकम्।
स्वातन्त्र्यं तत्स्वभावो यः स आत्मा परिकीर्तितः ॥
इत्यादि शिवसूत्राणां वार्तिकं कथितं मया।
ज्ञानं बन्धः इतीदं तु द्वितीयं सूत्रमीशितुः ॥ शिव० ६, १६, ४४-४६।

२९. यहां भास्कर विरचित 'वार्तिक' हो अभिप्रेत है; क्योंकि भास्कर ही 'शिवसूत्र' के प्रत्यक्ष कर्ता आचार्य 'वसुगुप्त' के सम्प्रदाय के थे।

३०. देखिये—'पुराण विमर्श' का १०५ वाँ पृष्ठ।

३१. मूलविद्या शिवं शैवं सूत्रं पंचाक्षरं तथा। शिव० ७, २, १३, ५१।

३१. गौतम उवाच— यूयं सर्वे दुरात्मानो दुःखदा मे विशेषतः।
शिवभक्तस्य सततं स्युर्वेदविमुखाः सदा ॥ शिव० ४, २७, ३५।

३२. दक्षिणस्यां दिशि हि यो गिरिर्ब्रह्मेति संज्ञकः।
तत्र तेन तपस्तप्तं वर्षाणामयुतं तथा ॥ वही, ४, २४, ३।

मृत्तिका से लिप्त हुआ करेंगे और इसी कारण तुम लोगों को नरक यातना भी भोगनी पड़ेगी। उसके बाद तुम सब दुःख दारिद्रय से पीडित, दूसरे की निन्दा करने वाले, शठ, चाण्डाल होओगे। तुम्हारा शरीर तप्तमुद्रा से अंकित होगा[33]। महर्षि के इस शाप को सुनकर शैवधर्म बहिष्कृत, खिन्नहृदय वे सम्पूर्ण ऋषि 'कांची' नगरी में जाकर निवास करने लगे[34]॥

निश्चय ही यह कथा वैष्णव ऋषि रामानुज एवं उनके अनुयायियों की ओर स्पष्ट संकेत करती है। रामानुज के जीवन का उत्तरार्द्ध 'कांची' में ही व्यतीत हुआ था। अतः उनके मत के अनुयायियों का वह नगरी केन्द्र मानी जाती है। भाल में मृत्तिकालेपन, तप्तमुद्रा से शरीर को अंकित करना आदि बातें रामानुज सम्प्रदाय की विशेषता हैं।

दक्षिण भारत में शैवों एवं वैष्णवों, विशेषतः रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायियों, में एक लम्बी अवधि तक संघर्ष चलता रहा। रामानुज का काल बारहवीं शताब्दी माना जाता है। अतः शिवमहापुराण का उत्तर काल तेरहवीं शताब्दी मानना ही उपयुक्त होगा।

(१०) शिव महापुराण एवं शैवदर्शन

शिवमहपुरण शैवदर्शन एवं मतों का आकार है। सम्पूर्ण शैवदर्शनों की अधिकांश सैद्धान्तिक बातें इसमें कहीं विस्तार के साथ तो कहीं संक्षेप से वर्णित हैं। इन सभी का पूर्ण विश्लेषण यहाँ शक्य नहीं है। अतः संक्षेप में ही यहाँ देखने का प्रयास किया जायगा कि किन किन शैवदर्शनों ने शिवमहापुराण को प्रभावित किया है।

(क) 'पाशुपत दर्शन'

शैवदर्शनों में 'पाशुपत दर्शन' सर्वाधिक प्राचीन है। पाशुपत आगम महाभारत काल में सुपरिचित थे। वेद के समान ये भी स्वतः प्रमाण थे।

---

३३. यूयं सर्वे दुरात्मानो दुःखदा मे विशेषतः।
शिवभक्तस्य सततं स्युर्वेदविमुखाः सदा ॥ वही०, ४, २७, ३५।
अद्य प्रभृति भालानि मृल्लिप्तानि भवन्तु वः।
संस्रक्ष्वं नरके यूयं भालमृल्लेपनाद् द्विजाः ॥ वही, ४, २७, ३८ ॥
ततो भवन्तु चाण्डालाः दुःखदारिद्रयपीडिताः।
शठा निन्दाकराः सर्वे तप्तमुद्रांकिताः सदा ॥ वही, ४, २७, ४३ ॥

३४. ततस्तैः (ततो हि) खिन्नहृदया ऋषयस्तेऽखिला द्विजाः।
कांच्यां चकुर्निवासं हि शैवधर्मबहिष्कृताः ॥ वही, ४, २७, ४५, ॥

टिप्पणी— कथा का किंचिद्विस्तृत अंश इसी प्रबन्ध के उपसंहार में उद्धृत है।

इनके अनुयायी इन शास्त्रों का वेद से भी अधिक आदर करते थे[३५]। शिवमहापुराण पाशुपत धर्म एवं दर्शन से सर्वाधिक प्रभावित है। 'पाशुपतसूत्र' के बहुत से सूत्र शिवमहापुराण में मन्त्र के रूप में उल्लिखित किये गये हैं[३६]। इन सूत्रों में से कुछ का उल्लेख कतिपय शैव उपनिषदों में भी हुआ है। यही कारण है कि इनका उद्धरण करते हुए शिवमहापुराण 'इति श्रुतयः' अथवा 'इति श्रुतिः' कहता है[३७]।

पाशुपत व्रत एवं पाशुपत ज्ञान तथा पाशुपत योग की चर्चा से शिवमहापुराण के कतिपय स्थल अलंकृत हैं[३८]। पाशुपत मत की इस लोकप्रियता

---

३५. देखिये—'न्यायसिद्धाञ्जन' की पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी लिखित हिन्दी भूमिका, पृ० ७।

३६. भवे भवे नाति भव इति पाद्यं प्रकल्पयेत्।
वामाय नम इत्युक्त्वा दद्यादाचमनीयकम्॥
ज्येष्ठाय नम इत्युक्त्वा शुभ्रवस्त्रं प्रकल्पयेत्।
श्रेष्ठाय नम इत्युक्त्वा दद्याद्यज्ञोपवीतकम्॥
रुद्राम नम इत्युक्त्वा पुनराचमनीयकम्।
कालाय नम इत्युक्त्वा गन्धं दद्यात् सुसंस्कृतम्॥
कलविकरणाय नमोऽक्षतं च परिकल्पयेत्।
बलविकरणाय नम इति पुष्पाणि दापयेत्॥
बलाय नम इत्युक्त्वा धूपं दद्यात्प्रयत्नतः।
बलप्रमथनायेति सुदीपं चैव दापयेत्॥ शिव० ६, ७, ७२–७६।

तुलना—भवे भवे नाति भवे॥ पाशु० १, ४२॥ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमो रुद्राय नमः। वही, २, २२। कालाय नमः। वही, २, २३। कलविकरणाय नमः। वही, २, २४। बलप्रमथनाय नमः। वही, २, २५। सर्वभूत दमनाय नमः। वही, २, २६।

३७. (क) ईशानः सर्वविद्यानामित्याद्याः श्रुतयो प्रिये।
मत्तः एव भवन्तीति वेदाः सत्यं वदन्ति हि॥ शिव०, ६, ३, १९।

तुलना—ईशानः सर्वविद्यानाम्॥ पाशु० ५, ४२।

(ख) सद्योजातं प्रपद्यामीत्युपक्रम्य सदाशिवम्।
इति प्राह श्रुतिस्तारं ब्रह्मपंचकवाचकम्॥ वही, ६, १४, २०।

तुलना —सद्योजातं प्रपद्यामि॥ पाशु० ४०।

३८. (क) व्रतं पांशुपतं कृत्वा त्वथर्वशिरसि स्थितम्। शिव०, ७, २, ८, १८।
परं पाशुपतं यत्र व्रतं ज्ञानं च कथ्यते॥ वही, ७, १, ३२, १३।
भगवन् श्रोतुमिच्छामो व्रतं पाशुपतं परम्। वही, ७, १, ३३, १।

(ख) तेषु पाशुपतो योगः शिवं प्रत्यक्षयेद् दृढम्। वही, ७, १, ३२, १७।
तस्माच्छ्रेष्ठमनुष्ठानं योगः पाशुपतो मतः॥ वही, ७, १, ३२, १८।

का कारण था उसका श्रुति के अनुकूल होना।[३९] शिवमहापुराण के अनुसार शैव दर्शन तथा धर्म के आधारस्तम्भ आगमों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—श्रौत एवं अश्रौत। श्रौत आगम श्रुति के अनुकूल अपने सिद्धान्तों की स्थापना करते हैं जब कि अश्रौत आगम श्रुति की बिना अपेक्षा किये स्वतंत्र रूप से लिखे गये हैं[४०]।

(ख) 'सिद्धान्त शैव'

स्वतन्त्र रूप से लिखे गये 'कामिक' आदि आगमों की संख्या अष्टादश है। इनके द्वारा जिस दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है उसे 'सिद्धान्त शैव दर्शन' कहते हैं; क्योंकि स्वतन्त्र रूप से लिखित ये आगम 'सिद्धान्त' भी कहे गये हैं। सिद्धान्त शैव के सिद्धान्तों का प्रभाव शिवमहापुराण पर बहुत ही स्पष्ट ढंग से पड़ा है। उनका यह प्रभाव पशु, पाश एवं पति[४१] (परमात्म-शिव) के वर्णन के अवसर पर देखा जा सकता है। शक्ति के वर्णन के विषय में भी शिवमहापुराण 'सिद्धान्त शैव' से पर्याप्त प्रभावित है।

(ग) 'प्रत्यभिज्ञादर्शन'

'प्रत्यभिज्ञादर्शन' अद्वैतदर्शन के नाम से भी जाना जाता है। काश्मीर में विकसित होने के कारण इसे 'काश्मीर शैवदर्शन' भी कहते हैं। शिवमहापुराण के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अद्वैत विषयक विचारधारा के विषय में यह महापुराण 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' से पर्याप्त प्रभावित है। पुराण की पूर्णता के पूर्व अवश्य ही 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' का विकास एवं विस्तार हो चुका था। इस बात की साक्षी स्वयं शिवमहापुराण में ही उपलब्ध है। शिवमहापुराण की कैलाससंहिता में प्रत्यभिज्ञा दर्शन के तीन मान्य ग्रन्थों—

---

३९. तत्र लीनाश्च मुनयः श्रौतपाशुपतव्रताः। वही, ७, २, ४०, ३५।
व्रतं पाशुपतं श्रौतमथर्वशिरसि श्रुतम्॥ वही, ७, १, ३३, २।

४०. शैवागमो हि द्विविधः श्रौतोऽश्रौतश्च संस्कृतः।
श्रुतिसारमयः श्रौतः स्वतन्त्र इतरो मतः॥ वही, ७, १, ३२, ११।

४१. स्वतन्त्रो दशधा पूर्वं तथाऽष्टादशधा पुनः।
कामिकादिसमाख्याभिः सिद्धः सिद्धान्तसंज्ञितः॥ वही, ७, १, ३२, १२।

४२—देखिये-शिवमहापुराण की वायवीय संहितायें, विशेषतः पूर्ववायवीय संहिता का, पंचम, षष्ठ अध्याय॥

'शवसूत्र,'[४३] 'शिवसूत्रवार्तिक'[४४], एवं विरूपाक्षपंचाशिका'[४५]—का उल्लेख हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि शिवमहापुराण के काल तक 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' अपनी पूर्ण प्रौढि को पहुँच चुका था।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि शिवमहापुराण में इन द्वैत एव अद्वैत—उभयविध दर्शनों का पर्याप्त रूप से प्रभाव पड़ा है। द्वैत दर्शनों में पाशुपत दर्शन विद्येश्वरसंहिता एवं वायवीयसंहिताओं में तथा सिद्धान्त शैवदर्शन वायवीय सहिताओं में अथ च अद्वैतदर्शन (प्रत्यभिज्ञादर्शन) कैलाशसहिता में विशेष रूप से वर्णित किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कुछ अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रधानतया इन्हीं तीन शैव-दर्शनों के साथ शिवमहापुराणस्थ दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक के पूर्वार्द्ध में दार्शनिक विचारों का एवं उसके उत्तरार्द्ध में धार्मिक विचारों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

शिवमहापुराण शैवधर्म एव दर्शन का एक मान्य ग्रन्थ है। शैवदर्शन एवं धर्म की प्रायः सभी मान्यतायें अन्वेषण करने पर इसमें मिल सकती हैं। इस प्रकार इस विशालकाय एवं विविध मान्यताओं से संवलित ग्रन्थ का आलोडन कर सार को निकालना कोई साधारण कार्य नहीं है। एतदर्थ दीर्घकालिक तपश्चर्या (मनन एवं स्वाध्याय) एवं योग्य गुरु की शुश्रूषा अपेक्षित है। मैंने इस तपश्चर्या एव शुश्रूषा को कहां तक किया है, इसका मूल्यांकन करना मेरा कार्य नहीं है। ग्रन्थ के परिशिष्ट एवं प्रारम्भ में तत्त्वों के नामों की पर्याय-तालिका यथा परमात्म-शिव (पशुपति अथवा पति, शिव, शिव, शम्भु आदि) तथा सारांश भी सुगमता के लिए दे दिया गया है।

इस ग्रन्थ-निर्माण के प्रसंग में मैंने पण्डित-पुस्तकालय, काशी से संवत् २०२० में प्रकाशित शिवमहापुराण का आश्रय विशेष रूप से लिया है। यद्यपि पण्डित पुस्तकालय से प्रकाशित यह ग्रन्थ अशुद्धियों से परिपूर्ण एवं मूलमात्र है, तथापि स्थान स्थान पर इस दोष से बचने का प्रयत्न किया गया है। प्रेस कृत अशुद्धियों को भी परिमार्जित करने का प्रयास किया गया है तथापि मशीन की स्वाभाविक वर्णविषयक गड़बड़ियाँ अवशिष्ट ही रह गई होगीं। आशा है पाठक उन्हें सुधर लेंगे।

रमाशङ्कर त्रिपाठी

४३—चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम् ॥ शिव० ६, १६, ४४।
ज्ञानं बन्ध इतीदं तु द्वितीयं सूत्रमीशितुः। वही, ६, १६, ४६।

४४—इत्यादि शिवसूत्राणां वार्तिकं कथितं मया ॥ वही, ६, १६, ४६।

४५—………श्रीविरूपाक्षनिर्मिते। शास्त्रे पंचाशिके……॥ वही, ६, १६, ४४।

॥ इति शम् ॥

पूर्वार्द्ध

प्रथम अध्याय

परमात्म–शिव

परंब्रह्म-शिव

शिवमहापुराण की रुद्रसंहिता के सृष्टि-खण्ड में कहा गया है कि महा प्रलय के समय स्थावर-जङ्गम सभी विनष्ट हो चुके थे। उस समय केवल अन्धकार था। सूर्य, ग्रह, नक्षत्रमण्डल, चन्द्र, दिन, रात्रि, अग्नि, अनिल, भू, जल आदि कुछ भी न थे। किसी भी शक्ति का पता न था। चतुर्दिक् रिक्तता ही रिक्तता परिव्याप्त थी। उस समय किसी भी प्रकार की चेतनता न थी। यह एक ऐसी अवस्था थी जिसमें चेतन और अचेतन कुछ भी न था। सर्वत्र अन्धतमस् व्याप्त था। किन्तु ऐसी भी अवस्था में एकमात्र सद्ब्रह्म ही अवशिष्ट था। यह एक ऐसी सत्ता है जो वाणी और मन का कभी भी विषय नहीं हो सकती। उसका न कोई नाम है और न कोई रूप ही। वह न तो स्थूल है और न कृश ही। सत्य तो यह है कि उसकी कोई भी परिभाषा नहीं दी जा सकती। श्रुति भी चकित होकर उसकी सत्ता स्वीकार करती है। यह सत्य, ज्ञान, अनन्त, परानन्द एवं परज्योतिः स्वरूप, अप्रमेय, अनाधार तथा अविकार है। उसकी कोई आकृति भी नहीं है। वह निर्गुण, निष्कल, योगिगम्य, सर्वव्यापी एवं एक कारक है[1]। वह निर्विकल्प, निरारम्भ, मायाशून्य एवं निरुपद्रव भी कहा गया है। वह आदि अन्त तथा विकास शून्य है। शिवमहापुराण उसी को परंब्रह्म शिव की संज्ञा से अभिहित करता है[2]।

अभेदवाद में अन्तिम परिणति

परंब्रह्म सम्बन्धी उक्त विश्लेषण से यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जाती है कि शिव महापुराण में अन्तिम सत्ता निर्गुण, निष्कल एवं अद्वैत रूप से वर्णित है। यही

१. अभिधत्ते सचकितं यदस्तीति श्रुतिः पुनः।
सत्यं ज्ञानमनन्तं च परानन्दपरम्महः॥
अप्रमेयमनाधारमविकारमनाकृति।
निर्गुणं योगिगम्यं च सर्वव्याप्येककारकम्॥ शिव० २, १, ६, ११-१२।

२. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
तदेव परमं प्रोक्तं ब्रह्मैव शिवसंज्ञकम्॥ वही, ४, ४१, १४।

कारण है कि कैलाससंहिता में शैवसिद्धान्त शिवाद्वैत के नाम से व्याख्यात है[३]। यह अद्वैत शैववाद अपनी प्रक्रिया में कहीं भी द्वैत की भावना को सहन नही करता, क्योंकि द्वैत नश्वर होता है और परंब्रह्म अद्वैत एवं अनश्वर कहा गया है[४]।

परंब्रह्म-शिव की द्वितीयेच्छा

कुछ काल के पश्चात् उसकी इच्छा दो रूपों में विभक्त होने की हुई[५]। अतः उसने लीला से अपनी एक मूर्ति कल्पित की[६]। यह मूर्ति शिवतत्त्व (परमात्म-शिव) कही गई है[७]।

एक ही सत्ता के दो रूप

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि परंब्रह्म शिव एवं परमात्म-शिव एक ही सत्ता के द्विविध रूप हैं। एक ही सत्ता का यह भेद शक्ति के कारण होता है। शक्ति के अस्फुट अतः शान्त रहने पर परंब्रह्म शिव एवं शक्ति के सुस्फुट तथा कार्योन्मुख होने पर परमात्म शिव कहा जाता है[८]। शक्ति (कला)[९] के निष्क्रिय अतः पूर्ण विलीन रहने के कारण परंब्रह्म शिव को निष्कल शिव तथा उसके सक्रिय अतएव प्रकट होने के कारण परमात्म-शिव को सकल शिव भी कहा जाता है[१०]। इस प्रकार एक ही सत्ता शक्तिकृत भेद के कारण द्विविधरूप को धारण करती है[११]। वस्तुतः निष्कल एवं सकल शिव में भेद न होकर पार-

---

३. अद्वैतः शैववादोऽयं द्वैतं न सहते क्वचित् । शिव० ६, १७, ३ ।

४. द्वैतं च नश्वरं ब्रह्माद्वैतं परमनश्वरम् ।। वही, ६, १७, ३ ।

५. कियता चैव कालेन द्वितीयेच्छाऽभवत् किल ।। वही, २, १, ६, १४ ।

६. अमूर्तेन स्वमूर्तिश्च तेनाकल्पि स्वलीलया । वही, २, १, ६, १५ ।

७. यच्चादौ हि समुत्पन्नं निर्गुणात्परमात्मनः ।
तदेव शिवसंज्ञं हि वेदवेदान्तिनो विदुः ।। वही, ४, ४२, २ ।

८. निर्गुणत्वे शिवाह्वो हि परमात्मा महेश्वरः ।
परं ब्रह्माऽव्ययोऽनन्तो महादेवेति गीयते ।। वही, २, १, ४, ३३ ।

९. कला या परमा शक्तिः कथिता परमात्मनः । वही, ७, २, ४, २९ ।

१०. सकलं निष्कलं चेति स्वरूपद्वयमस्ति मे । वही, १, ९, ३० ।
तदेव शिवरूपं हि पठ्यते च मुनीश्वराः ।
सकलं निष्कलं चेति द्विविधं वेदवर्णितम् ।। वही, ४, ४, १, ९ ।

११. .... शिव एव मुनीश्वराः ।
स एव सगुणो ज्ञेयः शक्तिमत्वाद् द्विधाऽपि सः ।। वही, ४, ४२, २१ ।

र्माथिक रूप से अभेद ही है[१२]। संसार का बृंहण करने के कारण परमात्म-शिव को ब्रह्म भी कहते हैं[१३]।

परमात्म-शिव की शक्तिमत्ता

श्रुति के अनुसार ब्रह्म का रूप सत्, चित् एवं आनन्दमय है[१४]। आत्मा (परमात्म-शिव) के लिए प्रयुक्त होने वाला 'सत्' शब्द असत् का निवर्तक है। 'चित्' शब्द से जगत्त्व का निवर्तन होता है। त्रिलिङ्गवर्ती 'सत्' शब्द यहाँ पुरुष (परमात्म-शिव) के लिए प्रयुक्त हुआ है[१५]। "सत्" शब्द प्रकाश का वाचक है[१६]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परमात्म-शिव प्रकाशात्मा हैं। ज्ञान शब्द का पर्याय "चित्" शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है[१७]। प्रकाश एवं चित् इन दोनों का मिथुन ही जगत् की कारणता को प्राप्त हुआ है[१८]। 'सत्' (परमात्म-शिव) तथा 'चित्' (शक्ति) के संयोग से सर्वदा आनन्द ही होता है[१९]। जीव से निवर्तन के लिए ही परमात्म-शिव में सार्वकालिक शक्तित्व स्वीकृत है, अतः जीवाश्रित चित् शक्ति सर्वदा दुर्बल रहती है[२०]।

परमात्म-शिव की शक्तिमत्ता के लिए युक्ति

यह सम्पूर्ण विश्व प्रत्यक्ष ही स्त्री-पुरुष रूप दृष्टिगोचर होता है। प्राणियों का शरीर (पिण्ड) षट्कोश रूप है। इसमें तीन कोश तो माता के अंश के एवं

---

१२. एकस्त्वमेव सदसद् द्वयमद्वयमेव च।
स्वर्णं कृताकृतमिव वस्तुभेदो न चैव हि॥ शिव० २, ३, ४६, १८।

१३. सर्वात्मत्वं तयोरेवं ब्रह्मेत्युपनिषत्सु च।
गीयते ब्रह्मशब्देन बृहिधात्वर्थगोचरम्॥ वही, ६, १६, ३५।
ब्रह्मेति शिवशक्त्योस्तु सर्वात्मत्वमिति स्फुटम्॥ वही, ६, १६, ३।

१४. सच्चिदानन्दरूपत्वं वदति ब्रह्मणः श्रुतिः।
असन्निवर्तकः शब्दः सदात्मेति निगद्यते॥ वही, ६, १६, २५।

१५. निवर्तनं जगत्त्वस्य चिच्छब्देन विधीयते।
त्रिलिङ्गवर्ती सच्छब्दः पुरुषोऽत्र विधीयताम्॥ वही, ६, १६, २६।

१६. प्रकाशवाची स भवेत् सप्रकाश इति स्फुटम्। वही, ६, १६, २७।

१७. ज्ञानशब्दस्य पर्यायश्चिच्छब्दः स्त्रीत्वमागतः॥ वही, ६, १६, २७।

१८. प्रकाशश्चिच्च मिथुनं जगत्कारणतां गतम्। वही, ६, १६, २८।

१९. शिवशक्त्योस्तु संयोगादानन्दः सततोदितः। वही, ६, १६, १३।

२०. जीवाश्रितायाश्चिच्छक्तेर्दौर्बल्यं विद्यते सदा।
तन्निवृत्त्यर्थमेवात्र शक्तित्वं सार्वकालिकम्॥ वही, ६, १६, ३१।

तीन पिता के अंश के हैं। इसी प्रकार सबके शरीर में विद्वानों ने स्त्रीपुंभाव स्वीकार किया है।[२१] परमात्म-शिव भी, जो कि संसार का कारण है, स्त्रीपुंभावस्वरूप माना गया है।

परमात्म-शिव की शक्ति

परमात्म-शिव की परा शक्ति स्वाभाविकी एवं विश्वविलक्षणा है। यह एक होते हुए भी भानु की प्रभा की भाँति अनेक रूपों से प्रकाशित होती है[२२]। वह्नि से विस्फुलिङ्ग की भाँति इससे विविध शक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। यह इच्छा, ज्ञान एवं क्रियारूपा है[२३]। यह इस प्रकार हो और यह इस प्रकार न हो—इस प्रकार कार्यों का नियमन करने वाली शक्ति इच्छा शक्ति कही जाती है[२४]। बुद्धिरूप होकर कार्य, करण, कारण और प्रयोजन का ठीक ठीक निश्चय करने वाली शक्ति ज्ञानशक्ति कही जाती है[२५]। यह आमर्शात्मक होती है। संकल्परूपिणी परमात्मनशिव की इच्छा और निश्चय के अनुसार कार्यरूप सम्पूर्ण जगत् को क्षण भर में कल्पनाकर देने वाली शक्ति क्रियाशक्ति कही गई है[२६]। इस प्रकार एक परा शक्ति ही त्रिधा अभिव्यक्त होती है[२७]।

---

२१. षट्कोशरूपः पिण्डो हि तत्र चाद्यत्रयं भवेत्।
मात्रंशजं पुनश्चान्यत् पित्रंशजमिति श्रुतिः॥ शिव० ६, १६, २३।

२२. शक्तिः स्वभाविकी तस्य विद्या विश्वविलक्षणा।
एकानेकस्य रूपेण भाति भानोरिव प्रभा॥ वही, ७, २, ७, १।

२३. एतामेव परां शक्तिं श्वेताश्वतरशाखिनः।
स्वभाविकी ज्ञानबलक्रियाचेत्यस्तुवन्मुदा॥ वही, ६, १६, ४८-४९।

तुलना कीजिए—परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।
श्वेता० उप० ६, ८।

टिप्पणी:—कार्यों का नियमन करने के कारण इच्छा शक्ति को 'बल' भी कहते हैं। क्योंकि नियमन 'बल' (शक्ति) से ही सम्भव है।

२४. इदमित्थमिदं नेत्थं भवेदित्येवमात्मिका।
इच्छाशक्तिर्महेशस्य नित्या कार्यनियामिका॥ वही, ७, २, ४, ३२।

२५. ज्ञानशक्तिस्तु तत्कार्यं करणं कारणं तथा।
प्रयोजनं च तत्त्वेन बुद्धिरूपाध्यवस्यति॥ वही, ७, २, ४, ३३।

२६. यथेप्सितं क्रियाशक्तिर्यथाध्यवसितं जगत्।
कल्पयत्यखिलं कार्यं क्षणात् संकल्परूपिणी॥ वही, ७, २, ४, ३४।

२७. तथा शक्तित्रयोत्थानं शक्तिः प्रसर्धर्मिणी॥ वही, ७, २, ४, ३५।

शक्तित्रय परमात्म-शिव के त्रिनेत्र एवं त्रिशूल का आधार

परमात्म-शिव की इस स्वाभाविकी शक्ति को विद्या एवं महामाया आदि अनेक नामों से कहा जाता है। इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया ये तीन शक्तियाँ पुराणों में शम्भु के तीन नेत्रों के रूप में कल्पित की गई हैं[२८]। वस्तुतः उनके त्रिशूल का आधार यह तीन शक्तियाँ ही हैं[२९]। परमात्म-शिव की ही भाँति अमनोगोचर तथा तत्त्वातीत होने के कारण यह शक्ति मनोन्मनी नाम से भी कही जाती है। इसकी स्थिति परमात्म-शिव के वामभाग में बतलाई गई है[३०]। लोक में अर्द्धनारीश्वर रूप की कल्पना में परमात्म-शिव का यह शक्तिमान् रूप ही कारण है।

परमात्म-शिव की पञ्चविध शक्तियां

परमात्म-शिव का प्रत्येक रूप शक्तिरूप से ही कल्पित है। यही कारण है परमात्म-शिव का सर्वकर्त्ता, सर्वज्ञ, पूर्ण, नित्य एवं व्यापक स्वरूप उनकी पंचविध शक्तियों के रूप में कल्पित किया गया है। ये पंचविध शक्तियां परा शक्ति के ही परिणाम हैं। इस प्रकार सर्वकर्तृत्वरूपा, सर्वज्ञत्व-स्वरूपिणी, पूर्णत्वरूपा, नित्यत्व एवं व्यापकत्व स्वरूपिणी परमात्म-शिव की पंचविध शक्तियां हो जाती हैं[३१]।

परमात्म-शिव के पञ्चकृत्य

पारमात्म-शिव के पंचविध जागतिक कृत्य बतलाये गये हैं। सृष्टि, पालन संहार, तिरोभाव और अनुग्रह[३२]। इनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है :—

१. सृष्टि :—संसार की रचना का जो प्रारम्भ है, उसी को सर्ग अथवा सृष्टि कहते हैं।

२. स्थिति अथवा पालनः—शिव से पालित होकर सृष्टि का सुस्थिर रूप से रहना ही उसकी स्थिति है।

---

२८. ज्ञानक्रियेच्छारूपं हि शम्भोर्दृष्टित्रयं विदुः ॥ शिव० ६, १६, ४९।

२९. लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तत्त्रिशूलकम्। तन्त्रा० प्रथम आ०, श्लो० ४ पर जयरथ की टीका से।

३०. स्वशक्त्या वामभागे तु मनोन्मन्या विभूषितः। शिव० ६, १२, १९।

३१. सर्वकर्तृत्वरूपा च सर्वज्ञत्वस्वरूपिणी।
पूर्णत्वरूपा नित्यत्वव्यापकत्वस्वरूपिणी ॥
शिवस्य शक्तयः पञ्च··· ··· ··· ···। वही, ६, १६, ७८-७९।

३२. सृष्टिः स्थितिश्च संहारस्तिरोभावोऽप्यनुग्रहः।
पञ्चैव मे जगत्कृत्यं नित्यसिद्धमजाच्युतौ ॥ वही, १, १०, २।

३. संहार:—संसार का विनाश ही संहार है।

४. तिरोभाव:—प्राणों के उत्क्रमण को 'तिरोभाव' कहते हैं। यह द्विधा होता है—रुद्र आदि के लोकों को प्राप्त कराने वाला एवं पूर्ण मुक्ति को प्राप्त कराने वाला[३३]।

५. अनुग्रह:—सृष्टि, स्थिति, संहार एवं तिरोभाव से मुक्ति मिल जाना ही परमात्म-शिव का अनुग्रह है[३४]। अनुग्रह भी दो प्रकार का होता है। पर मुक्ति का दाता एवं अपरमुक्ति का दाता[३५]।

ये पांच कृत्य परमात्म-शिव में नित्य सिद्ध बतलाये गये हैं। इनमें सृष्टि आदि चार कृत्य संसार का विस्तार करने वाले कहे गये हैं। पंचम कृत्य अनुग्रह मोक्ष का हेतु है। परमात्म-शिव के अनुग्रह से व्यक्ति मुक्त हो जाता है। अनुग्रह परमात्म-शिव में ही अचलभाव से स्थिर रहता है।

पञ्चकृत्यों की महाभूतों में स्थिति

ये पंचकृत्य पंचमहाभूतों में भी रहते हैं:—सृष्टि भूतल में, स्थिति जल में, संहार अग्नि में, तिरोभाव वायु में और अनुग्रह आकाश में। पृथिवी से सब की सृष्टि होती है। जल से सब की वृद्धि एवं जीवन-रक्षा होती है। अग्नि सबको जला देता है। वायु सब को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाता है और आकाश सब को अनुगृहीत करता है[३६]।

ब्रह्मा आदि की सृष्टिकार्यों में संगति

परमात्म-शिव के उक्त पंचकृत्यों में सृष्टि, स्थिति, संहार एवं तिरोभाव

---

३३. तिरोभावो द्विधा भिन्न एको रुद्रादिगोचरः।
अन्यश्च देहभावेन पशुवर्गस्य सन्ततेः॥
भोगानुरञ्जनपरः कर्मशाम्यक्षणावधि।
कर्मसाम्ये स एकः स्यादनुग्रहमयो विभुः॥ शिव० ६, १५, ६-७।

३४. सर्गः संसारसंरम्भस्तत्प्रतिष्ठा स्थितिर्मता।
संहारो मर्दनं तस्य तिरोभावस्तदुत्क्रमः॥
तन्मोक्षोऽनुग्रहस्तन्मे कृत्यमेवं हि पञ्चकम्। वही, १, १०, ३-४।

३५. अनुग्रहोऽपि द्विविधस्तिरोभावादिगोचरः।
प्रभुश्चान्यस्तु जीवानां परावरविमुक्तिदः॥ वही, ४, १४, २८।

३६. तदिदं पंचभूतेषु दृश्यते मामकैर्जनैः। सृष्टिर्भूमौ स्थितिस्तोये संहारः पावके तथा॥
तिरोभावोऽनिले तद्वदनुग्रह इहाम्बरे। सृज्यते धरया सर्वमद्भिः सर्वं प्रवर्द्धते॥
अर्द्यते तेजसा सर्वं वायुना चापनीयते।
व्योम्नाऽनुगृह्यते सर्वं ज्ञेयमेवं हि सूरिभिः॥ वही, १, १०, ६-८।

को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और महेश ने तपस्या करके प्राप्त कर लिया है, अर्थात् ये चारों देव ही इन चारों कार्यों को सम्पन्न करते हैं। किन्तु 'अनुग्रह' नामक कृत्य परमात्म-शिव के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं प्राप्त कर सकता[३७]। 'अनुग्रह' करने का अधिकार एकमात्र परमात्म-शिव को ही है। उक्त चारों कृत्यों के सम्पादन से ही ब्रह्मा आदि देव सृष्टिकर्ता आदि पदों से अभिहित किये जाते हैं।

तब परमात्म-शिव में पञ्चकृत्यों की कैसे संगति ?

ऐसी अवस्था में प्रश्न उठता है कि ब्रह्मा आदि के द्वारा सृष्टि कार्य सम्पन्न करने पर परमात्म-शिव में पंचकृत्यों की संगति किस भाँति होगी ? इसके उत्तर में शिव महापुराण का कहना है कि—'अनुग्रह' में भी सृष्टि आदि कृत्यों का योग होने से परमात्म-शिव के पांच कृत्य माने गये हैं[३८]। पशु (आत्मा) जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्र में भ्रमण करते हुये भोग की परिसमाप्ति पर परमात्म-शिव के अनुग्रह का भाजन होता है।

परमात्म-शिव का परानुग्रहरूप कर्तव्य

आगे पुनः परमात्म-शिव के कार्य एवं स्वभाव का वर्णन करते हुये कहा गया है कि वे (परमात्म-शिव) स्वयं परिपूर्ण हैं। उन्हें किसी बात की इच्छा नहीं रहती और परानुग्रह ही एकमात्र उनका स्वभाव है। सम्पूर्ण प्राणी अपने कर्त्तव्य के माध्यम से अपना परम लक्ष्य (परम्) प्राप्त करें, एतदर्थ ही परमात्म-शिव उन पर अनुग्रह किया करते हैं। इसके अतिरिक्त उनका अन्य कोई कर्त्तव्य नहीं है। यदि परमात्म-शिव में परानुग्रह की बात न मानी जाय तब निःस्वभाव शिव के द्वारा कुछ भी अनुगृहीत नहीं हो सकता[३९]। संसार पर, जिसमें पशु एवं पाश भी वर्तमान हैं, अनुग्रह करना ही परमात्म-शिव का एकमात्र कार्य है। परमात्म-शिव का अनुग्रह ही आज्ञा पद से अभिहित किया जाता है[४०]।

३७. युवाभ्यां तपसा लब्धमेतत्कृत्यद्वयं सुतौ। सृष्टिस्थित्यभिधं भाग्यं मत्तः प्रीतादतिप्रियम्॥
तथा रुद्रमहेशाभ्यामन्यत्कृत्यद्वयं परम्।
अनुग्रहाख्यं केनापि लब्धुं नैव हि शक्यते ॥ शिव० १, १०, १०-११।

३८. अनुग्रहेऽपि सृष्टयादिकृत्यानां पंचकं विभोः। वही, ६, १४, २९।

३९. स्वभाव एव पर्याप्तः परानुग्रहकर्मणि।
अन्यथा निःस्वभावेन न किमप्यनुगृह्यते ॥ वही० ७, १, ३१, ४

४०. परं सर्वमनुग्राह्यं पशुपाशात्मकं जगत्।
परस्यानुग्रहार्थं तु पत्युराज्ञासमन्वयः ॥ वही, ७, १, ३१, ५।

परमात्म-शिव ही आज्ञापक हैं और वही सर्वदा सब पर अनुग्रह करने वाले हैं। परमात्म-शिव में परानुग्रह की बात मान लेने पर उनमें परतन्त्रता नहीं आ सकती[४१]। अनुग्राह्य की अपेक्षा के बिना किसी प्रकार के अनुग्रह की बात हो ही नहीं सकती। इसीलिये स्वातन्त्र्य शब्द की व्याख्या किसी की अपेक्षा न करना ही की गई है :—

अनुग्राह्यानपेक्षोऽस्ति न हि कश्चिदनुग्रहः।
अतः स्वातन्त्र्यशब्दार्थाननपेक्षत्वलक्षणः॥ ७, १, ३१, ७।

उपर्युक्त कथन का आशय यह है कि परानुग्रह के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि परमात्म-शिव अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये अन्य किसी (आत्मा) पर आश्रित रहते हैं। यह तो उनकी इच्छा का कार्य है कि प्राणी अस्तित्व में आकर अपने कर्म के अनुसार एक निश्चित विधि-विधान के अनुरूप आगे बढ़ता है। परमात्म-शिव की स्वतन्त्रता का तात्पर्य है कि वे किसी दूसरी वस्तु के आश्रित नहीं हैं। परतन्त्रता के भाव होते हैं, किसी अन्य वस्तु के आश्रित होना।

परमात्म-शिव की प्रकृति

शिव महापुराण की कोटि रुद्रसंहिता के ४१ वें अध्याय में परमात्म-शिव की प्रकृति का वर्णन करते हुये कहा गया है कि परमात्म-शिव प्रकृति से परे, ज्ञानरूप, अव्यय, साक्षी एवं ज्ञानगम्य हैं। यह समग्र संसार उन्हीं से प्रादुर्भूत होता है, उन्हीं के द्वारा व्याप्त है तथा अन्त में उन्हीं में लीन भी हो जाता है[४२]। ये सत्य, ज्ञान, अनन्त एवं सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप कहे गये हैं। उनका न कोई वर्ण है और न तो उनकी कोई आकृति एवं परिमाण ही है। आकाश की भाँति परमात्म-शिव सर्वव्यापक हैं[४३]।

पूर्व वायवीय संहिता के तृतीय अध्याय में कहा गया है कि—जिनसे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र और सम्पूर्ण भूतेन्द्रियों के सहित यह समग्र ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, जो कारणों के भी परमकारण हैं और जिनका कहीं भी, कभी भी, कोई कारण नहीं है, वे सर्वैश्वर्य से सम्पन्न एवं स्वयं सर्वेश्वर हैं। जो

---

४१. पतिराज्ञापकः सर्वमनुगृह्णाति सर्वदा।
तदर्थमर्थस्वीकारे परतन्त्रः कथं शिवः॥ शिव ७, १, ३१, ६।

४२. उत्पद्यते यतः सर्वं येनैतत्पाल्यते जगत्।
यस्मिंश्च लीयते तद्धि येन सर्वमिदं ततम्॥ वही, ४, ४१, ८।
तदेव शिवरूपं हि पठ्यते च मुनीश्वराः। वही, ४, ४१, ९।

४३. आकाशं व्यापकं यद्वत्तथैव व्यापकं त्विदम्। वही, ४, ४१, १५।

अकेले ही विश्व के बहुत से निष्क्रिय जन्तुओं में सक्रिय हैं अर्थात् जिनके अभाव में दृश्यमान जगत् की सक्रियता सम्भव नहीं हो सकती; जो एकाकी होते हुये भी बीज को बहुधा करते हैं वही महेश्वर हैं[४४]। भगवान् महेश्वर सर्वदा प्राणियों के हृदय में सन्निविष्ट होकर भी दूसरों के द्वारा अलक्ष्य ही बने रहते हैं। वे स्वयं सबको जानते एवं विश्व के अधिष्ठाता हैं[४५]।

परमात्म-शिव एवं बन्धन

परमात्म-शिव किसी प्रकार के कर्म से सम्बद्ध नहीं होते, वे पूर्णतया निर्मल हैं। त्रिकाल में भी उनमें किसी प्रकार के मल का संयोग नहीं होता है। यही कारण है कि वे स्थावर-जङ्गमात्मक विश्व के विकाससंचालक (हेतु) हैं।

परमात्म-शिव बन्धनरूप प्रकृत्यष्टक को सर्वदा अपने वश में करके स्थित रहते हैं[४६]। प्रकृत्यष्टक से होने वाला बन्धन इन्हें कदापि नहीं होता। प्रकृति बुद्धि, अहङ्कार एवं पंचतन्मात्राओं को मिलाकर प्रकृत्यष्टक कहा जाता है[४७]। परमात्म-शिव में सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतन्त्रता, नित्य ही अलुप्त-शक्तित्व सर्वदा स्वाभाविक रूप से वर्तमान रहता है।

परमात्म-शिव को न तो आणवमल होता है न तो कार्य (कार्म) एवं मायीय ही। मानस एवं इन्द्रियात्मक तथा भूतसम्बन्धी बन्धनों से भी वे सर्वथा परे हैं। कहने का भाव यह कि किसी भी प्रकार का बन्धन परमात्म शिव को कभी भी किसी भी अवस्था में नहीं होता[४८]।

अमित तेजस्वी परमात्म-शिव को काल, कला, विद्या, नियति, राग एवं द्वेष कुछ भी नहीं होता है। इनका किसी के भी साथ अभिनिवेश नहीं

४४. एको बहूनां जन्तूनां निष्क्रियाणां च सक्रियः।
य एको बहुधा बीजं करोति स महेश्वरः ॥ शिव० ७, १, ३, ७।

४५. सदा जनानां हृदये सन्निविष्टोऽपि यः परैः।
अलक्ष्यो लक्षयन् विश्वमधितिष्ठति सर्वदा ॥ वही, ७, १, ३, ९।

४६. शिवस्तथा प्रकृत्यादि वशीकृत्याधितिष्ठति ॥ वही, १, १८, ११।

४७. प्रकृत्यग्रे ततो बुद्धिरहङ्कारो गुणात्मकः।
पंचतन्मात्रमित्येतद् प्रकृत्याद्यष्टकं विदुः ॥ वही, १, १८, ४।

४८. न शिवस्याणवो बन्धः कार्यो मायेय एव वा।
प्राकृतो वाथ बौद्धो वा ह्यहङ्कारात्मकस्तथा ॥
नैवास्य मानसो बन्धो न चैषो नेन्द्रियात्मकः।
न च तन्मात्रबन्धोऽपि भूतबन्धो न कश्चन ॥ वही, ७, २, ६, १-२।

है। न तो इनका कोई कर्म एवं कर्मविपाक ही होता है। कर्म के फल सुख-दुःख से भी इनका कोई अपना सम्बन्ध नहीं है। कालत्रितय गोचर आशय, कर्म-संस्कार, भोग तथा भोग-संस्कार से भी ये प्रभावित नहीं होते। न तो इनका कोई कारण एवं कर्ता ही है और न तो इनका आदि एवं अन्त ही है। इनका कर्म, करण, अकार्य एवं कार्य कुछ भी नहीं है। इनका बन्धु, अबन्धु, नियन्ता, प्रेरक, पति, गुरु, त्राता भी नहीं है। न तो इनके कोई समान ही है और न कोई इनसे अधिक ही है।

जन्म, मरण, काङ्क्षित, अकाङ्क्षित, विधि, निषेध, मुक्ति, बन्धन आदि भी इनका कुछ नहीं है। उक्त-स्वरूप परमात्म-शिव अपनी शक्तियों से इस सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठान करके अप्रच्युत भाव से स्थित हैं, यही कारण है कि इन्हें "स्थाणु" भी कहा जाता है[४९]। ब्रह्मादि सभी देव कालावच्छेदवर्ती हैं, काल के अधीन हैं, जब कि परमात्म-शिव कालावच्छेदवर्जित हैं[५०], काल की परिधि से परे हैं।

शिवसंज्ञा का कारण

"शिव" संज्ञा का कारण बतलाते हुये कहा गया है कि स्वभावतः अनादि मल के संश्लेष के प्रागभाव के कारण, अत्यन्त परिशुद्धात्मा होने से परमात्मा को "शिव" कहा जाता है[५१]। अथवा सब कुछ (बन्धनादि) वश में करने के कारण ही इन्हें शिव कहा जाता है[५२]।

परमात्म-शिव की इच्छामात्र से जगत् का निर्माण

जगत् का निर्माण स्वतन्त्र परमेश्वर की इच्छामात्र से होता है[५३]। अचेतन होने के कारण "कर्म" जगत् के कारण नहीं हो सकते। कर्म-सापेक्ष परमात्म-शिव भी जगत् के उत्पादन में कर्म का अवलम्बन करने से, उनकी

४९. न जन्ममरणे तस्य न कांक्षितमकांक्षितम्।
न विधिर्न निषेधश्च न मुक्तिर्न बन्धनम्॥ शिव० ७, २, ६, ८।
स शिवः सर्वमेवेदमधिष्ठाय स्वशक्तिभिः।
अप्रच्युतो स्वतो भावः स्थितः स्थाणुरतः स्मृतः॥ वही, ७, २, ६, १०।

५०. कालावच्छेदयुक्तानां गुरूणामप्यसौ गुरुः।
सर्वेषामेव सर्वेशः कालावच्छेदवर्जितः॥ वही, ७, २, ६, १९।

५१. अनादिमलसंश्लेषप्रागभावात् स्वभावतः।
अत्यन्तपरिशुद्धात्मेत्यतोऽयं शिव उच्यते॥ वही, ६, ९, ७।

५२. सर्वं वशीकृतं यस्मात्तस्माच्छिव इति स्मृतः। वही, १, १८, ११।

५३. यदेच्छा तस्य जायेत तदा च क्रियते त्विदम्। वही, ४, ४३, ५।

(परमात्म-शिव की) पूर्ण स्वातन्त्र्य-भङ्गता की आपत्ति के कारण, जगत् के कारण नहीं हो सकते। परमुखापेक्षी होने का अभाव ही पूर्ण स्वातन्त्र्य कहा गया है। अतः निरपेक्ष परमात्म-शिव की संकल्परूपिणी क्रियाशक्ति यथेप्सित एवं यथाध्यवसित कार्यरूप अखिल जगत् को क्षण भर में कल्पित कर देती है[५४]।

परमात्म-शिव एवं जगत्

इस संसार में ब्रह्म से लेकर तृणपर्यन्त जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है वह सब परमात्म-शिव ही है; नानात्व की कल्पना मिथ्या है[५५]। यह भगवान् सृष्टि के पूर्व में भी रहे और सृष्टि के अन्त में भी रहते हैं। सर्वशून्य होने पर परमात्म-शिव की ही सत्ता रहती है। ये सर्वदा शक्तिमत्ता को धारण करते हैं अतः इन्हे शक्तिमान् कहा जाता है। संसार का प्रत्येक कार्य इन्हीं की इच्छा से सम्पन्न होता है। इस संसार का निर्माण करके इस में प्रविष्ट होकर भी वे इससे दूर ही स्थित रहते हैं; इसमें फँसते नहीं, तथा सर्वदा ही निर्लिप्त एवं चित्स्वरूप बने रहते हैं। जिस प्रकार सूर्यादि की जलादि में प्रतिबिम्बता है, न कि वस्तुतः उनमें उनका प्रवेश है; उसी प्रकार परमात्म-शिव की भी संसार में प्रतिबिम्बता है। न कि यथार्थतः उनका संसार में प्रवेश है। यथार्थ बात तो यह है कि निर्विकारी परमात्म-शिव का प्रवेश इस परिवर्तनशील संसार में हो ही नहीं सकता। और इससे भी अधिक यथार्थ बात तो यह है कि परमात्म शिव ही सम्पूर्ण संसार हैं। समय के द्वारा लगाया गया संसार का पूर्वापर क्रम तो केवल भासितमात्र है। इस जगत् में परमात्म-शिव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही कारण है कि सम्पूर्ण दर्शनो में मतिभेद दृष्टिगोचर होता है[५६]।

व्यापक एवं एक परमात्म-शिव तथा जगत्

इस संसार में बिना प्रविष्ट हुये ही परमात्म-शिव सब कुछ व्याप्त करके स्थित हैं। वे व्यापक हैं और चतुर्दिक् उन्हीं की ही सत्ता दृष्टिगोचर होती

---

५४. यथेप्सितं क्रियाशक्तिर्यथाध्यवसितं जगत्।
कल्पयत्यखिलं कार्यं क्षणाद् संकल्परूपिणी ।। शिव०, ७, २, ४, ३४।

५५. आब्रह्मतृणपर्यन्तं यत्किंचिद्दृश्यते जगत्।
तत्सर्वं शिव एवास्ति स देवः शिव उच्यते ।। वही, ४, ४३, ४।

५६. वस्तुतस्तु स्वयं सर्वः क्रमो हि भासते शुभः।
अज्ञानं च मतेर्भेदो नास्त्यन्यच्च द्वयं पुनः ।। वही० ४, ४३, ८।
दर्शनेषु च सर्वेषु मतिभेदः प्रदर्श्यते ।। वही, ४, ४३, ९।

है[५७]। जो विचक्षण प्राणी वेदान्त मार्ग का समाश्रयण कर उनके साक्षात्कार के लिये उपाय करता है, वह अवश्य ही उनके दर्शनरूपी फल का भाजन होता है। इस फल को प्राप्त करके प्राणी अवश्य ही मुक्ति का पात्र होता है। जिस प्रकार प्रत्येक काष्ठ में वर्तमान अग्नि केवल उसके मन्थनकर्त्ता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जो विचक्षण व्यक्ति, इस संसार में, भक्ति आदि साधनों को करता है, वह अवश्य ही कण-कण में व्याप्त परमात्म-शिव का दर्शन करता है। इस संसार में परमात्म-शिव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है[५८]। केवल भ्रान्ति के ही कारण परमात्म-शिव नानारूपों में भासित होते हैं। जिस प्रकार समुद्र, मृत्तिका और सुवर्ण केवल उपाधि के कारण नानात्व को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार परमात्म-शिव भी उपाधि के कारण ही नानात्व को प्राप्त करते हैं, न कि वस्तुतः। सत्य बात तो यह है कि कार्य और उसके कारण में कोई भेद ही नहीं है। भेद को प्रतीति तो बुद्धि को भ्रान्ति के कारण होती है, और जब यह भ्रान्ति विनष्ट हो जाती है तब भेद की प्रतीति का भी विनाश हो जाता है[५९]।

जिस प्रकार बीज से प्ररोह उत्पन्न होता है और यह उससे भिन्न भी प्रतीत होता है, और पुनः प्ररोह से वृक्ष बढ़ता, पुष्पित एवं फलित होता है और फल के बीज से अन्य वृक्ष उत्पन्न होते हैं तथा मूल विनष्ट हो जाता है, इस प्रकार बीज ही बीज अवशिष्ट रहता है। ठीक उसी प्रकार ज्ञानी को भी बीज ही मानना चाहिये। इस प्रकार विकृति के निवृत्त हो जाने पर ज्ञानी ही अवशिष्ट रह जाता है[६०]। यहां पर ज्ञानी का अर्थ है सद्द्रष्टा अर्थात् परमात्म-शिव।

ससार की प्रत्येक वस्तु परमात्म-शिव ही है और परमात्म-शिव ही सब कुछ है। दृश्यमान जगत् एवं परमात्म-शिव में कुछ भी भेद नहीं है। ऐसी

---

५७. भगवान् शिव को विश्वरूपता को दिखलाने के लिये निवृत्त्यादि पंचकलाओं की स्थिति उनके शरीर में ही कल्पित की गई है। शिव० ७, २, २६, २६-३० तथा ६, ७, ५८-५६-६०।

५८. तुलना कीजिये—अहमेव परं ब्रह्म मत्तो ह्यन्यन्न विद्यते।
तस्मान्मे विश्वरूपत्वं निश्चितं ब्रह्मवादिभिः॥ कूर्म० २, १, ४-५।

५९. कार्यकारणयोर्भेदो वस्तुतो न प्रवर्तते।
केवलं भ्रान्तिबुद्धयैव तदभावे स नश्यति॥ शिव० ४, ४३, १७।

६०. तदा बीजात् प्ररोहश्च नानात्वं हि प्रकाशयेत्।
अन्ते च बीजमेव स्यात् तत्प्ररोहश्च नश्यति॥ वही, ४, ४३, १८।
ज्ञानी च बीजमेव स्यात् प्ररोहो विकृतिर्मता।
तन्निवृत्तौ पुनर्ज्ञानी नात्र कार्या विचारणा॥ वही, ४, ४३, १९।

अवस्था में विविधत्व एवं एकत्व के अवलोकन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि भेद होने पर ही ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है।

इस प्रकार ब्रह्माण्ड में जिन्हें भी क्षर (पाश) एवं अक्षर[६१] (पशु अथवा आत्मा) के रूप में जाना जाता है, वे सभी महेश्वर शिव से उत्पन्न हुये और उन्हीं की इच्छा से अस्तित्व में आये हैं। यहाँ तक कि क्षर, अक्षर सब कुछ स्वयं हर ही हैं।

पशु के अन्त में माया भी निवृत्त हो जाती है अर्थात् माया की समाप्ति पर यह सम्पूर्ण विश्व और आत्मा भी अदृश्य हो जाते हैं[६२]। परमात्म-शिव एक स्वच्छन्दवर्ती चित्रकार की भाँति, इस सम्पूर्ण विश्वरूपी चित्रपट का विस्तार करते हैं, जिसमें नानाविध प्राणियों का प्रदर्शन किया जाता है और अन्त में यह सब आकार पटल उन्हीं में लौट कर लीन हो जाता है[६३]। सम्पूर्ण भूत इन्हीं परमात्म-शिव के वश में हैं और ये ही सबके नियोजक हैं। परमात्म-शिव सज्जनों के द्वारा द्रष्टव्य हैं। पतित, मूढ़, दुर्जन एवं कुत्सित प्राणी इन्हें कभी नहीं देख सकते। यह सृष्टि स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार की होती है। स्थूल सृष्टि को सभी देख सकते हैं, किन्तु सूक्ष्य का प्रत्यक्ष तो केवल योगिजन ही करते हैं। परन्तु नित्यज्ञान एवं आनन्दस्वरूप तथा अव्यय परमात्म-शिव इन दोनों से परे हैं।

क्षर और अक्षर, जिसे क्रमशः पाश और पशु भी कहा जाता है, ये दोनों ही परस्पर सम्बद्ध रहते हैं और ये दोनों ही अपनी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष अवस्था में परमात्म-शिव के द्वारा संरक्षित रहते हैं अर्थात् विश्वविमोचक परमात्म-शिव व्यक्ताव्यक्त विश्व को धारण करते हैं[६४]। तथाकथित नानात्व भी स्वयं परमात्म-शिव के द्वारा व्याप्त है। परमात्म-शिव ही सबके स्वामी एवं आश्रय हैं। यद्यपि वे एक ही हैं तथापि अपनी विविध शक्तियों के द्वारा अपने को विश्व के रूप में प्रकाशित करते हैं। विश्व का निर्माण कर वे एकाकी ही अपनी शक्तियों के द्वारा उसका शासन करते हैं।

जिस प्रकार वृक्ष के मूलसिंचन से उसकी शाखायें एवं अन्य सभी अवयव विकसित होते हैं, उसी प्रकार परमात्म-शिव की पूजा से उनका शरीरभूत

---

६१. अक्षरं पशुरित्युक्तः क्षरं पाश उदाहृतः। शिव० ७, १, ५, १४।

६२. भूयो ह्यस्य पशोरन्ते विश्वमाया निवर्तते ॥ वही, ७, १, ३, १३।

६३. अनेन चित्रकृत्येन प्रथमं सृज्यते जगत्।
अन्तकाले पुनश्चेदं तस्मिन् प्रलयमेष्यति ॥ वही, ७, १, ३, २२।

६४. संयुक्तमेतद्द्वितयं क्षरमक्षरमेव च।
व्यक्ताव्यक्तं बिभर्तीशो विश्वं विश्वविमोचकः ॥ वही, ७, १, ६, ६।

जगत् भी विकास अथवा तुष्टि को प्राप्त होता है[६५]। सबको अभयदान तथा सब पर अनुग्रह करना परमात्म-शिव की आराधना कही गई है[६६]।

जिस प्रकार इस संसार में पुत्र-पौत्रादि की प्रसन्नता से पिता परम प्रसन्न होता है, उसी प्रकार सबकी प्रीति से परमात्म-शिव भी प्रसन्न होते हैं[६७]। यदि कोई व्यक्ति किसी भी प्राणी को स्वल्प भीं कष्ट देता है तो इतना निश्चय है कि वह भगवान् अष्टमूर्ति (परमात्म-शिव) का ही अनिष्ट करता है। अतः प्राणियों का कर्तव्य है कि वे अष्टमूर्तिरूप से विश्व का अधिष्ठान करके स्थित हुये परम कारण परमात्म-शिव का सर्वभाव से सेवन करें[६८]। यह सम्पूर्ण संसार परमात्म-शिव एवं उनकी शक्ति की विभूति का लेशमात्र है अर्थात् सम्पूर्ण संसार उन्हीं के ऐश्वर्य के स्वल्पांश का प्रकाशनमात्र है[६९]।

अद्वैतवाद की पूर्ण प्रौढता

इसके अनन्तर आचार्य शङ्कर के द्वारा व्याख्यात अद्वैत वेदान्त की पृष्ठभूमि पर विषय की अवतारणा करते हुये शिव महापुराण कहता है कि सत्य तो यह है कि यह सम्पूर्ण संसार अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यह अज्ञानाधिष्ठित है। इसमें कुछ भी वास्तविकता नहीं है। पुराणों में वर्णित परमात्म-शिव के सम्पूर्ण चरित स्थिति पर निर्भर केवल कल्पना ही है। वस्तुतः ऐसी कोई भी एक परिभाषा नहीं है, जो परमात्म-शिव की यथार्थ स्थिति के विषय में बतला सके[७०]। अबतक संसार के विकास के विषय में जो कुछ कहा गया है वह सब प्रमाण-गम्यतामात्र है। परमात्म-शिव की सर्वातिशायिनी वास्तविकता तर्क से एकदम परे है[७१]। जिसे परमात्म-शिव

---

६५. वृक्षस्य मूलसेकेन शाखाः पुष्यन्ति वै यथा ।
शिवस्य पूजया तद्वत् पुष्यत्यस्य वपुर्जगत् ॥ शिव० ७, २, ३, २९ ।

६६. सर्वाभयप्रदानं च सर्वानुग्रहणं तथा ।
सर्वोपकारकरणं शिवस्याराधनं विदुः ॥ वही, ७, २, ३ ३० ।

६७. यथेह पुत्रपौत्रादेः प्रीत्या प्रीतो भवेत् पिता ।
तथा सर्वस्य संप्रीत्या प्रीतो भवति शङ्करः ॥ वही, ७, २ ३, ३१ ।

६८. अष्टमूर्त्यात्मना विश्वमधिष्ठाय स्थितं शिवम् ।
भजस्व सर्वभावेन रुद्रं परमकारणम् ॥ वही, ७, २, ३, ३३ ।

६९. शक्तिः साक्षान्महादेवी महादेवश्च शक्तिमान् ।
यतो विभूतिलेशो वै सर्वमेतच्चराचरम् ॥ वही, ७, २, ४, ४,

७०. अज्ञानाधिष्ठितं शम्भोर्न किंचिदिह विद्यते । वही, ७, १. ३१, ९
येनोपलभ्यतेऽस्माभिः सकलेनापि निष्कलः ॥ वही, ७, १, ३१, १०

७१. प्रमाणगम्यतामात्रं तत्स्वभावोपपादकम् ।
न तावतात्रापेक्षाधीरुपलक्षणमन्तरा ॥ वही, ७, १, ३१, १३,

की उपाधि प्रदान की जाती है वह तो आत्मा के स्वभाव का एक काल्पनिक परमात्मा है[७२]। जिस प्रकार अग्नि काष्ठ से भिन्न होते हुये भी काष्ठ के बिना नहीं देखा जा सकता उसी प्रकार मूर्त्यात्मा से भिन्न होते हुये भी परमात्म-शिव उसके बिना नहीं देखे जा सकते[७३]।

परमात्म-शिव का सामान्य अनुग्रह एवं निग्रह

परमात्म-शिव सर्वदा सब पर अनुग्रह ही करने वाले हैं। वे कभी किसी का निग्रह नहीं करते। यदि कभी ऐसा प्रतीत हो कि परमात्म-शिव किसी को दण्डित किये हैं, तो उनका यह भी कार्य दूसरों के हित के लिये ही होता है। उनका निग्रह भी लोक हित के लिये है। यदि सदोष देवादि कभी परमात्म-शिव के द्वारा दण्डित होते हैं तो इससे उनका पाप ही विनष्ट होता है। उनके दण्ड से प्रजा भी निष्पाप हो जाती है। परमात्म-शिव के निग्रह एवं अनुग्रह का एकमात्र भाव यही है कि प्राणी ईश्वरीय विधि-विधान के अनुसार कार्य करें, उससे विपरीत आचरण न करें। परमात्म-शिव के शासन का अनुवर्तन करना ही साधुभाव का लक्षण है और विपरीत आचरण असाधु-भाव का लक्षण माना गया है। जो व्यक्ति सर्वदा दूसरों के हित में संलग्न रहता है, वही परमात्म-शिव की इच्छा का अनुवर्तन करने वाला कहा गया है, और वह कभी भी दूषित नहीं किया जा सकता। इस लोक में अयुक्तकारी जन ही गर्हणीय कहे गये हैं। जो कार्य लोक को उद्वेजित करता है वही अयुक्त कहा जाता है[७४]। परमात्म-शिव के द्वारा किया गया, लोक में, कोई भी निग्रह विद्वेषपूर्वक नहीं होता है। निग्रहपूर्वक शिक्षित करने वाला पिता क्या कभी पुत्र से द्वेष करता है? जो व्यक्ति दूसरों को पीडित करता है, वह शुद्ध होने के योग्य है। परमात्म-शिव किसी को केवल पीडा देने के लिये नहीं दण्डित करते अपितु वह उसे इसलिये दण्डित करते हैं, यतः वह शुद्ध एवं उचित मार्ग के योग्य बन सके। वे एक ऐसे भिषग् की भाँति हैं, जो रोगार्त को कटु औषधि देकर उसके रोग को पूर्णरूप से विनष्ट करता है। हिंस्र प्राणी पर प्रदर्शित कृपा भी प्रशस्त नहीं कही जाती। ऐसे लोगों पर की गई कृपा

---

७२. आत्मोपमोल्बणं साक्षान्मूर्तिरेव हि काचन।
शिवस्य मूर्तिर्मूर्त्यात्मा परस्तस्योपलक्षणम् ॥ शिव० ७, १, ३१, १३।

७३. यथा काष्ठेष्वनारूढो न वह्निरुपलभ्यते।
एवं शिवोऽपि मूर्त्यात्मन्यनारूढ इति स्थितिः ॥ वही, ७, १, ३१, १३।

७४. अयुक्तकारिणो लोके गर्हणीया विवेकिताः।
यदुद्वेजयते लोकं तदयुक्तं प्रचक्षते ॥ वही, ७, १, ३१, ३३।

की भ्रांति से कृपा करने वाला कृपान्तरित निष्कृप ही कहा जा सकता है[७५]। रक्ष्य प्राणी की रक्षा न करना दोष ही है। शक्ति के रहते हुये भी उपेक्षा करने से रक्ष्य (रक्षा का पात्र) सद्यः ही विनष्ट हो जाता है। यदि परमात्म-शिव प्राणियों के पुण्य एवं पाप के विषय में उदासीन बने रहते हैं तो यह भी उनके लिये अनुचित ही है। इससे तो प्राणियों को अनुचित मार्ग के अवलम्बन का बढ़ावा ही मिलता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि कृपा सर्वदा गुणकारक अथवा गुण के लिये ही होती है।

तटस्थ परमात्म-शिव

इस संसार में जो गौण अथवा अगौण पदार्थ हैं उन सब पर अनुग्रह करने वाले परमात्म-शिव के अच्छे कृत्य (गुणवृत्तियाँ) न गुण के लिये होती हैं और न तो दोष के लिये ही[७६], अर्थात् परमात्म-शिव का अनुग्रह मित्रता अथवा दयालुता के साधारण अच्छे गुणों की भाँति नहीं है। इसे न तो अच्छा ही कहा जाता है और न तो बुरा ही। केवल इसे सम्पूर्ण प्राणियों की हितसाधिका ईश्वरेच्छा ही कहा जा सकता है। यह एकमात्र संसार के मोचन के लिये ही हुआ करता है[७७]। परमात्म-शिव की इच्छा का अनुवर्तन करना ही सबसे बड़ा गुण है और सबसे बड़ा गुण परमात्म-शिव का आज्ञानुवर्तन ही है[७८]। अतः कहा जा सकता है कि परमात्म-शिव सबको हित में लगाने वाले एवं सब पर अनुग्रह करने वाले हैं, न कि किसी एक पर। इस प्रकार वैयक्तिक हित विशाल मात्रा में मानवता के हित के साथ सम्बद्ध है और यह बात तभी प्रभावशाली बनती है जबकि सभी प्राणी परमात्म-शिव की आज्ञा का अनुवर्तन करें।

प्रेरक परमात्म-शिव

संसार का कोई भी कार्य परमात्म-शिव के बिना नही चल सकता। जिस प्रकार अयस्कान्त मणि के बिना लौहखण्ड नहीं चल सकते, उसी प्रकार अचेतन मल माया आदि भी परमात्म-शिव के सान्निध्य के बिना अपना कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकते। परमात्म-शिव अपने सान्निध्य से ही मल आदि

---

७५. घृणापि न गुणायैव हिंस्रेषु प्रतियोगिषु।
ताद्दशेषु घृणी भ्रान्त्या घृणान्तरितनिर्घृणः ॥ शिव० ७, १, ३१, ३६।

७६. यत्तु गौणमगौणं च तत्सर्वमनुगृह्णतः।
न गुणाय न दोषाय शिवस्य गुणवृत्तयः ॥ वही, ७, १, ३१, ५०।

७७. संसारमोचनं किन्तु शैवमाज्ञामयं हितम् ॥ वही, ७, १, ३१, ५१,।

७८. हितं तदाज्ञाकरणं यद्धितं तदनुग्रहः ॥ वही, ७, १, ३१, ५२।

के उपकारक होते हैं[७९]। संसार के पदार्थों के साथ सर्वथा वर्तमान अकारण यह परमात्म-शिव का सान्निध्य अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि अज्ञात परमात्म-शिव इस संसार के नित्य अधिष्ठाता हैं[८०]। संसार की कोई भी वस्तु परमात्म-शिव के बिना प्रवृत्त नहीं हो सकती। दृश्यमान जगत् उन्हीं के द्वारा प्रवृत्त होता है तथापि वे मोहित नहीं होते[८१]। सर्वतोमुखी परमात्म-शिव की आज्ञात्मिका शक्ति (इच्छा शक्ति, क्योंकि यह ऐसा हो और यह ऐसा न हो, इस प्रकार कार्यों का नियमन इच्छाशक्ति ही करती है) ही इस संसार का नियमन करने वाली है, यह संसार उसी से व्याप्त रहता है तथापि वे (परमात्म-शिव) दूषित नहीं होते[८२]।

परमात्म-शिव मल माया आदि पाशों से ब्रह्मादि स्तम्ब पर्यन्त पशुओं को बाँध कर (बद्ध्वा) अपना कार्य करवाते हैं। उन्हीं की आज्ञा से प्रकृति पुरुषोचित बुद्धि को उत्पन्न करती है[८३]। उन्हीं की आज्ञा से बुद्धि से अहंकार और अहंकार से पंचतन्मात्रायें एवं मन के सहित एकादश इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। उन्हीं के शासन से पंचतन्मात्रायें पंचमहाभूतों को प्रादुर्भूत करती हैं। उन्हीं की आज्ञा से समग्र महाभूत ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त देहधारियों की देहसंगति को करवाते हैं अर्थात् देहधारियों को उत्पन्न करते हैं। यह उन्हीं की आज्ञा का परिणाम है कि बुद्धि अध्यवसाय एवं अहङ्कार अभिमान करता है। उन्हीं के आदेश से चित चेतन एवं मन संकल्प-विकल्प करता है। उन्हीं के इङ्गित से श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् केवल अपने-अपने विषयों को ग्रहण करतीं तथा

---

७९. संसारकारणं यत्तु मलं मायाद्यचेतनम्।
तत्स्वयं न प्रवर्तेत शिवसान्निध्यमन्तरा॥
यथा मणिरयस्कान्तः सान्निध्यादुपकारकः।
अयसश्चलतस्तद्वच्छिवोऽप्यस्येति सूरयः॥ शिव० ७, १, ३१, ८८–८९।

८०. न निवर्तयितुं शक्यं सान्निध्यं सदकारणं।
अधिष्ठाता ततो नित्यमज्ञातो जगतः शिवः॥ वही, ७, १, ३१, ९०।

८१. न शिवेन विना किंचित्प्रवृत्तमिह विद्यते।
तत्प्रेरितमिदं सर्वं तथापि स न मुह्यति॥ वही, ७, १, ३१, ९१।

८२. शक्तिराज्ञात्मिका तस्य नियन्त्री विश्वतोमुखी।
तया ततमिदं शश्वत्तथापि स न दुष्यति॥ वही, ७, १, ३१, ९२।

८३. ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तान् पशून् बद्ध्वा महेश्वरः॥
पाशैरेतैः पतिर्देवः कार्यं कारयति स्वकम्।
तस्याज्ञया महेशस्य प्रकृतिः पुरुषोचिताम्॥
बुद्धिं प्रसूते ....। वही, ७, २, २, १४–१६।

कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कर्म को सम्पन्न करती हैं। यह उन्हीं परमात्म-शिव की ही आज्ञा है कि संसार की प्रत्येक वस्तुयें अपने-अपने कार्य में सर्वदा संलग्न रहती हैं और उनके लिए यह सम्भव नहीं होता कि वे नियम का रंच-मात्र भी उल्लंघन कर सकें। परमात्म-शिव की आज्ञा का उल्लंघन किसी भी प्राणी के लिए सम्भव नहीं[८४]। यह उन्हीं के शासन का परिणाम है कि धनाधिपति यक्षेन्द्र (कुबेर) भूतों को उनके पुण्यानुरूप सम्पत्ति एवं ज्ञान प्रदान करते हैं तथा ईशान असाधुओं का निग्रह करते हैं।

परमात्म-शिव एवं काल

काल संसार का कलन करने वाली परमात्म-शिव की शक्ति है। काल परमात्म-शिव की विश्वनियामिका, नियोगरूपा इच्छाशक्ति (बल) है[८५]। श्वेताश्वतरोपनिषद् में एवं स्वयं शिवमहापुराण में भी इच्छाशक्ति को 'बल' भी कहा गया है[८६]। यही कारण है कि काल को शिव महापुराण परमात्म-शिव का परम तेज भी कहता है। तेज एवं बल समान अर्थ के बोधक माने जाते हैं। समय के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला काल तो शिव के तेजरूप काल का स्थूल रूप अर्थात् शरीर है[८७]। काल के परमात्म-शिव के अप्रतिहत तेज होने के कारण ही यह अशेष स्थावर-जङ्गम संसार के लिये अलङ्घ्य है[८८]। यही कारण है कि सम्पूर्ण विश्व काल के वश में है, किन्तु काल विश्व के वश में नहीं है। यहां यह भी ध्यान देने की बात है कि काल स्वयं परमात्म-शिव के वश में है परन्तु परमात्म-शिव काल के वश में नहीं हैं। वे काल के स्वामी हैं।

संसार, शक्ति एवं परमात्म-शिव

सम्पूर्ण संसार परमात्म-शिव की शक्ति का कार्य है। संसार के मूलकारण परमात्म-शिव अपनी इसी शक्ति से सृष्टि के प्रारम्भ में, संसार का विस्तार

---

८४. अविलङ्घ्या हि सर्वेषामाज्ञा शम्भोर्गरीयसी। शिव० ७, २, २, २३।

८५. कालात्मेति समाख्यातं तेजो माहेश्वरं परम्॥
यदलङ्घ्यमशेषस्य स्थावरस्य चरस्य च। वही, ७, १, ७, ६–७।
नियोगरूपमीशस्य बलं विश्वनियामकम्॥ वही, ७, १, ७, ७,

८६. परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। श्वेता० ६, ८।
तुलना: – स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चेत्यस्तुवन्मुदा।
ज्ञानक्रियेच्छारूपं हि शम्भोर्दृष्टित्रयं विदुः॥ शिव० ६, १६, ४९।

८७. कलाकाष्ठनिमेषादि कलाकलितविग्रहम्।
कालात्मेति समाख्यातं तेजो माहेश्वरं परम्॥ वही, ७, १, ७, ६।

८८. यदलङ्घ्यमशेषस्य स्थावरस्य चरस्य च। वही, ७, १, ७, ७।

करते हैं। सृष्टि की समाप्ति पर, महाप्रलय के उपस्थित होने के समय समग्र संसार संकुचित होकर अपने कारण परमात्म-शिव में विलीन हो जाता है। उस समय परमात्म-शिव की यह शक्ति भी कार्य से निवृत्त हो उन्हीं में पूर्णतया विलीन हो जाती है। उस समय परमात्म-शिव का परं रूप (परं ब्रह्म शिव) ही एक-मात्र अवशिष्ट रहता है।

केनोपनिषद् के प्रेरक ब्रह्म

केनोपनिषद् में यह प्रश्न उठाया गया है कि— 'किससे प्रेरित होकर के मन इतस्ततः दौड़ता है ? प्राण चलता है ? वाणी बोलती है ? चक्षुः और श्रोत्र को उनके विषयों की ओर कौन नियुक्त करता है[८९]'। वहां पर इस प्रश्न का जो उत्तर दिया गया है उसका भाव यही है कि इन सबका प्रेरक ब्रह्म है।

तुलना:—

शिव महापुराण की वायवीय संहिता में परमात्म-शिव को संसार के सम्पूर्ण तत्वों एवं पदार्थों के प्रेरक के रूप में चित्रित करके वहां पर केन उप-निषद् का ही दृष्टान्त यह दिखलाने के लिए उपस्थित किया गया है कि सम्पूर्ण देवों की शक्तियाँ एवं प्राकृतिक शक्ति उन्हें परमात्म-शिव से ही प्राप्त होती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण संसार परमात्म-शिव का ही प्रकाशन है, ऐसी धारणा शिव महापुराण में, केनोपनिषद् की ही भांति, प्रस्तुत की गई है।

परमात्म-शिव के रूप में औपनिषदिक ब्रह्म

वस्तुतः सत्य बात तो यह है कि शैवाचार्यों ने औपनिषदिक ब्रह्म को ही लेकर, उनके लिये वेदान्त में वर्णित बातों की शैवदर्शन के दृष्टिकोण के अनु-सार व्याख्या कर, शिव (निष्कल एवं सकल शिव) के रूप में वर्णन किया है[९०]।

सांख्य की दृष्टि में जगत् का मूल कारण

सांख्य दर्शन भी, जगत् के मूल कारण के रूप में, प्रकृति पुरुष को स्वीकार करता है। उसके अनुसार तटस्थ पुरुष के सान्निध्य मात्र से प्रकृति संसार का प्रसव (निर्माण) करतो है। प्रकृति और पुरुष—ये दोनों ही मिलित रूप से—

---

८९. केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥केन० १, १।

९०. देखिये—श्वेताश्वतरोपनिषद् और पूर्ववायवीय संहिता, विशेषतः श्वेताश्वतरो-पनिषद् का तृतीय, चतुर्थ एवं षष्ठ अध्याय तथा शिव महापुराण की पूर्ववायवीय संहिता का षष्ठ अध्याय।

संसार की कारणता को प्राप्त होते हैं। उसकी दृष्टि में एक के बिना एक निरर्थक है, निष्प्रयोजन है।

तुलना :—

जैसा कि ऊपर सविस्तार बतलाया गया है कि इस संसार का मूल कारण, शिव महापुराण की दृष्टि में, परमात्म-शिव ही हैं। संसार-सम्बन्धी प्रत्येक कार्य उनकी शक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होता है। इस प्रकार संसार के मूल कारण के विषय में शिव महापुराण एवं सांख्य प्रायः समान मत रखते हैं।

वस्तुतः सांख्य ने जगत् के मूल कारण प्रकृति-पुरुष के सिद्धान्त को इसी वर्णन (सशक्तिक शिव के वर्णन) से ग्रहण किया है। किन्तु उसने इस सिद्धान्त की स्थापना विचारयुक्त पृष्ठभूमि पर की है। ऐसे सिद्धान्त की स्थापना में उसके समक्ष कोई आस्तिक भावना (ईश्वरवाद की भावना) न थी। यदि हम सांख्य की किसी शाखा को सेश्वर मान भी लें तो भी जब हम सम्पूर्ण सांख्य दर्शन को एक साथ मिला कर देखते हैं तो ईश्वरवाद की भावना पूर्णरूप से निरस्त हो जाती है।

शिव महापुराण एवं ईश्वर गीता

यहां सर्वाधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि शिव महापुराण की उत्तर-वायवीय संहिता में वर्णित शैवदर्शन, जो पूर्व वायवीय संहिता अथवा शेष शिव महापुराण से एक भिन्न ही दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, कूर्म पुराण की ईश्वर-गीता से अपने बहुलांश में प्रभावित है। इतना तो निश्चय है कि कूर्म पुराण की अपेक्षा शिव महापुराण अथवा कम से कम उसकी वायवीय संहितायें बहुत अर्वाचीन हैं। अतः संभव है कि इसके कर्त्ता ने कूर्मपुराण की ईश्वर गीता की अधिकांश बातें, कुछ शब्दों के परिवर्तन के साथ, प्रायः मूल रूप में ले ली हो, क्योंकि बहुलांश में साम्य के कारण इसे तो 'घुणाक्षर न्याय' से संगृहीत नहीं ही माना जा सकता। उदाहरणार्थ यहां कुछ प्रसंग दोनों पुराणों से उद्धृत किये जा रहे हैं :—

शिव महापुराण में, जैसा कि पहले भी निर्देश किया जा चुका है, कालात्मा को परमात्मशिव का परम तेज एवं विश्वनियामक नियोगरूप बल कहा गया है। यही कारण है कि सम्पूर्ण संसार काल के वश में है, काल, शिव के अतिरिक्त, और किसी के वश में नहीं है। काल में अप्रतिहत परमात्म शिव का तेज होने के कारण उसकी मर्यादा महती एवं दुरत्यया है। काल का उल्लंघन परमात्म-शिव के अतिरिक्त किसी के लिये सम्भव नहीं। काल

अजेय एवं सर्वजेता है[६१]। काल ही सब कुछ करता है, काल ही प्रजाओं का संहार एवं विश्व का पालन भी करता है[६२]।

ठीक इसी से मिलता जुलता भाव कूर्मपुराण में अभिव्यक्त हुआ है। वहाँ कहा गया है कि:—परमात्मा महेश्वर को काल, हर एवं प्राण भी कहा जाता है।[६३] इन्हीं परमात्मा महेश्वर में समग्र जगत् ओत-प्रोत रहता है। ये कालाग्नि हर ही वेदवादियों के द्वारा गाये जाते हैं।

काल ही सम्पूर्ण प्राणियों की सृष्टि करता है, वही उनका संहार भी करता है। सभी काल के वश में हैं किन्तु काल किसी के वश में नहीं है[६४]। परमात्म-शिव को योगी अथवा योगिराज कहा जाता है, अतः काल को भी 'योगी' इस विशेषण से विशिष्ट करते हुए कहा गया है कि—योगी काल के द्वारा (योगिना कालेन) प्रधान पुरुष आदि सभी तत्त्व व्याप्त हैं। इनकी सर्व जगन्मूर्ति शक्ति ही माया के नाम से विश्रुत है। कालस्वरूप, सर्वशक्तीश, मायावी परमात्म-शिव ही इस समग्र संसार का निर्माण एवं संहार करते हैं। ये काल ही विश्व की स्थापना करते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् कालाधीन ही है[६५]।

शिव महापुराण में वर्णित शक्तिमान् शिव (परमात्म-शिव) की ही भाँति यहाँ भी उन्हें शक्तिसम्पन्न एवं अद्वय ही कहा गया है। सर्वगता, अनन्ता, केवला, शिवानाम्नी उनकी शक्ति बतलाई गयी है। इनके अतिरिक्त जो भी शक्तियाँ एवं शक्तिमान् हैं, वे सभी शक्ति से उत्पन्न बतलाये गये हैं[६६]। परमात्म-शिव को भी सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित सर्वाधार, निरंजन, नित्यानन्द, निराभास, निर्गुण, तम से परे, अद्वैत, अचल, ब्रह्म, निष्कल, निष्प्रपंच, स्वसंवेद्य, अवेद्य अथ च पराकाश में स्थित बतलाया गया है। इस प्रकार शिव की निष्कलावस्था एवं सकलावस्था-उभयविध दशाओं-का वर्णन सम्पन्न हो जाता है।

---

६१. देखिये — शिवमहापुराण की पूर्ववायवीय संहिता का सप्तम अध्याय।

६२. कालः करोति सकलं कालः संहरति प्रजाः। शिव० ७, २, २, ३५।
कालः पालयते विश्वं·······················। वही, ७, २, २, ३६।

६३. प्रोच्यते भगवान् कालो हरः प्राणो महेश्वरः। कूर्म० १२, १२।

६४. कालः सृजति भूतानि कालः संहरति प्रजाः।
सर्वे कालस्य वशगा न कालः कस्यचिद्वशे॥ वही, १२, १७।

६५. करोति कालः सकलं संहरति काल एव हि।
कालः स्थापयते विश्वं कालाधीनमिदं जगत्॥ वही, १२, २४।

६६ एका शक्तिः शिवैकोऽपि शक्तिमानुच्यते शिवः।
शक्तयः शक्तिमन्तोऽन्ये सर्वे शक्तिसमुद्भवाः॥ वही, १२, २७।

इसके अतिरिक्त अन्य तात्त्विक साम्य के साथ ही सबसे विलक्षण समता तो वहाँ पर है जहाँ कि दोनों महापुराण यह स्वीकार करते हैं कि पशुओं को परमात्म-शिव ही मल-माया आदि पाशों से बाँधते हैं और भक्ति के द्वारा सम्यग् उपासित होने पर वे ही उनको छोड़ते भी हैं। परमात्म-शिव के अतिरिक्त अन्य कोई इस कार्य को नहीं करता[६७]।

सभी शैवदर्शनों के साथ ही पूर्ववायवीयसंहिता ने भी यह स्वीकार किया है कि पशुओं (आत्मा) के मल स्वाभाविक हुआ करते हैं[६८]। परमात्म-शिव उन मलों के मोचक हैं। किन्तु उत्तर वायवीय संहिता एवं कूर्मपुराण की ईश्वर गीता में समान रूप से स्वीकार किया गया है कि परमात्म-शिव ही पशुओं को मलमाया आदि पाशों से बाँधते हैं।

शिवमहापुराण के अनुसार ही कूर्म पुराण में भी शिव के सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वच्छन्दता, नित्य ही अलुप्तशक्तित्व, अनन्तशक्तित्व स्वरूप षडङ्ग कहे गये हैं। ठीक यही भाव, इन्हीं शब्दों के द्वारा, इसी छन्द में शिव महापुराण में उपलब्ध होता है[६९]।

शिव महापुराण की भांति कूर्मपुराण में भी अद्वैत शैववाद एवं द्वैताद्वैत (शक्तिविशिष्टाद्वैत) शैववाद का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। दोनों ही यह मानते हैं कि अन्तिम सत्ता-परं ब्रह्म-एक है और यह सम्पूर्ण जगत् इसमें ही ओत-प्रोत है।

शिव महापुराण एवं आचार्य शङ्कर के जागतिक दृष्टिकोण की तुलना

ऊपर यह देखा गया है कि यह सम्पूर्ण संसार परमात्म-शिव का ही रूपक है। संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को देव-सदृश मानने का यह सिद्धान्त आचार्य शङ्कर एवं उनके अनुयायियों के वेदान्त के एकेश्वरवादी सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है। वेदान्त के अनुसार सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही सत्य एवं वास्तविक सत्ता है; उसके अतिरिक्त संसार के सम्पूर्ण पदार्थ, जिन्हें हम देखते और जानते हैं, ब्रह्म की सत्यता पर आभास के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

---

६७. तुलनाः—मलमायादिभिः पाशैः स बध्नाति पशून् पतिः।
स एव मोचकस्तेषां भक्त्या सम्यगुपासितः॥ शिव० ७, २, २, १२-१३
मायापाशेन बध्नामि पशूनेतान् स्वलीलया।
मामेव मोचकं प्राहुः पशूनां वेदवादिनः॥ कूर्म० ९, १६।
मायापाशेनबद्धानां मोचकोऽन्यो न विद्यते। वही, ७, २०।

६८. स हेतुरात्मनामेव निजो नागन्तुको मलः॥ शिव० ७, १, ३१, ६१।

६९. देखिये—शिव० १, १८, १२॥ कूर्म० उत्तरार्द्ध, ८, १३।

उसकी दृष्टि में मृगमरीचिका में प्रतीत होने वाले रजत के समान यह समग्र संसार मिथ्या है और उसके मिथ्यात्व की प्रतीति तब होती है जब व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त करता है। किन्तु इस मुक्ति की प्राप्ति के लिये, जिसमें कि सम्पूर्ण संसार का भ्रम ही दूर हो जाता है, समय की एक अवधि अपेक्षित होती है।

किन्तु शिव महापुराण के उक्त स्थलों में तो यही कहा गया है कि स्थावर-जङ्गमात्मक सम्पूर्ण संसार परमात्म-शिव के विभिन्न वास्तविक स्वरूप हैं और उन्हीं के द्वारा अनुशासित होते हैं। पशुओं (आत्मा) के कल्याण के लिये ही वे (परमात्म-शिव) सम्पूर्ण पदार्थों को उनके लिये निर्धारित कार्यों में संलग्न भी करते हैं और बाद में यह पशु (आत्मा) भी और कुछ न होकर परमात्म-शिव का अङ्गभूत ही प्रतीत होता है। अमित तेजस्वी परमात्म-शिव की मूर्तियों से ही यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उनके अतिरिक्त इसमें कुछ भी नहीं है[१००]।

प्रत्यभिज्ञा के परं शिव

काश्मीर शैवदर्शन की दृष्टि में अन्तिम सत्ता 'चित्' अथवा 'परा संवित्' रूप है। सम्पूर्ण परिवर्तन शील वस्तुओं में यह एक अपरिवर्तनीय सिद्धान्त है। यह एक ऐसा तत्त्व है जिसमें 'अहम्' (अर्थात् ब्रह्मांश) और इदम्' (अर्थात् संसारांश) का भेद नहीं किया जा सकता। यह 'अहम्' एवं 'इदम्' के अविभाज्य संयोगस्वरूप है। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के शब्दों में यह 'प्रकाशविमर्शमय' है। यह अन्तिम सत्ता अथवा परमात्मा परम शिव भी कहा जाता है। यह केवल प्रकाश ही नहीं है। जिस प्रकार प्रकाश अन्धकार में स्थित वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार 'परम शिव' द्वारा भी इससे अतिरिक्त समग्र पदार्थ प्रकाशित होते हैं। कठोपनिषद् में कहा भी गया है —'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति' (२, १५)।

शाङ्कर वेदान्त भी अन्तिम सत्ता को प्रकाश कहता है, किन्तु सूर्य भी एक प्रकाश है, हीरक में भी एक प्रकाश है। आखिर दोनों में अन्तर क्या है?

प्रकाश विमर्शमय अन्तिम सत्ता

काश्मीर शैवदर्शन कहता है कि अन्तिम सत्ता केवल प्रकाशस्वरूप ही नहीं है, यह विमर्श भी है। इस प्रकार अन्तिम सत्ता न केवल प्रकाशस्वरूप है अपितु यह ऐसा प्रकाश है जो अपने आप में विमर्श भी करता है। हीरक के

१००. भगवन् परमेशस्य शर्वस्यामिततेजसः।
मूर्तिभिर्विश्वमेवेदं यथाव्याप्तं तथा श्रुतम्॥ शिव० ७, २, ४, १॥

अन्दर निहित प्रकाश की भांति यह एकमात्र जड प्रकाश नहीं है, अपितु यह वह प्रकाश है जो अपने आप के विषय में परीक्षण भी किया करता है। अन्तिम सत्ता के द्वारा विहित यह अपने आपका परीक्षण ही 'विमर्श' कहा जाता है, जैसा कि 'क्षेमराज' ने भी अपनी 'पराप्रावेशिका' (पृ २) में इसकी परिभाषा करते हुए इसे 'अकृत्रिमहमिति विस्फुरणम्' कहा है। यह विस्फुरण किसी सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं रखता। यह 'इदम्' का तात्कालिक स्फुरण है। यदि यह सत्ता केवल प्रकाश ही होती और इसमें विमर्श का अभाव होता तो यह शक्तिशून्य एवं जड होती[१०१]। यह 'इदम्' का बिमर्श ही जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं विनाश के लिये उत्तरदायी है।

'चित्' अपने आपको चिद्रूपिणी शक्ति के रूप में विमर्श करती है। चिद्रूपिणी शक्ति के रूप में यह आमर्षण ही विमर्श कहा जाता है। यही कारण है कि विमर्श पराशक्ति, परावाक्, स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द आदि नामों से अभिहित किया जाता है[१०२]।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि अन्तिम सत्ता न केवल सांसारिक चैतन्य ही है अपितु यह सांसारिक ब्रह्म सम्बन्धी शक्ति भी है। यह सर्वव्यापक सांसारिक चैतन्य अनुत्तर भी कहा जाता है। यह विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों ही है।

अन्तिम सत्ता अनन्त शक्ति रखती है। संसार का प्रकाशन इसका स्वभाव है। यदि यह अपना प्रकाश न करती तो यह चैतन्य अथवा आत्मा न होकर एक अनात्मीय वथवा निर्जीव पदार्थ होती। इसी बात को अभिनवगुप्त ने भी कहा है:-

श्लोक :—अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्षद घटादिवत्॥ तन्त्रा० ३ आह्नि १०

अर्थात् 'यदि अन्तिम सत्ता अपने आपको अनन्तरूपों में व्यक्त न कर केवल एक स्वरूप ही बनी रहती तो न तो यह महेश्वरत्त्व का आश्रय होती और न तो संवित्त्व (चैतन्य) का ही'।

अन्तिम सत्ता में 'अहम्' एवं 'इदम्'

ऊपर यह देखा गया है कि अन्तिम सत्ता अथवा परम-शिव 'प्रकाश विमर्शमय' है। उस अवस्था में 'अहम्' एवं 'इदम्' अभेदावस्था में रहते हैं। 'अहम्'

१०१. यदि निर्विमर्शः स्यादनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत॥ पराप्रा०, पृ० २।
१०२. (क) देखिये—'क्षेमराज' की 'पराप्रा०' पृ. २।
(ख) 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' पर जयदेवसिंह कृत भूमिका।

प्रकाशधारा एवं 'इदम्' की अनुभूति विमर्श धारा है। यह विमर्श ही स्वातन्त्र्य है, यही पूर्ण इच्छा एवं शक्ति है। यही शक्ति परम-शिव का हृदय कही गई है[१०३]। किन्तु शक्ति परम शिव की एक अन्य धारा (स्वरूप) है। अन्तिम सत्ता के अनुभव में तथाकथित 'इदम्' अन्य कुछ न होकर एकमात्र उसका स्वत्व ही है। इस जगत् में अपने आपका अनुभव करने वाली एक ही सत्ता अथवा स्वत्व है। यह शक्ति अथवा विमर्श सन्तोष अथवा प्रसन्नता-रहित नहीं है। सभी संभाव्य पदार्थ इस में अन्तर्निहित रहते हैं।

जिस प्रकार विशाल वट वृक्ष शक्तिरूप में एक बीज के अन्दर निहित रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण संसार (जड-चेतन सभी) अन्तिम सत्ता के हृदय में शक्ति के रूप से निहित रहता है[१०४]।

इसी प्रकार और भी एक अन्य उदाहरण, एतदर्थ इस प्रकार दिया जाता है :—जिस प्रकार एक मयूर अपने सम्पूर्ण अवयवों के साथ अण्ड में शक्ति के रूप में निहित रहता है उसी प्रकार यह समग्र संसार परम शिव की शक्ति में, शक्तिरूप में, पड़ा रहता है।

तुलना

शिव महापुराण निष्कल एवं सकल शिव को–दोनों को-चिदात्मक अर्थात् चैतन्यस्वरूप मानता है[१०५]। परमात्मा को चैतन्य स्वरूप बतलाते हुये शिव महापुराण 'शिवसूत्र' का भी उद्धरण देता है[१०६]। 'शिवसूत्र' प्रत्यभिज्ञादर्शन का मान्य ग्रन्थ है। इस प्रकार शिव महापुराण एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन दोनों ही अपनी-अपनी दृष्टि से अन्तिम सत्ता को चैतन्यस्वरूप मानते हैं।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन परम शिव में परा शक्ति एवं इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया आदि शक्तियों की सत्ता स्वीकार करता है। इन्हीं शक्तियों से संसार का विस्तार आदि कार्य होता है। किन्तु शिव महापुराण के अनुसार अन्तिम सत्ता, जिसे निष्कल शिव कहा जाता है, किसी प्रकार की शक्ति (सुस्फुट शक्ति) से रहित है। वह पूर्ण निर्गुण, निष्कल एवं क्रिया आदि से रहित है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा में व्याख्यात परम शिव का स्वरूप शिव महापुराण में दो स्वरूपों-निष्कल एवं सकल–में वर्णित है।

---

१०३. 'हृदयं परमेशितुः' क्षेमराजकृत 'पराप्रा०', पृ० १।

१०४. यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम् ॥ क्षेमराजकृत 'पराप्रा०', पृ० ११।

१०५. अद्वितीयमनाद्यन्तमविकाशं चिदात्मकम् ॥ शिव० २, १, ६, १३।
चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम् ॥ वही, ६, १६, ४४।

१०६. देखिये—१०२ का उद्धरण।

द्वैतवादी शैवदर्शन और परमात्म-शिव

द्वैतवादी शैवदर्शन, समग्र संसार का स्वामी होने के कारण परमात्म-शिव को पति कहता है। इसके अनुसार भी पति एक ही हैं। वे मलों से रहित एवं राग-द्वेष-शून्य हैं। वे सभी के प्रति कृपालु, चेतन, एवं सूक्ष्मग्राही हैं। वे सभी के प्रेरक हैं। उनको स्वतन्त्रता स्वाभाविक है। वे कारणरहित एवं सबके कारण हैं। उनके संकल्पमात्र से संसार प्रादुर्भूत होता है[१०७]। उनकी शक्ति उनमें अभेद सम्बन्ध से रहती है। द्वैतवादी शैवदर्शन शिव एवं शक्ति में भेदाभेद स्वीकार करता है[१०८]। इनके अनुसार हेतु, शास्त्र एवं योगियों के प्रत्यक्ष से सिद्ध संसार का प्रत्याख्यान (अवास्तविकता) असम्भव है[१०९]। इस प्रकार संसार की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करते हुये भी द्वैतवादी पति एवं संसार में अभेद नहीं स्वीकार करते। उनकी दृष्टि में पति एवं संसार दो वस्तुयें हैं[११०]।

तुलना :—

द्वैतवादी शैवदर्शन की दृष्टि से स्वीकृत, अन्तिम सत्ता, शक्तिमान् शिव (पति), शिव महापुराण के परमात्म-शिव, जिन्हें शक्तिमान् शिव भी कहा गया है, से पूर्ण साम्य रखते हैं, किन्तु शिव महापुराण अन्तिम सत्ता (परमात्म-शिव अथवा पति) की एक अन्य भी धारा मानता है, जिसे निर्गुण एवं निष्कल शिव कहा जाता है और जो परमात्म-शिव (शक्तिमान् शिव) से भी परे सबके मूल कारण के रूप में वर्तमान है[१११]। इसके अतिरिक्त शिव महापुराण संसार की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करते हुये भी उसे परमात्म-शिव से अभिन्न मानता है। उसकी दृष्टि में दोनों में कुछ भी भेद नहीं है। किन्तु द्वैतवादी शैवदर्शन तो संसार की वास्तविकता मानते हुये भी उसे शक्तिमान् शिव से भिन्न ही मानता है। इस प्रकार दोनों में परमात्म-शिव (पति) के विषय में न तो पूर्ण ऐकमत्य है और न तो परमात्म-शिव (पति) एवं संसार के विषय में ही।

---

१०७. 'रत्न०', श्लो० १६ पर अघोर शिवाचार्य की टीका।

१०८. अनन्यापि विभिन्नातः शम्भोः सा समवायिनी।
स्वाभाविकी च तन्मूला प्रभा भानोरिवामला ॥ रत्न० ३०२।

१०९. यथास्वं हेतुभिः शास्त्रैः प्रत्यक्षैरपि योगिनाम्।
प्रसिद्धानध्वनः शुद्धान् प्रत्याचष्टे कथं सुधीः ॥रत्न० १४४।

टिप्पणी—यहाँ शुद्ध शब्द शुद्धाशुद्ध उभयात्मक संसार का उपलक्षक है। उक्त श्लोक पर अघोर शिवाचार्य की टीका।

११०. अनुमानस्य साफल्यमपि भेदग्रहे सति ॥ वही, २२७।

१११. देखिये-इसी अध्याय का 'एक ही सत्ता के दो रूप' उपशीर्षक।

द्वितीय अध्याय

शक्ति

परमात्म-शिव में शक्ति की सत्ता

प्रथम अध्याय में यह देखा गया है कि शिवत्व एवं शक्तित्व का समवाय ही परमात्म-शिव अथवा सकल शिव है[1]। परमात्म-शिव की शक्ति को उनकी इच्छा भी कहते हैं[2]। जिस प्रकार व्यक्ति की इच्छा उसमें अभेद सम्बन्ध से रहती है, उसी प्रकार परमात्म-शिव की इच्छारूपा शक्ति उनमें अभिन्न होकर वर्तमान रहती है। परमात्म-शिव में शक्ति की स्थिति स्वाभाविक है[3], यही कारण है कि उनका शक्ति से विप्रयोग कभी भी नहीं होता[4]।

परमात्म-शिव और शक्ति में अभेद

वस्तुतः परमात्म-शिव और शक्ति में कुछ भी भेद नहीं है। शक्ति के विना परमात्म-शिव की कल्पना ही असम्भव है। परमात्म-शिव (सकल शिव) के अस्तित्व में आने का एकमात्र कारण शक्ति[5] (कला) ही है। ये दोनों ही अभिन्न हैं। जैसे शिव हैं वैसी ही देवी हैं और जैसी देवी हैं वैसे ही शिव हैं। चन्द्र एवं चन्द्रिका की भाँति इन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है[6]।

परमात्म-शिव एवं शक्ति की परस्परापेक्षा

जिस प्रकार प्रभा के विना भानु नहीं हो सकता और भानु के विना प्रभा नहीं हो सकती उसी प्रकार शक्ति और परमात्म-शिव की भी परस्परापेक्षा है[7]।

---

१. एवं शिवत्वं शक्तित्वं परमात्मनि दर्शितम्। शिव०, ६, १६, ३३।
शिवशक्तिसमायोगः परमात्मेति निश्चितम्॥ वही, ६, १६, ५४।

२. सदा शिवाङ्कमारूढा शक्तिरिच्छा शिवाह्वया।
जननी सर्वलोकानां............................। वही, ७ २, ३१, २२।
एषैवेच्छा शक्तितत्त्वं ....। वही, ६, १६, ७१।

३. अपरे तु पराशक्तिः शिवस्य समवायिनी। वही, ७, १, २६, ३३।

४. नहि शक्तिमतः शक्त्या विप्रयोगोऽस्ति जातुचित्। वही, ७, २, ७, २१।

५. कला या परमा शक्तिः कथिता परमात्मनः। वही, ७, २, ४, २९।

६. यथा शिवस्तथा देवी यथा देवी तथा शिवः।
नानयोरन्तरं विद्याच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥ वही, ७, २, ४, ९।

७. प्रभया हि विना यद्वद् भानुरेष न विद्यते॥
प्रभा च भानुना तेन सुतरां तदुपाश्रया॥
एवं परस्परापेक्षा शक्तिशक्तिमतोः स्थिता। वही, ७, २, ४, ११-१२।

परमात्म-शिव के विना शक्ति और शक्ति के विना परमात्म-शिव नहीं रह सकते[८]।

शक्ति परमात्म-शिव के प्रकाशन का साधन

जिस प्रकार चन्द्रिका के विना चन्द्र नहीं प्रकाशित हो सकता उसी प्रकार विद्यमान भी परमात्म-शिव शक्ति के विना प्रकाशित नहीं हो सकते[९]। शक्ति के विना परमात्म-शिव का कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। प्राणियों की भक्ति एवं मुक्ति के विषय में परमात्म-शिव शक्ति के द्वारा ही समर्थ होते हैं[१०]।

कर्मकाण्ड में भी परमात्म-शिव एवं शक्ति में साम्य

दार्शनिक क्षेत्र में वर्तमान परमात्म-शिव एवं शिवा (शक्ति) के उक्त अभेद के आधार पर ही कर्मकाण्ड में भी उनमें परस्पर अभेदोपचार होता है। शिव-महापुराण के अनुसार देव (परमात्म-शिव) एवं देवी शिवा (शक्ति) का स्नानादिक पूजन समानरूप से ही होना चाहिये। उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है; क्योंकि वे दोनों ही समान हैं[११]। लिङ्ग अथवा कहीं भी प्रतिमा आदि में अर्द्ध-नारीश्वर की पूजा के अवसर पर परमात्म-शिव एवं शक्ति (शिवा) के बीच उपचार का कोई भी पौर्वापर्य नहीं है। यह अर्चक की इच्छा पर निर्भर होता है कि वह पहले परमात्म-शिव को वस्तु समर्पित करे कि शिवा (शक्ति) को[१२]

लोक में अर्द्धनारीश्वर की पूजा का आधार परमात्म शिव की कल्पना

लोक में अर्द्धनारीश्वर की पूजा का आधार परमात्म-शिव अर्थात् शक्ति से विशिष्ट शिव की कल्पना ही है। यह शैव आचार्यों की परम निपुणता थी कि उन लोगों ने दार्शनिक सिद्धान्त को व्यावहारिक जगत् में मूर्तरूप देन का सफल प्रयत्न किया। व्यावहारिक जगत् में ब्रह्म की शक्तिमत्ता को बतलाने के लिये इससे उत्तम उपाय और क्या हो सकता है ? अन्य दर्शनों में ऐसी दिव्य कल्पना देखने में नहीं आती।

---

८. न शिवेन विना शक्तिर्न च शक्त्या विना शिवः ।। शिव० ७, २, ४, १२।

९. चन्द्रो न खलु भात्येष यथा चन्द्रिकया विना ।
न भाति विद्यमानोऽपि तथा शक्त्या विना शिवः ।। वही, ७, २, ४, १०।

१०. शक्तो यथा शिवो नित्यं भुक्तौ मुक्तौ च देहिनाम् । वही, ७, २, ४, १३।

११. यथा देवस्य देव्याश्च कुर्याद् स्नानादिकं तथा ।।
न तु कश्चिद् विशेषोऽस्ति तत्र तौ सदृशौ यतः ।। वही, ७, २, २४, ४९।

१२. अर्द्धनारीश्वरे पूज्ये पौर्वापर्यं न विद्यते ।
तत्र तत्रोपचाराणां लिङ्गे वाऽन्यत्र वा क्वचिद् ।। वही, ७, २, २४, ५१।

वस्तुतः एक ही सत्ता के शिव (परमात्म-शिव) एवं शक्ति दो नाम

वस्तुतः शक्ति, शिव (परमात्म-शिव) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अपितु यह शिव (परमात्म-शिव ही) है। संसार के निर्माण के लिए एक ही सत्ता (परमात्म-शिव) अपने आपको कर्त्ता एवं कारण दो रूपों में विभक्त कर लेती है। कर्त्ता एवं कारण के रूप में यह भेद कार्यानुरूप ही कल्पित होता है[13]। यह शक्ति, शिव (परमात्म-शिव) से व्यतिरिक्त नहीं है[14]। तथापि कार्यानुरूप कल्पित भेद को मानकर ही एक ही सत्ता में (परमात्म-शिव में) शिव-शक्ति-भाव व्यवहृत होता है। एक ही सत्ता के कर्त्ता एवं कारण-उभयविध-रूपों का विविक्त रूप से समझाने के लिए ही परमात्म-शिव से शक्ति के प्रादुर्भाव की कल्पना की गई है[15]।

एक ही शक्ति के अनेक अभिधान

परमात्म-शिव में नित्य सम्बन्ध से रहने वाली यह शक्ति ही, इच्छाशक्ति, आज्ञाशक्ति[16], शैवी शक्ति[17], पराशक्ति आदि नामों से अभिहित की जाती है। समस्त कार्यरूप जगत् की मूल प्रकृति होने के कारण इसे मूल-प्रकृति[18] भी कहा जाता है।

शक्ति का स्वभाव

परमात्म-शिव की यह शक्ति एक, परा, चिन्मयी एवं शिवसंश्रया कही गई है[19]। यतः शक्ति एवं परमात्म-शिव में अभेद है, अतः परमात्म-शिव के सम्पूर्ण गुण शक्ति में भी स्वीकार किये जाते हैं। यही कारण है कि शक्ति को परमात्म-शिव की समान धर्मिणी कहा गया है[20]। यह शक्ति, शैवी परा

---

१३. स कर्ता कारणं सेति तयोर्भेदो व्यवस्थितः।
एक एव शिवः साक्षाद् द्विधाऽसौ समवस्थितः॥ शिव० ७, १, २९, ३२।

१४. न हीशो भगवाञ्छक्त्या ह्यात्मनो व्यतिरिक्तया।
कदाचिद्रमते रुद्रो लीलारूपधरो हरः॥ वही, ३, ८, ३४।

१५. शक्तिस्तदैकलेनापि स्वयं विहरता तनुः।
स्वविग्रहात् स्वयं सृष्टा स्वशरीरानपायिनी॥ वही, २, १, ६, १९।

१६. ईशेच्छा च विधातृत्वं विधिराज्ञापनं परम्।
आज्ञावश्यमिदं कुर्यान्न कुर्यादिति शासनम्॥ वही, ७, १, ३१, २८।

१७. कोटिसूर्यप्रतीकाशां शैवीं शक्तिं च चिन्तयेत्॥ ७, २, १८, ३७।

१८. समस्तकार्यजातस्य मूलप्रकृतितां गता। वही, ७, १, २९, ७।

१९. आद्या सैका परा शक्तिश्चिन्मयी शिवसंश्रया॥ वही, ७, २, ४, १३।

२०. यामाहुरखिलेशस्य तैस्तैरनुगुणैर्गुणैः।
समानधर्मिणीमेव शिवस्य परमात्मनः॥ वही, ७, २, ४, १४।

विद्या, दिव्या, पंचार्थसंज्ञिता (कार्य, कारण, योग, विधि एवं दुखान्तरूपा) तथा पशु-पाश से परे बतलाई गई है[२१]। विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह न तो आत्मसम्बन्धिनी है और न तो माया तथा विकार ही है; न तो बन्धन है और न मुक्ति ही। यह बन्धन मुक्ति विधायिनी परमात्म-शिव की अव्यभिचारिणी शक्ति सर्वैश्वर्य की पराकाष्ठा है[२२]। परमात्म-शिव के तत्तद्-भाव इसमें भी वर्तमान रहते हैं[२३]।

शक्ति का बहुधा स्वविभाजन

विश्व-विलक्षणा, परमात्म-शिव की स्वाभाविकी यह शक्ति एक होते हुए भी भानु की अमल प्रभा की भांति अनेक रूपों से प्रकाशित होती है। अग्नि से चिनगारी की भांति इससे ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया आदि अनन्त शक्तियाँ निःसृत होती हैं[२४]। वस्तुतः यह ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया रूपा ही है[२५]। यथार्थ बात तो यह है कि एक ही शक्ति संसार से निखिल कार्यों का संपादन करती है। तत्तत्कार्यों के अनुरूप ही इस एक परा शक्ति के ही अनेक नाम हो जाते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर शिव महापुराण में कहा भी गया है कि प्रसवधर्मिणी यह शक्ति, परमात्म-शिव की इच्छा से (अर्थात् अपने आप क्योंकि शक्ति इच्छारूपा भी है)[२६] अपने को बहुत प्रकार से विभक्त कर संसार का निर्माण आदि कृत्य करती है[२७]।

---

२१. अथ विद्या परा शैवी ...... । पंचार्थसंज्ञिता दिव्या पशुविद्याबहिष्कृता ।
शिव० ७, २, ३१, १६४ ।

२२. नात्मनो नैव मायैषा न विकारो विचारतः ।
न बन्धो नाऽपि मुक्तिश्च बन्धमुक्तिविधायिनी ॥ वही, ७, १, २६, २६ ।

२३. सर्वैश्वर्यपराकाष्ठा शिवस्याव्यभिचारिणी ।
समानधर्मिणी तस्य तैस्तैर्भावैर्विशेषतः ॥ वही, ७, १, २६, ३० ।

२४. शक्तिः स्वाभाविकी तस्य विद्या विश्वविलक्षणा ।
एकानेकस्य रूपेण भाति भानोरिव प्रभा ॥ वही, ७, २, ७, १ ।
अनन्ता शक्तयो यस्या इच्छाज्ञानक्रियादयः ।
मायाद्याश्चाभवन् वह्नेर्विस्फुलिङ्गा यथा तथा ॥ वही, ७, २, ७, २, ।

२५. धृतिरेषा स्थितिर्निष्ठा ज्ञानेच्छाकर्मशक्तयः । वही, ७, २, ७, ६ ।

२६. सदा शिवाङ्कमारूढा शक्तिरिच्छा शिवाह्वया । वही, ७, २, ११, २२, ।

२७. सैका परा च चिद्रूपा शक्तिः प्रसवधर्मिणी ।
विभज्य बहुधा विश्वं विदधाति शिवेच्छया ॥ वही, ७, २, ४, १५ ।

शक्ति और जगत्

परमात्म-शिव की इच्छा की अनुयायिनी यह परा शक्ति स्थिर एवं चर समग्र संसार का निर्माण करती है[२८]। यहां यह स्मरणीय है कि पराशक्ति परमात्म शिव की इच्छा रूपा ही है। अतः जहां यह कहा जाता है कि पराशक्ति परमात्म-शिव की इच्छा के अनुसार कार्य करती है वहां परमात्म-शिव का प्राधान्य प्रदर्शित करना प्रधान उद्देश्य रहता है। परमात्म-शिव के संयोग से संसार का प्रसव करने के कारण शक्ति को माता भी कहा जाता है[२९]।

सम्पूर्ण संसार शक्तिमय है

सम्पूर्ण संसार का निर्माण करके यह शक्ति इसमें (संसार में) उसी प्रकार से व्याप्त रहती है जैसे आत्मा से शरीर व्याप्त रहता है। यही कारण है कि सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गमात्मक संसार शक्तिमय कहा गया है[३०]। यह समग्र संसार शक्ति से उत्पन्न होता है और अन्त में जाकर शक्ति में ही विलीन भी हो जाता है[३१]।

शक्ति शुद्धाध्वा का उपादान कारण भी है

जिस प्रकार प्रेरित कर्त्ता 'लूता' (मकड़ी), स्वतन्त्रकर्त्ता परमात्म-शिव से प्रेरित होकर उपादान कारणभूत अपने शरीर से तन्तुजाल का निर्माण करती है और जाल का कर्त्ता कारण एवं उपादान कारण—दोनों ही – स्वयं (लूता) ही होती है। उसी प्रकार परमात्म-शिव से प्रेरित होकर संसार का निर्माण अथवा विस्तार करने के कारण शक्ति संसार का कर्ता कही गई है। इस प्रकार यह संसार का स्वतन्त्रकर्त्ता न होकर प्रेरितकर्त्ता ही है, क्योंकि परमात्म-शिव की प्रेरणा के अनुसार ही यह संसार का निर्माण करती है[३२]। इसके अतिरिक्त संसार के निर्माण का आधारभूत पदार्थ शक्ति ही है। शक्ति से

---

२८. एवमेषा पराशक्तिरीश्वरेच्छानुयायिनी।
स्थिरं चरं च यद्विश्वं सृजतीति विनिश्चयः॥ शिव० ७, २. ४, ३०।

२९. यथा च जायते पुत्रः पितरं मातरं विना।
तथा भवं भवानीं च विना नैतच्चराचरम्॥ वही, ७, २, ४, ३७।

३०. किमत्र बहुनोक्तेन यद्विश्वमिति कीर्तितम्।
शक्त्यात्मनैव तद्व्याप्तं यथा देहोऽन्तरात्मना॥
तस्माच्छक्तिमयं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्॥ वही, ७, २, ४, २८-२९।

३१. त्वत्तः खलु समुत्पन्नं जगत्त्वय्येव लीयते॥ वही, ७, २, ३१, १८।

३२. शक्तिराज्ञां यदादत्ते प्रसूते तच्चराचरम्॥ वही, ७, २, ३४, १६।
देखिये—उदाहरण नम्बर २८।

ही संसार का विस्तार होता है। अतः यह संसार का उपादान कारण भी है[३३]। इस प्रकार शक्ति में जगत् का कर्त्तृत्व एवं कारणत्व दोनों ही उपपन्न होता है। यही कारण है कि शक्ति को जगत् का कर्त्ता कारण एवं उपादान कारण-दोनों ही—बतलाया गया है।

शक्ति का द्विधा परिणाम

शक्ति (परा प्रकृति) का द्विधा परिणाम होता है—शब्दभावना एवं अर्थभावना अर्थात् शक्ति शब्द एवं अर्थ के रूप में परिणमित होती है। यह द्विधा भावना ही परमात्मा (शिव एवं शिवा) की प्राकृत मूर्ति बतलाई गई है[३४]। शब्दात्मिका विभूति (शक्ति) त्रिधा-स्थूला, सूक्ष्मा एवं परा-कही गई है। सूक्ष्मा चिन्तामयी तथा परा चिन्तारहित अर्थात् चिन्ता से परे है। शिव तत्त्व (परमात्म-शिव) का समाश्रयण करने वाली शक्ति ही पराशक्ति है[३५]। शेष विचार 'षडध्व-प्रक्रिया' नामक अध्याय में किया जायगा।

शक्ति पाश-विच्छेदिका

परमात्म-शिव की ही भाँति, अपने ही गुणों से निगूढ रहने वाली यह शक्ति साक्षात् पशुओं (आत्मा) के पाश की विच्छेदिका बतलाई गई है[३६]। जब शक्ति के द्वारा पशुओं (आत्मा) के पाश काट दिये जाते हैं, तभी दिव्य नेत्र वाले पशु, सम्पूर्ण कारणों के भी कारण, शक्तिमान् शिव (परमात्म-शिव) को देखने में समर्थ होते हैं[३७]। यह शक्ति माया[३८] के द्वारा सम्पूर्ण चराचर ब्रह्माण्ड को मोहित करती है और लीलापूर्वक विना परिश्रम के ही, इसे मुक्त भी करती है[३९]।

---

३३. अनाद्यन्तं विश्वस्य यदुपादानकारणम् ॥
तदेव मूलप्रकृतिर्माया च गगनात्मिका।
तत एव समुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम् ॥ शिव० ७, २, ३४, ७–८।

३४. प्रकृतेः परिणामोऽयं द्विधा शब्दार्थभावना।
तामाहुः प्राकृतिं मूर्तिं शिवयोः परमात्मनोः ॥ वही, ७, १, २६, ३।

३५. या शक्तिः सा पराशक्तिः शिवतत्त्वसमाश्रया। वही, ७, १, २६, ५।

३६. पाशविच्छेदिकां साक्षान्निगूढां स्वगुणैर्भृशम्। वही, ७, २, ७, १६।

३७. तथा विच्छिन्नपाशास्ते सर्वकारणकारणम्।
शक्तिमन्तं महादेवमपश्यन् दिव्यचक्षुषा ॥ वही, ७, २, ७, १७।

३८. 'माया' का बिवेचन 'तत्त्व' नामक अध्याय में किया जायगा।

३९. सा देवी मायया सर्वं ब्रह्माण्डं सचराचरम्।
मोहयत्यप्रयत्नेन मोचयत्यपि लीलया ॥ वही, ७, २, ७, ९।

यद्यपि पशुओं (आत्मा) के पाश को काटने वाले परमात्म-शिव ही हैं, तथापि यह कार्य शक्ति के द्वारा भी सम्पन्न बतलाया गया है। इसका कारण यह है कि परमात्म-शिव शक्ति के विना प्राणियों को फल देने में समर्थ नहीं होते हैं[४०]। उन्हें पशुओं (आत्मा) के बन्धन को काटने के लिए शक्ति की अपेक्षा होती है। यही कारण है कि परमात्म-शिव की भांति शक्ति भी पाश-विच्छेदिका कही गई है। शत्रुओं के हाथ से मातृभूमि की मुक्ति सेना ही करती है, किन्तु सैन्य का संचालन करने के कारण सेना के हो साथ, सेनापति को भी मुक्ति दिलाने का श्रेय दिया जाता है। ठीक यही बात, पाश के विच्छेदन के लिए, परमात्म-शिव एवं शक्ति के विषय में भी चरितार्थ होती है।

यथार्थ बात तो यह है कि शक्ति के बिना शिव (परमात्म-शिव) शवमात्र हैं। वे कुछ भी नहीं कर सकते[४१]। शिव महापुराण ने ज्ञानशक्ति, क्रिया-शक्ति एवं इच्छाशक्तिको शम्भु (परमात्म-शिव) के त्रिनेत्र[४२] के रूप में कल्पना कर उक्त बात का हो समर्थन किया है। शक्ति, ज्ञानशक्तिरूपा, क्रियाशक्ति-रूपा एवं इच्छाशक्तिरूपा है। नेत्र के बिना पुरुष कुछ भी करने में समर्थ नहीं होता। वह अन्ध है और उसके द्वारा कोई भी लौकिक कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। ठीक यही बात परमात्मशिव के विषय में भी जाननी चाहिए।

कूर्मपुराण एवं शक्तितत्त्व

कूर्मपुराण के अनुसार परा शक्ति निष्कल तत्त्व (परं शिव अथवा निर्गुण ब्रह्म) में उसके तेज के कारण स्थित रहती है। उस निष्कल तत्त्व में यह शक्ति उसी प्रकार से स्वभावतः तन्मूलक होकर स्थित रहती है जैसे भानु की अमल प्रभा भानु में[४३]। परमार्थतः लोग शक्ति एवं शक्तिभाव में भेद बतलाते हैं, किन्तु तत्त्वचिन्तक योगिजन इन दोनों में अभेद देखते हैं[४४]।

---

४०. त्वद्विना तत्फलं दातुमीश्वरोऽपि न शक्नुयात्। शिव० ७, २, ३१, १९।

४१. अनुग्रहेण मूर्तेन शववत् किं नु साध्यते।
तस्माच्छक्त्यात्ममूर्तेन सर्वं साध्यं महेशवत्॥ वही, ६, २२, १४।

४२. ज्ञानक्रियेच्छारूपं हि शम्भोर्दृष्टित्रयं विदुः॥ वही, ६, १६, ४९।

४३. अनन्या निष्कले तत्त्वे संस्थिता तस्य तेजसा।
स्वाभाविकी च तन्मूला प्रभा भानोरिवामला॥ कूर्म० १, १२, ८।

४४. शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्ति परमार्थतः।
अभेदं चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः॥ वही, १, १२, २८।

कूर्मपुराण के अनुसार शक्तिभेद

कूर्मपुराण के अनुसार शक्ति एक ही है। इसे माया भी कहा गया है[४५]। यह शक्ति सर्वशक्त्यात्मिका कही गई है[४६]। अर्थात् अन्य शक्तियाँ इसी की अंशभूता हैं। इस प्रकार यह ज्ञानशक्तिरूपा, क्रियाशक्तिरूपा एवं प्राणशक्तिरूपा भी हो जाती है[४७]। इनमें ज्ञानरूप जो माहेश्वरी शक्ति है वही 'व्योम' संज्ञक पराकाष्ठा एवं हैमवती कही गयी है, अर्थात् महेश्वर शिव को ज्ञानरूप-शक्ति ही हैमवती के रूप में अवतीर्ण हुई है[४८]।

तुलना

शिव महापुराण के अनुसार सकल शिव, जिसे परमात्म-शिव अथवा शक्तिमान् शिव भी कहते हैं, में ही कला[४९] (शक्ति) रहती है। इस कला (शक्ति) की सत्ता (स्फुटता) के कारण ही परमात्म-शिव सकल एवं इसकी सत्ता के अभाव (अस्फुटता) के कारण परं ब्रह्म शिव निष्कल कहे जाते हैं। निष्कल शिव सकल शिव के परं रूप हैं, जो पूर्णतया निर्गुण, निष्क्रिय हैं। वह किसी भी प्रकार के गुण विशेषण अथवा उपाधि से पूर्णरूपसे रहित हैं[५०]। किन्तु कूर्मपुराण तो निष्कल तत्त्व में ही कला (शक्ति) की सत्ता स्वीकार करता है। यह एक बड़ी ही विचित्र बात है कि एक ओर तो वह अन्तिम सत्ता को निष्कल (कला-शक्ति-रहित) तत्त्व भी कहता है। और दूसरी ओर उसमें परा शक्ति की सत्ता भी स्वीकार करता है। ऐसी अवस्था में शिव महापुराण का ही दृष्टिकोण समीचीन प्रतीत होता है।

शक्ति के विषय में दोनों महापुराणों में तात्त्विक समता होते हुए भी कुछ शाब्दिक भिन्नता है, जो वस्तुतः विचार करने पर निरस्त हो जाती है। कूर्मपुराण में शक्ति (पराशक्ति) ज्ञानशक्तिरूपा, क्रियाशक्तिरूपा, एवं प्राण-शक्तिरूपा कही गई है। शिव महापुराण में 'प्राणशक्ति' के स्थान में 'इच्छाशक्ति' का उल्लेख हुआ है। इच्छाशक्ति को ही प्राणशक्ति कहा गया है। इसका

---

४५. एका शक्तिः शिवैकोऽपि शक्तिमानुच्यते शिवः। कूर्म० १, १२, २७।
सैषा मायात्मिका शक्तिः सर्वाकारा सनातनी॥ वही, १, १२, २०।

४६. सर्वशक्त्यात्मिका माया दुर्निवारा दुरत्यया। वही, १, १२, २३।

४७. ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः प्राणशक्तिरितित्त्रयम्। वही, १, १२, २१।

४८. या सा माहेश्वरी शक्तिर्ज्ञानरूपातिलालसा।
व्योमसंज्ञा पराकाष्ठा सेयं हैमवती मता॥ वही, १, १२, २१।

४९. कला या परमा शक्तिः कथिता परमात्मनः॥ शिव० ७, २, ४, २६।

५०. देखिए—इसी निबन्ध का प्रथम अध्याय।

कारण यह है कि परमात्मा शिव की इच्छा ही उनका बिमर्श है। विमर्श के अभाव में उनमें जडता की आपत्ति हो जायगी। वे प्राणशून्य अर्थात् निर्जीन पदार्थ की भाँति हो जायगें। अतः उनमें इच्छाशक्ति की सत्ता स्वीकार की गई है और कहीं-कहीं इसी को प्राणशक्ति भी कहा गया है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में शक्ति

प्रत्यभिज्ञादर्शन, जिसे अद्वैतवादी शैव दर्शन भी कहा जाता है, शिव एवं शक्ति में पूर्ण अभेद मानता है। उसके अनुसार जब शिव सृष्टिकार्योन्मुख होते हैं तब उन्हें शक्ति की संज्ञा प्राप्त होती है अर्थात् अपने रचनात्मक रूप में शिव ही शक्ति कहे जाते हैं। शक्ति परमात्मा शिव का 'अहं' विमर्श है। शिव की सृष्टि के लिए उन्मुखता ही शक्तिपद वाच्य है (अर्थात् शक्ति है)। ठीक इसी भाव को 'महेश्वरानन्द' जी ने अपनी 'महार्थमंजरी' में बड़ी ही सुन्दरता के साथ इस प्रकार अभिव्यक्त किया है:—

श्लोकः—स एव विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्त्तुं चोन्मुखो भवन्।
शक्तिस्वभावः कथितो हृदयत्रिकोणमधुमांसलोल्लासः॥
(पृ. ४०, त्रिवेन्द्रम प्रकाशन)

अर्थः—भगवान् शिव इच्छा, ज्ञान एवं क्रियारूपी त्रिकोण हृदय को आनन्द से पूर्ण करके जब संसार को जानने एवं करने की इच्छा करते हैं तब वे शक्ति कहे जाते हैं।

स्वयं 'महेश्वरानन्द' जी इसकी व्याख्या इन शब्दों में करते हैं- 'यदा स्वहृदयवर्तिनमुक्तरूपमर्थतत्त्वं बहिः कर्त्तुमुन्मुखो भवति तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते'। इसका अर्थ यही हुआ कि जब शिव सम्पूर्ण जगत् को, जो कि उनके हृदय में बीजरूप से अवस्थित रहता है, बाहर प्रकट करने की इच्छा करते हैं, तब उन्हें शक्ति कहा जाता है। अतः संसार को रचने की उनकी (शिव की) उन्मुखता ही शक्ति कही जाती है। शक्ति चैतन्य का कार्योन्मुख रूप है। इस प्रकार एक ही सत्ता शिव एवं शक्ति-दोनों-ही कही जाती है[५१]।

शक्ति के भेद

अद्वैतदर्शन एक ही शक्ति को इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया इन तीन नामों से अभिहित करता है अर्थात् शक्ति को इच्छा, ज्ञान एवं क्रियारूपा मानता है[५२]।

---

५१. एकस्मिन्नप्यर्थे शिवशक्तिविभागकल्पनां कुर्मः॥ महार्थ० २८।

५२. 'इत्थमेकस्या एव पारमेश्वर्याः शक्तेः इच्छा-ज्ञान-क्रियाव्यपदेशः'।
स्पन्द०, प्रथम निष्यन्द, १ कारिका पर 'रामकण्ठाचार्य' की विवृति।

शक्ति एवं संसार

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन संसार को शक्ति का ही विस्तार मानता है। इस प्रकार निखिल संसार शक्ति का ही स्वरूपविस्तार कहा जाता है[५३]।

तुलना

शिवमहापुराण एवं अद्वैत शैवदर्शन दोनों ही शिव एवं शक्ति में पूर्ण अभेद मानते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि एक ही सत्ता अवस्था एवं कार्य के अनुरूप शिव एवं शक्ति कही जाती है। दोनों ही शक्ति को इच्छा ज्ञान एवं क्रियारूपा मानते हैं और दोनों ही इस संसार को शक्ति का प्रचय भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह देखा जाता है कि दोनों-शिव महापुराण एवं अद्वैत दर्शन—में शक्ति के विषय में सैद्धान्तिक साम्य है।

द्वैतदर्शन में शक्तितत्त्व

यद्यपि द्वैतवादी शैवदर्शन शक्ति को परमात्म-शिव से पृथक् नहीं मानता[५४] है। वह उसे शिवस्वरूप ही मानता है। उसका मत यह है कि शिव एवं शक्ति में चन्द्र एवं चन्द्रिका की भाँति परस्पर भेद का अभाव है और यही सत्य भी है तथापि धर्मी एवं धर्म में भेद का व्यवहार तो होता ही है और यह व्यवहार भी वास्तविक है। शक्ति शक्तिमान् शिव का एक धर्म ही है[५५]।

जिस प्रकार मसूर नामक धान्यविशेष सजातीय अंगुष्ठ से किसी आकार से भिन्न होता है, उसी प्रकार शिव एवं शक्ति में किसी अन्य प्रकार के अंतर न रहने पर भी धर्मी एवं धर्म की दृष्टि से भेद तो सिद्ध ही है। यहां पर सजातीयता के कारण ऐक्य स्वीकार कर ऐसा दृष्टान्त दिया गया है। वस्तुतः अंगुष्ठ एवं मसूर में भेद ही है। इसी प्रकार शिव एवं शक्ति में धर्मी एवं धर्म के रूप में भेद रहने पर भी तादात्म्य सम्बन्ध से कोई भेद नहीं है[५६]।

सूर्य की अमल प्रभा की भांति शिवमूलक, स्वाभाविकी, शिव में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाली यह शक्ति शिव से अनन्य होते हुये भी उनसे भिन्न

---

५३. 'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' ।। शिव० ३-३०।

५४. स हि देवः समावृत्य स्वशक्त्याऽनन्यभूतया। रत्न० ११६।

५५. ....अस्माद्विभिद्यते।
शक्तिराश्रयतः शम्भोः स च तस्यास्ततस्तथा ।। वहीं, २९४-२९५।

५६. अनन्याऽपि तथा शम्भोर्विभिन्ना शक्तिरिष्यते।
यथा मसूरा त्वङ्गुष्ठान्नापि भिन्नोक्तहेतुभिः ।। वही, ३००।

है[५७]। यह शक्ति अप्रतिहत, अपरिमित एवं अवर्णनीय है। यह स्वतः प्रकाश है। सर्वातिशायिनी है। पूर्ण सूक्ष्म है।

शक्ति जगत् का करण

द्वैतवादी शैवदर्शन का कथन है कि कुम्भकार आदि जो भी कर्त्ता हैं, उनमें करण के बिना कर्तृत्व नहीं देखा जाता। इसी प्रकार इस जगत् के कर्ता शिव का भी कोई करण होना चाहिये। यह करण शक्त्यात्मक ही है। 'श्रीमन्मृगेन्द्र' आगम में भी कहा गया है कि भगवान् शिव का करण शक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है[५८]।

तुलना

शक्ति के विषय में शिव महापुराण एवं द्वैतवादी दर्शन में अन्य तात्त्विक समता के रहने पर भी शिव के साथ उसके (शक्ति के) अभेद एवं भेद को लेकर मतभेद है। जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, शिव महापुराण परमात्म-शिव एवं शक्ति में अभेद ही मानता है और यदि उसे कहीं भेद दिखलाना ही होता है तो वह उसे 'अपरे तु' अर्थात् अन्य का मत कह कर उल्लिखित करता है[५९]। किन्तु द्वैतवादी शैवदर्शन तो शिव में शक्ति की सत्ता स्वीकार करते हुये दोनों में भेदा-भेद का सिद्धान्त स्वीकार करता है। सब से अधिक विचित्र बात तो यह है कि 'भानु एवं प्रभा' तथा 'चन्द्र एवं चन्द्रिका' का उदाहरण एक (द्वैतवादी) भेद दिखलाने के लिये उपस्थित करता है तो दूसरा (शिव महापुराण) अभेद बतलाने के लिये। वस्तुतः इस उदाहरण से दोनों ही बातें सिद्ध की जा सकती हैं। इस के अतिरिक्त शिव महापुराण एवं द्वैतवादी शैव-दर्शन—दोनों ही—शक्ति को संसार का कारण मानते हैं।

५७. अनन्यापि विभिन्नातः शम्भोः सा समवायिनी।
स्वाभाविकी च तन्मूला प्रभा भानोरिवामला ॥ रत्न० ३०२।

५७. करणं च न शक्त्यन्यदिति। श्रीमन्मृगेन्द्र, पतिलक्षणपरीक्षा प्रकरण।

५९. अपरे तु पराशक्तिः शिवस्य समवायिनी।
प्रभेव भानोश्चिद्रूपा भिन्नैवेति व्यवस्थितिः ॥ शिव० ७, १, २९, ३४।

तृतीय अध्याय

तत्त्व

प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में क्रमशः परमात्म-शिव एवं शक्ति का वर्णन करने के अनन्तर अब यहां शेष तत्त्वों का क्रमिक वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है :—

॥ ३ ॥ सदाशिव तत्त्व ॥

सदाशिव तत्त्व की उत्पत्ति एवं प्रकृति

शक्ति (बिन्दु) से सदाशिव तत्त्व की उत्पत्ति बतलाई गई है[१]। तत्त्वों के क्रम में इनका तृतीय स्थान है। इनमें क्रियाशक्ति की वर्तमानता रहने पर भी ज्ञानशक्ति की प्रबलता रहती है[२]। सदाशिव तत्त्व को परमात्म-शिव की मूर्ति कहा गया है[३]।

सदाशिव तत्त्व से संसार का प्रारम्भ

शिव महापुराण 'सदाशिव' तत्त्व से ही संसार का प्रारम्भ स्वीकार करता है। जागतिक परिधि सदाशिव तत्त्व से प्रारम्भ कर भूमि पर्यन्त मानी गई है[४]।

काश्मीर शैव दर्शन और सदाशिव तत्त्व

प्रत्यभिज्ञा के अनुसार सदाशिव तत्त्व परम शिव के 'इदम्' (संसार) अंश को स्वीकार करने वाली इच्छा ही है। इसमें इच्छा की प्रधानता रहती है। इस अवस्था का अनुभव होता है 'मैं हूं', यतः 'हूं' (अस्तित्व) ऐसा अनुभव इस अवस्था में दृढतापूर्वक स्वीकार किया जाता है, यही कारण है कि यह

---

१. नादाद्विनिःसृतो बिन्दुर्बिन्दोर्देवः सदाशिवः। शिव० ७, २, ४, २०।

२. ज्ञानक्रियाशक्तियुग्मे ज्ञानाधिक्ये सदाशिवः॥ वही, ६, १६, ७१।

३. शृणु कृष्ण महेशस्य शिवस्य परमात्मनः।
मूर्त्यात्मभिस्ततं कृत्स्नं जगदेतच्चराचरम्॥ वही, ७, २, ३, १।
ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रो महेशानः सदाशिवः।
मूर्तयस्तस्य विज्ञेया याभिर्विश्वमिदं ततम्॥ वही, ७, २, ३, ३।

४. सदाशिवादिकीटान्तरूपस्य जगतः स्थितिः। वही, ६, १६, ४।

सदाख्य तत्त्व के नाम से भी जाना जाता है; (सत् माने होना) किन्तु 'हूं' (सत्ता अथवा अस्तित्व) को 'इदम्' की अपेक्षा रहती है, (मैं हूं, किन्तु क्या हूं ? मैं हूं यह ससार)। यही कारण है कि इस अवस्था का अनुभव होता है कि 'मैं यह (संसार) हूं', किन्तु यह 'इदम्' का अनुभव अस्फुट ही रहता है। अब भी अहम्' (ब्रह्म) की ही प्रधानता रहती है। चैतन्य की गम्भीरता में एक अविस्पष्ट विचार सम्बन्धी सांसारिक अनुभूति होती है।

परमात्म-शिव एवं शक्ति तत्त्वमें 'अहम्' अंश (ब्रह्मांश) का ही एकमात्र भान होता है, किन्तु सदाशिव तत्त्व में दोनों अंशों (अहन्ता एवं इदन्ता) का भान होता है, तथापि 'इदम्' अंश अस्फुट तथा 'अहम्' अंश प्रबल रहता है। इस अवस्था में 'इदम्' अथवा 'संसार' उसी प्रकार अस्पष्ट रहता है, जैसे कि एक कलाकार अपनी प्रारम्भिक रचना के किसी चित्र को एक अस्पष्ट कल्पना अपने मन में रखता है।

'राजानक आनन्द' ने 'षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह' के विवरण में ठीक ही कहा है :— तत्र प्रोन्मीलितमात्रचित्रकल्पतया इदमंशस्य अस्फुटत्वात् इच्छाप्राधान्यम्' (पृ० ३)।

अर्थ : –'इस अवस्था में अनुभव का 'इदम्' अंश उसी प्रकार से अस्पष्ट रहता है, जैसे किसी भी चित्रकार के मन में चित्रनिर्माण के पूर्व उसकी एक अस्पष्ट भावना विचारों में गर्भित रहती है। यही कारण है कि इस अवस्था में 'इच्छा' का प्राधान्य रहता है। और इसीलिये 'प्रत्यभिज्ञा-हृदय' में क्षेमराज कहते हैं कि—सदाशिवतत्त्वेऽहन्ताच्छादितास्फुटेदन्तामयं विश्वम्'। सदाशिव तत्त्व में विश्व अस्फुट एवं 'इदम्' को अस्पष्ट चेतना से आच्छन्न रहता है। सदाशिव तत्त्व प्रथम आभास है। आभास के लिये ग्राह्य एवं ग्राहक का विषय होना आवश्यक है।

इस प्रकार सदाशिव तत्त्व में संसार (इदम्) अंश के अनुभव के कारण ही, चाहे यह अनुभव अस्पष्ट ही क्यों न हो, प्रत्यभिज्ञा दर्शन सदाशिव तत्त्व से ही जगत् का प्रारम्भ मानता है[५]।

तुलना

शिव महापुराण एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन दोनों ही सदाशिव तत्त्व को, तत्त्वों के क्रम में, तृतीय स्थानीय मानते हैं। अतः दोनों की दृष्टि में इसका प्रादुर्भाव शक्ति-तत्त्व से होता है। शिव महापुराण के अनुसार सदाशिव तत्त्व में ज्ञान-

५. 'विश्वस्य सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य ।' प्रत्यभिज्ञा० प्रथम सूत्र की व्याख्या।

शक्ति की प्रबलता मानी गई है। किन्तु प्रत्यभिज्ञा के अनुसार इस तत्त्व में इच्छा की प्रधानता रहती है। परन्तु सदाशिव की शक्ति के विषय में दोनों-शिव महापुराण एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन-में वैमत्य रहने पर भी उद्देश्य में कुछ भी अन्तर नहीं है। महापुराण सदाशिव तत्त्व में ज्ञानशक्ति की प्रबलता मान कर संसरांश के ज्ञान की सत्ता, चाहे वह अस्पष्ट रूप में ही क्यों न हो, उनमें (सदाशिव तत्त्व में) स्वीकार करता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी सदाशिव तत्त्व में इच्छा शक्ति मानकर संसारांश की इच्छा, चाहे वह धुंधली ही क्यों न हो, मानता है। इस प्रकार उद्देश्य में कुछ भी उल्लेखनीय अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों-शिव महापुराण एवं प्रत्यभिज्ञा-सदाशिव में उक्त शक्तियों को मानकर संसारांश की ओर ही बढ़ते हैं।

॥ ४ ॥ ईश्वर-तत्त्व ॥

सदाशिव तत्त्व से महेश्वर, जिसे ईश्वर तत्त्व भी कहा जाता है, का प्रकाशन होता है[६]। यह चतुर्थ तत्त्व के रूप में परिगणित है[७]। इनकी उत्पत्ति सदाशिव के सहस्रांश से बतलाई गई है। इन्हें वायु का अधिपति कहा जाता है[८]। इनके वामभाग में 'माया' नामक शक्ति सर्वदा वर्तमान रहती है अर्थात् इनकी शक्ति का नाम माया है। इनमें क्रियाशक्ति (जगदंश) का प्राबल्य रहता है[९]। ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति की सहकारिणी होकर इनमें वर्तमान रहती है।

प्रत्यभिज्ञा एवं ईश्वर-तत्त्व

प्रत्यभिज्ञा के अनुसार अन्तिम सत्ता के विकास-क्रम में 'इदम' (संसार) अंश कुछ अधिक स्फुट हो जाता है[१०]। यहां पर स्पष्ट रूप से संसार का उन्मेष हो उठता है। इस अवस्था में निर्मित होने वाले जगत् की एक अस्पष्ट धारणा बन चुकी होती है। 'राजानक आनन्द' अपने 'षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह-

---

६. नादाद्विनिःसृतो बिन्दुर्बिन्दोर्देवः सदाशिवः।
तस्मान्महेश्वरो जातः ………………… ॥ शिव० ७, २, ४, २०।

७. देखिये वही, ७, २, ४, १८-२०।
तुलना :—'तत्त्वप्रकाशिका', २९।

८. सदाशिवसहस्रांशान्महेशस्य समुद्भवः।
पुरुषाननरूपत्वाद्वायोरधिपतिश्च सः॥ वही, ६, १५, ३।

९. मायाशक्तियुतो वामे सकलश्च क्रियाधिकः। वही, ६, १५, ४।

१०. ईश्वरतत्त्वे स्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकरण्यात्म यादृक् विश्वं ग्राह्यम्…
(प्रत्यभिज्ञा०, तृतीय सूत्र की व्याख्या)।

विवरण' में कहते हैं कि 'अत्र वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेकः।' इस अवस्था में संसार स्पष्ट रूप से भासित होने लगता है, यही कारण है कि इस तत्त्व में ज्ञानशक्ति प्रबल हो उठती है।

जिस प्रकार एक चित्रकार सर्वप्रथम निर्मित होने वाले चित्र की एक अस्पष्ट विचारधारा अपने मन रखता है, किन्तु बाद में, क्रमशः, वह अस्पष्ट विचार उसके मन में एक स्पष्टता धारण करता है, उसी प्रकार सदाशिव की श्रेणी तक तो विश्व एक अस्पष्ट रूप धारण किये रहता है, किन्तु ईश्वर तत्त्व की श्रेणी तक आते आते यह (विश्व) स्पष्ट हो उठता है। सदाशिव तत्त्व में 'मैं हूँ यह' ऐसा अनुभव होता है, किन्तु ईश्वरतत्त्व का अनुभव है कि 'यह हूँ मैं'।

तुलना

अन्य तात्त्विक साम्य के रहने पर भी शिव महापुराण तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन 'ईश्वर तत्त्व' में किस शक्ति की प्रबलता रहती है' इस विषय में वैषम्य रखते हैं। प्रथम के अनुसार इसमें क्रियाशक्ति प्रबल रहती है, किन्तु दूसरे के अनुसार इसमें ज्ञानशक्ति की ही प्रधाननता रहती है। किन्तु इस वैषम्य के रहने पर भी दृष्टिकोण में कुछ भी अन्तर नहीं है, क्योंकि शिव-महापुराण इस तत्त्व में क्रियाशक्ति को प्रबलता मानकर इसमें जगदंश को कार्यान्वित अर्थात् प्रबल बतलाना चाहता है जबकि प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी इसमें ज्ञानशक्ति स्वीकार कर सांसारिक अंश को स्पष्टरूप से भासित बतलाना चाहता है। इस प्रकार दोनों के सिद्धान्त में अंतर होने पर भी उद्देश्य में साम्य है।

॥५॥ सद्विद्या अथवा शुद्धविद्यातत्त्व ॥

उत्पत्ति एवं प्रकृति

शुद्ध विद्या का प्रादुर्भाव ईश्वरतत्त्व से होता है[११]। इस तत्त्व में ज्ञान एवं क्रिया नामक दोनों ही शक्तियां समानरूप से प्रबल रहती हैं[१२]। तत्त्वों के क्रम में इसका पंचम स्थान है।

शुद्ध-विद्या नाम पड़ने का कारण

इस तत्त्व से सम्बद्ध प्राणी सर्वज्ञ हुआ करते हैं। आत्मा की सर्वज्ञता सर्वप्रथम यहीं प्रकाशित होती है, यही कारण है कि यह शुद्ध-विद्यातत्त्व के नाम से अभिहित की जाती है। अथवा इस श्रेणी पर पहुँच कर पदार्थों का यथार्थ

११. ·········शुद्धविद्या महेश्वरात्। शिव० ७, २. ४, २०।

१२. ज्ञानक्रियाशक्तिसाम्यं शुद्धविद्यात्मकं मतम्॥ वही, ६, १६, ७२।

(ठीक) सम्बन्ध अनुभूत होता है, इस कारण से भी इसे शुद्ध-विद्या के नाम से जानते हैं।

द्वैतदर्शन और शुद्ध-विद्या

द्वैतवादी शैवदर्शन के अनुसार शुद्ध-विद्यातत्त्व में ज्ञानशक्ति की प्रधानता रहती है[१३]।

अद्वैतदर्शन और शुद्ध-विद्या

प्रत्यभिज्ञा के अनुसार शुद्ध-विद्या तत्त्व में क्रियाशक्ति की प्रधानता रहती है[१४]। इस दर्शन के अनुसार इस तत्त्व में अनुभव के 'इदम्' एवं 'अहम्' ये दोनों ही अंश 'समधृततुलान्याय' से समानरूप से स्फुट होकर रहते हैं[१५]।

तुलना :—

शुद्ध-विद्या तत्त्व में किस शक्ति की प्रधानता मानी जाय इस विषय में पुराण तथा अद्वैत अथवा द्वैत दर्शन में परस्पर ऐकमत्य नहीं है। तीनों तीन दृष्टिकोण रखते हैं। किन्तु इस तत्त्व में क्रियाशक्ति की प्रधानता स्वीकार करते हुये भी अद्वैतदर्शन यह मानता है कि इसमें अनुभव के 'इदम्' एवं 'अहम्' दोनों ही अंश समान रूप से स्फुट होकर रहते हैं। इसी बात का समर्थन शिव महापुराण से भी होता है, क्योंकि वह इस तत्त्व में ज्ञान एवं क्रिया अर्थात् ब्रह्मज्ञान (अहम्) तथा जगदंश (इदम्) को समान रूप से स्वीकार करता है।

॥ ६ ॥ माया और पंचकंचुक ॥

शुद्ध-विद्यातत्त्व के अनन्तर माया तत्त्व को परिगणित किया जाता है[१६]। इसे महेश्वर (ईश्वर तत्त्व) की शक्ति कहा गया है[१७]। माया अनन्त[१८] के संयोग से काल, नियति, कला, विद्या की सृष्टि करती है और पुनः कला से राग और पुरुष का प्रादुर्भाव होता है[१९]। किन्तु कैलाश संहिता के त्रयोदश अध्याय

---

१३. देखिये—तत्त्वप्रकाशिका, ३०।

१४. देखिये—'प्रत्यभिज्ञा हृदय' की 'जयदेवसिंहकृतप्रस्तावना'।

१५. देखिये—''प्रत्यभिज्ञा हृदय' की जयदेवसिंहकृत प्रस्तावना"।

१६. देखिये—शिव० कैलाश सहिता, १६ अ. ७३ श्लो.।

१७. देखिए—इसी अध्याय में ईश्वरतत्त्व का वर्णन।

१८ देखिये—शुद्ध विद्यातत्त्व के निवासी आत्मा 'तथा विद्येश्वरोऽनन्तो मायामाक्रम्य तेजसा, आदि। रत्न० ६०।

१९. अथानन्तसमावेशान्माया कालमवासृजत।
नियतिं च कलां विद्यां कलातो रागपुरुषौ ॥ शिव० ७, २, ४, २२।

में माया से ही काल, राग, कला, विद्या एवं नियति के प्रादुर्भाव की बात कही गई है[२०]। इन्हीं को पंचकंचुक भी कहते हैं[२१]। परमात्म-शिव की सत्य प्रकृति पर आवरण डालने के कारण इन्हें कंचुक कहा जाता है[२२]। यह माया ही पुरुष (पशु अथवा आत्मा) के ऊपर एक आवरण डाल देती है, जिसके प्रभाव के कारण वह अपनी वास्तविक प्रकृति को विस्मृत हो जाता है। इस प्रकार माया वैभिन्य की भावना उत्पन्न करती है[२३]।

माया शब्द का अर्थ

'माया' शब्द 'माङ् माने' धातु से निष्पन्न हुआ है, इसका अर्थ होता है–किसी वस्तु को परिच्छिन्न करना। यह अनुभव को संकुचित बनाती है और ब्रह्मांश को संसार से और संसार से ब्रह्मांश को अलग करती है। सद्-विद्या तक अनुभव सार्वभौम होता है, वहाँ समग्र संसार समवेत रूप से भासित होता है, किन्तु माया के कार्य-क्षेत्र के भीतर संसार की समवेत रूप से अनुभूति न होकर व्यस्त रूप से अनुभूति होती है। एक-एक वस्तुयें अलग-अलग प्रतिभासित होती हैं। यहीं से संकोच प्रारम्भ होता है। आत्मा के ऊपर माया एक आवरण डाल देती है, जिसके प्रभाव के कारण वह अपनी वास्तविक प्रकृति को विस्मृत हो जाता है।

माया बन्धन का एक भेद है

शिवमहापुराण 'माया' को बन्धन (पाश) का एक भेद मानता है। इसका विवेचन पंचम अध्याय में किया जायगा।

पंचकंचुक और उनके कार्य

१. कला :—यह परमात्म-शिव की सर्वकारिता (सर्वकर्तृत्व) को संकुचित कर किंचित्कर्तृत्व के रूप में परिवर्तित कर देती है। इसके कारण परमात्म-शिव का सामर्थ्य संकुचित हो जाता है।

---

२०. नियतिः कालरागौ च विद्या च तदनन्तरम्।
कला च पंचकमिदं मायोत्पन्नं मुनीश्वर ॥ शिव० ६, १३, २८।
मायां तु प्रकृतिं विद्यादिति माया श्रुतीरिता।
तज्जान्येतानि तत्त्वानि श्रुत्युक्तानि न संशयः ॥ वही, ६, १३, २९।

२१. एतत्पंचकमेवास्य पंचकंचुकमुच्यते ॥ वही, ६,१३,३०।

२२. एतत्पंचकमेवास्य स्वरूपावारकत्वतः।
पंचकंचुकमाख्यातमन्तरङ्गं च साधनम् ॥ वही, ६, १६, ८४।

२३. स्वांगरूपेषु भावेषु मायातत्त्वविभेदधीः। वही, ६, १६, ७९।

२. विद्या :—यह परमात्म-शिव की सर्वज्ञता को संकुचित कर उसे स्वल्पज्ञता में रूपान्तरित कर देती है।

३. राग :—यह परमात्म-शिव की पूर्णत्वरूपा शक्ति को संकुचित कर उसमें किसी वस्तु की इच्छा को उत्पन्न करती है।

४. काल :—यह परमात्म-शिव की नित्यता को कम करता है और उन्हें भूत, वर्तमान एवं भविष्य में विभक्त काल की परिधि में ले आता है।

५. नियति :—यह परमात्म-शिव को व्यापकता को अवच्छिन्न करती है। यह मेरा कर्त्तव्य है, यह अकर्त्तव्य है, इस बात की नियामिका शक्ति नियति कही गई है[२४]।

॥१२॥ पुरुष ॥

इस प्रकार परमात्म-शिव अपने आपको माया का विषय बनाते हुये उसके पंचकंचुक को धारण कर पुरुष (पशु अथवा आत्मा) बन जाते हैं। पुरुष जिसे पशु भी कहा जाता है, का वर्णन 'पशु' नामक अध्याय में अलग ही किया जायगा। अतः इसके वैशिष्ट्य को वहीं देखें।

॥ १३ प्रकृति ॥

माया का द्विधा परिणाम होता है—(१) पंचकंचुक, (२) प्रकृति। प्रकृति त्रिगुणात्मक एवं माया का कार्य कही गई है[२५]। इस प्रकृति को तत्त्व-चिन्तकों (सांख्यमतानुयायियों) ने संसार का कारण बतलाया है। उनके अनुसार यह

२४. सर्वकर्तृत्वरूपा च सर्वज्ञत्वस्वरूपिणी।
पूर्णत्वरूपा नित्यत्वव्यापकत्वस्वरूपिणी ॥
शिवस्य शक्तयः पंच संकुचद्रूपभास्वराः।
अपि संकोचरूपेण विभान्त्य इति नित्यशः ॥
पशोः कलाख्यविद्येति रागकालौ नियत्यपि।
तत्त्वपंचकरूपेण भवत्यत्र कलेति सा ॥
किंचित्कर्तृत्वहेतुः स्यात् किंचित्तत्त्वैकसाधनम्।
सा विद्या तु भवेद्रागो विषयेष्वनुरंजकः ॥
कालो हि भावभावानां भासानां भासनात्मकः।
क्रमावच्छेदको भूत्वा भूतादिरिति कथ्यते ॥
इदं तु मम कर्तव्यमिदं नेति नियामिका।
नियतिः स्याद्विभोः शक्तिस्तदाक्षेपात् पतेत् पशुः ॥ शिव, ६, १६, ७८-८३।
तुलना कीजिए—महार्थ० १८ की परिमल व्याख्या।

२५. मायातः पुनरेवाभूदव्यक्तं त्रिगुणात्मकम् ॥ वही, ७, २, ४, २३।

समग्र संसार अन्त में इसी में जाकर लीन भी होता है। वे इसे अव्यक्त कारण, त्रिगुण, प्रधान आदि नामों से भी जानते हैं[२६]। यह प्रकृति अपने आपको सुख, दुःख एवं विमोह के रूप में प्रकट करती है। प्रकृति के स्वयं के प्रकाशन का जो ढंग है उसे कला कहते हैं[२७]। सत्त्व, रज और तम, ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न कहे गये हैं[२८]। त्रिगुण, प्रकृति में, सूक्ष्मरूप से, उसी प्रकार स्थित रहते हैं, जिस प्रकार तिल में तेल अव्यक्त रूप से स्थित रहता है[२९]। शिवमहापुराण के प्रकृति विषयक विवरण से उसकी एकता निश्चित होती है[३०]।

गुणों के स्वभाव

संक्षेप में सुख एवं सुख का हेतु सात्विक, दुःख एवं दुःख का हेतु राजस, स्तम्भन (आलस्य) एवं मोह (अज्ञान) तामस कहे गये हैं। उर्द्ध्वगति सात्विकी, अधोगति तामसी और मध्यमा गति राजसी कही गई है[३१]।

सांख्य की दृष्टि में प्रकृति

सांख्य प्रकृति को हेतुरहित, नित्य, व्यापी, अक्रिय अर्थात् व्यापक होने के कारण संसरण रहित, एक, अनाश्रित एवं निरवयव अर्थात् शब्द, स्पर्श आदि से रहित, त्रिगुण, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन एवं प्रसवधर्मी मानता है[३२]। सांख्य के अनुसार त्रिगुण की साम्यावस्था ही प्रकृति है[३३]। प्रकृति का सर्वप्रथम परिणाम बुद्धि कही गई है[३४]। सम्पूर्ण संसार इसी प्रकृति से उत्पन्न एवं अन्त में इसी में विलीन भी होता है।

---

२६. अव्यक्तं कारणं यत्तद् त्रिगुणं प्रभवाप्ययम्।
प्रधानं प्रकृतिश्चेति यदाहुस्तत्त्वचिन्तकाः॥ शिव० ७. १, ५, ३२।

२७. कलातस्तदभिव्यक्तमनभिव्यक्तलक्षणम्।
सुखदुःखविमोहात्मा भुज्यते गुणवांस्त्रिधा॥ वही, ७, १, ५, ३३।

२८. सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः। वही, ७, १, ५, ३४।

२९. तिल में तेल को पूर्वस्थिति के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शिवमहापुराण, सांख्य की भांति, सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करता है।

३०. त्रयोविंशतितत्त्वेभ्यः प्रकृतिर्हि परा मता।
प्रकृतेस्तु परं प्राहुः पुरुषं पंचविंशकम्॥ वही, ७. १, ३२, ३१।

३१. देखिये—वही, ७, १, ५, ३५-३६।

३२. देखिये—सांख्य, १०, ११ कारिका।

३३. देखिये—वही, २ कारिका पर 'भाष्यकिरण' टीका और कारिका १६ तथा उसका गौडपादभाष्य भी।

३४. देखिये—वही, ३ कारिका पर गौडपादभाष्य।

तुलना

शिव महापुराण तत्त्वों के विषय में अवश्य ही सांख्य से पर्याप्त प्रभावित हुआ है। इस बात की सूचना उसने प्रकृति के वर्णन के अवसर पर 'यदाहुस्तत्त्वचिन्तकाः' (७, १, ५, ३२) कह कर दी है। इतना होते हुये भी उसने यथावसर अपना दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया है। सांख्य प्रकृति को त्रिगुणात्मक मानता है और उसका प्रथम परिणाम बुद्धि को स्वीकार करता है। किन्तु शिव महापुराण प्रकृति को त्रिगुणात्मक मानते हुए उससे तीनों गुणों की उत्पत्ति भी बतलाता है। स्पष्ट ही यह एक बिलकुल नया सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की उपलब्धि अतिप्राचीन सांख्य शास्त्र में भी नहीं होती। यह सिद्धांत सांख्य से एकदम भिन्न है। इसके अतिरिक्त सांख्य प्रकृति को हेतुरहित अतएव नित्य तथा अनाश्रित भी मानता है। किन्तु शिव महापुराण प्रकृति को माया का कार्य मानता है। अतः यह अनित्य तथा आश्रित भी है। ये कुछ नये सिद्धांत शिव महापुराण के अपने हैं। इनके अतिरिक्त शेष बातों में दोनों में साम्य है।

द्वैतवादी शैवदर्शन और प्रकृति

द्वैतवादी शैवदर्शन प्रकृति को त्रिगुण का कारण मानता है। वह 'त्रिगुण की साम्यावस्था ही प्रकृति है' सांख्य के इस सिद्धांत का खण्डन करता है[३५]। अपने पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए शैवदर्शन कहता है कि:—वे सभी वस्तुयें, जो अचेतन और अधिक हैं, अवश्य ही अपना एक कारण रखती हैं। उदाहरण के रूप में हम अपना सामान्य अनुभव ही रखते हैं। गुण अचेतन और अधिक हैं, अतः उनका अवश्य कोई कारण होना चाहिये। इनका जो कारण है वह प्रधान के नाम से जाना जाता है[३६]।

तुलना

जहां तक सांख्य के सिद्धांत का खण्डन कर प्रकृति से त्रिगुणों की उत्पत्ति का प्रश्न है शिव महापुराण एवं द्वैतवादी शैवदर्शन में पूर्ण साम्य है। दोनों ही प्रकृति को 'अनभिव्यक्तलक्षण' तथा उससे त्रिगुणों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह देखा जाता है कि जो दार्शनिक सिद्धांत अतिप्राचीन काल से शिव महापुराण में बीज रूप से स्थित थे उन्हीं का विकास परवर्ती दार्शनिकों ने किया है।

---

३५. तत्त्वप्रका० ५०। यथा—ननु गुणा एवाव्यक्तं बुद्ध्यादिकारणमिति सांख्याः। तदयुक्तमित्याह गुणानामचैतन्ये सत्यनेकत्वात् कारणपूर्वकत्वमित्युक्तमतोऽनभिव्यक्तगुणरूपकार्यत्वादेव तदव्यक्तमित्युच्यते ॥

३६. भास्करी के० सी० पाण्डेय।

षट्त्रिंशत्संख्या की अनुपपत्ति एवं उसका समाधान

शिव महापुराण तथा शैवदर्शन प्रकृति से त्रिगुण की उत्पत्ति मानते हैं। ऐसी अवस्था में तत्त्वों की संख्या षट्त्रिंशत् (३६), जो शिव महापुराणादि को सम्मत है,[३७] नहीं निश्चित की जा सकती। यह सप्तत्रिंशत् तक पहुँच जायगी। शिव महापुराण एवं शैवदर्शन, सांख्य की भांति, बुद्धि से लेकर पृथिवी पर्यन्त त्रिविंशति (२३) तत्त्व[३८] मानते हैं। इस प्रकार शैव सम्प्रदाय यह मानता है कि शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त षट्त्रिंशत् तत्त्व हैं। वस्तुतः सांख्य की पंचविंशति-तत्त्व कल्पना अतिप्राचीन है। बाद के सभी तत्त्वचिन्तकों ने उसका अनुसरण किया है। स्वयं शिव महापुराण सांख्य से पर्याप्त प्रभावित है। तत्त्वों की इस संख्यासम्बन्धिनी अनुपपत्ति को कार्य एवं कारण (प्रकृति एवं गुण) में अभेद विवक्षा मानकर समाहित किया जाता है। इसी बात का समर्थन द्वैतवादी शैवदर्शन भी करता है[३९]।

बुद्धि आदि त्रिविंशति तत्त्व

बुद्धि की उत्पत्ति के विषय में शिव महापुराण एकमत नहीं रखता। वह कभी इसकी उत्पत्ति गुणों से बतलाता है[४०] तो कभी इसे प्रकृति का परिणाम कहता है[४१]। किन्तु सिद्धान्ततः इसका द्वितीय पक्ष ही प्रबल निश्चित होता है, क्योंकि उसका भी उल्लेख कई बार हुआ है[४२]। इसके साथ ही सांख्य की तत्त्वकल्पना अत्यधिक प्राचीन होने के कारण दार्शनिकों के द्वारा यथावत् ग्रहण कर ली गई है। उसमें कुछ परिवर्तन दिखलाना उत्साही दार्शनिकों का ही प्रयत्न था, जो अपने दर्शन में कुछ नवीनता प्रदर्शित करना चाहते थे। उनका यह प्रयत्न अहङ्कार के विषय में भी देखा जाता है। अहङ्कार को बुद्धि से

---

३७. शिवतत्त्वादिभूम्यन्तं तत्त्वाध्वा समुदाहृतः।
षड्विंश (त्रिंश) त्संख्ययोपेतः शुद्धाशुद्धोभयात्मकः ॥ शिव० ७, २, १७, ४।

३८. त्रयोविंशति तत्त्वेभ्यः प्रकृतिर्हि परा मता।
प्रकृतेस्तु परं प्राहुः पुरुषं पंचविंशकम् ॥ वही, ७, १, ३२, ३१।

३९. तत्त्वप्रका० २४। यथा ननु 'अव्यक्तं मायातः' इत्यादिना प्रकृत्यधस्तनतत्त्वानां चतुर्विंशतेरुक्तत्वात्कथमत्र त्र्यधिकाविंशतिरुच्यते? अत आह 'यस्माद् प्रकृतिगुणानाम्' इति ......ततः कार्यकारणयोरभेदविवक्षयैवमुक्तमित्यविरोधः ॥

४०. गुणेभ्यो बुद्धिरुत्पन्ना वस्तुनिश्चयकारिणी ॥ शिव० ६, १७, ६।

४१. प्रधानाद् प्रथमं जज्ञे बुद्धिः ख्यातिर्मतिर्महान् ॥ वही, ७, १, १०, १३।

४२. वही, ७, १, १०, १३; २, १, ६, ४३ आदि।

समुद्भूत त्रिविध गुणों का भी परिणाम कहा गया है[४३]। दार्शनिकों का यह प्रयत्न त्रिविध अहङ्कार को देखकर ही किया गया है। किन्तु शिव महापुराण के अधिक स्थल बुद्धि से ही अहङ्कार की उत्पत्ति बतलाते हैं[४४]।

वस्तुतः शिव महापुराण में सांख्य की तत्त्वकल्पना को यथावत् स्वीकार करने पर भी प्रकृति से त्रिगुणों की उत्पत्ति के अतिरिक्त बुद्धि एवं अहङ्कार के विषय में दो प्रकार के विचार इस में उपलब्ध होते हैं। एक तो अविकल रूप से सांख्य सिद्धान्त स्वीकार किया गया है, जो यथार्थ एवं न्यायसंगत प्रतीत होता है, दूसरा कुछ परिवर्तित सिद्धान्त, जो उत्साही दार्शनिकों का कार्य है। वस्तुतः प्रथम पक्ष ही पुराण में अधिक सम्मत रूप से उल्लिखित है। इसका स्पष्टीकरण आगे के विवरण से स्वयमेव हो जायगा[४५]।

प्रकृत्यादि तत्त्वों की व्यक्ताव्यक्त अवस्था

पंचतन्मात्रायें, पंचमहाभूत, पंचज्ञानेन्द्रियां, पंचकर्मेन्द्रियां, प्रधान, बुद्धि, अहङ्कार और मन संक्षेप में ये ही सविकार अव्यक्त कहे गये हैं[४६]। कारण अवस्था रहने पर जिस तत्त्व को अव्यक्त कहते हैं, उसी को कार्यावस्था में व्यक्त कहा जाता है। उदाहरण के लिये कारणावस्था को मिट्टी का लोंदा और कार्यावस्था को घट कहा जाता है[४७]।

व्यक्त एवं अव्यक्त में भेद

जिस प्रकार घटादि कार्य मृदादि से अत्यन्त भिन्न नहीं होते उसी प्रकार शरीर आदि तथा व्यक्त अव्यक्त से अत्यन्त भिन्न नहीं होते। अतः यह कहा जा सकता है कि अव्यक्त ही एकमात्र कार्य एवं कारण, दोनों ही, है।

४३. ....महतश्च गुणास्त्रयः।
अहंकारस्ततो जातस्त्रिविधो गुणभेदतः॥ वही, २, १, ६, ४३।

४४. शिव० ७, १, १०, १३; ६, १७, १० आदि।

४५. शेष तत्त्वों के वर्णन के सांख्यानुसार होने से यहाँ उनका विवरण नहीं दिया जा रहा है।

४६. तन्मात्रपंचकं चैव भूतपंचकमेव च। ज्ञानेन्द्रियाणि पंचैव पंचकर्मेन्द्रियाणि च॥
शिव० ७, १, ५, ३७।

प्रधानबुद्धयहंकारमनांसि च चतुष्टयम्।
समासादेवमव्यक्तं सविकारमुदाहृतम्॥ वही, ७, १, ५, ३८।

४७. तत्कारणदशापन्नमव्यक्तमिति कथ्यते। व्यक्तं कार्यदशापन्नं शरीरादिघटादिवत्॥
वही, ७, १, ५, ३९।

शरीर, शरीराधार एवं उसका भोग्य पदार्थ ये सब अव्यक्त से इतर नहीं हैं। शरीर एवं शरीराधार ये सब पुरुष के भोग्य हैं[४८]।

षट्त्रिंशत्तत्वों का वर्गीकरण

शिव महापुराण शिव तत्व से लेकर भूमि पर्यन्त के षट्त्रिंशत् तत्वों को (जगत् को) तीन श्रेणियों में विभक्त करता है:–शुद्ध, शुद्धाशुद्ध एवं अशुद्ध[४९]। किन्तु वह स्पष्टरूप से यह निर्णय नहीं करता कि कौन-कौन से तत्त्व किस-किस श्रेणी से संम्बद्ध हैं। तथापि इतना निश्चित है कि–शिवतत्त्व (परमात्म-शिव) शक्तितत्त्व, सदाशिवतत्त्व, ईश्वरतत्त्व, शुद्धविद्यातत्त्व—ये पांच तत्त्व शुद्धाध्वा के अन्तर्गत माने गये हैं; क्योंकि शुद्ध-विद्या तक के तत्वों में दैवी सम्पत्ति पूर्ण सुरक्षित एवं निष्कलुष बनी रहती है, सांसारिक वातावरण उसे दूषित नहीं करता। माया, माया के कार्यभूत पंचकंचुक (कला, विद्या, राग, काल, नियति) तथा पुरुष–ये सात शुद्धाशुद्धाध्वा के अभ्यन्तर कहे गये हैं; क्योंकि इस श्रेणी में माया के द्वारा शिव के अंशभूत पदार्थों में भेद की बुद्धि उत्पन्न करने तथा दैवी सम्पत्ति के संकुचित तथा सांसारिक वातावरण से कलुषित होने पर भी दैवी-सम्पत्ति (शैवीसम्पत्ति), चाहे वह क्षीण ही क्यों न हो, बनी रहती है। पुरुष, पंचकंचुक तथा माया अन्य कुछ न होकर संकुचित हुये परमात्म-शिव तथा संकुचित हुई उनकी शक्तियां ही हैं। शुद्धाशुद्धाध्वा दैवीसंपत्ति तथा भौतिक वातावरण का संगमस्थल है यही कारण है कि यह अध्वा शुद्धाशुद्ध माना जाता है। इनके अतिरिक्त प्रकृत्यादि पृथिव्यन्त तत्त्व अशुद्धाध्वा के भीतर माने गये हैं। इन तत्वों के अशुद्ध कहे जाने का कारण यह है कि ये पूर्ण रूप से दैवी सम्पत्ति से रहित भौतिक पदार्थ हैं। ये ही आत्मा (पशु) के भोग्य कहे गये गये हैं[५०]। ये पूर्ण रूप से जड तथा मलिन हैं।

---

४८. यथा घटादिकं कार्यं मृदादेर्नातिभिद्यते।
शरीरादि तथा व्यक्तमव्यक्तान्नातिभिद्यते॥ शिव० ७, १, ५, ४०।
तस्मादव्यक्तमेवैक्य कार्यं करणानि च।
शरीरं च तदाधारं तद्भोग्यं चापि नेतरत्॥ वही, ७, १, ५, ४१।

४९. तत एव समुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम्।
अशुद्धं चैव शुद्धं यच्छुद्धाशुद्धं च तत्त्रिधा। वही, ७, २, ३४, ८-९।
शिवतत्त्वादिभूम्यन्तं तत्त्वाध्वा समुदाहृतः।
षट्विंश (त्रिंश) त्संख्ययोपेतः शुद्धाशुद्धोभयात्मकः॥ वही, ७, २, १७, ४।

५०. प्रकृतिस्थः पुमानेष भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्॥ वही, ६, १७, ६,।

द्वैत एवं अद्वैत दर्शनों में वर्गीकरण

द्वैत एवं अद्वैत[५१] दोनों ही शैवदर्शन तत्त्वों को दो ही श्रेणियों—शुद्ध एवं अशुद्ध—में विभक्त करते हैं। उनके अनुसार शिवतत्त्व (परमात्म-शिव) से शुद्ध विद्या तक के तत्त्व शुद्धाध्वा के अन्तर्गत आते हैं और माया से पृथिवी तक के तत्त्व अशुद्धाध्वा के भीतर माने जाते हैं[५२]।

तत्त्वप्रकाश एवं शैवरहस्य में वर्गीकरण

'शैवरहस्य' तथा 'तत्त्वप्रकाश' में तत्त्वों का वर्गीकरण त्रिधा किया गया है :—शुद्ध, शुद्धाशुद्ध एवं केवल अशुद्ध[५३]। शिवतत्त्व, शक्तित्व, सदा शिवतत्त्व ईश्वर तत्त्व, शुद्धविद्यातत्त्व—ये पांच तत्त्व शुद्धाध्वा के अन्तर्गत माने गये हैं। माया, माया के कार्यभूत पंचकंचुक (कला, विद्या, राग, काल और नियति) तथा पुरुष ये सात शुद्धाशुद्धाध्वा के अन्दर कहे गये हैं[५४]। इनके अतिरिक्त प्रकृत्यादि पृथिव्यन्त तत्त्व केवल अशुद्धाध्वा के भीतर माने गये हैं। ये दोनों ही ग्रन्थ द्वैतवादी शैवदर्शन से सम्बद्ध हैं।

तुलना

उपर्युक्त विवरण के अनुसार शिवमहापुराण तथा 'शैवरहस्य' एवं 'तत्त्वप्रकाश' तत्त्वों के त्रिधा वर्गीकरण में पूर्ण साम्य रखते हैं। 'शैवरहस्य' एवं 'तत्त्वप्रकाश' के वर्गीकरण से ऊपर किये गये शिव महापुराण के अनुसार वर्गीकरण का ही समर्थन होता है। इस प्रकार तत्त्वों के वर्गीकरण सम्बन्धी शिव महापुराण की भावना उक्त दोनों ग्रन्थों से पूर्ण स्पष्ट तथा अभ्रान्त हो जाती है।

उक्त द्वैत तथा अद्वैत दर्शनों के द्विधा-शुद्ध एवं अशुद्ध-वर्गीकरण की अपेक्षा यह त्रिधा वर्गीकरण अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि कोई भी वस्तु अपने पूर्ण शुद्ध रूप से झटिति अशुद्ध रूप में न परिणत होकर क्रमशः परिणत होती है। शुद्ध एवं अशुद्ध की मध्यावस्था को शुद्धाशुद्ध कहा गया है।

---

५१. 'यथा च भगवान् शुद्धेतराध्वस्फारक्रमेण स्वरूपे विकासरूपाणि सृष्ट्यादीनि करोति' प्रत्यभिज्ञा०, सूत्र १०।

५२. (क) देखिये—कान्तिचन्द्र पाण्डेयकृत 'भास्करी' का पति शीर्षक।
(ख) देखिये—'प्रत्यभिज्ञा०' पर 'जयदेव सिंह' कृत नोट।

५३. तत्त्व० द्वितीय परिच्छेद, श्लोक १–३ और उसकी तात्पर्यदीपिका व्याख्या।

५४. माया कालो नियतिः कला च विद्याभिलाषकृत् पुरुषः।
कलुप्तानि सप्तधैवं शुद्धाशुद्धानि तत्त्वानि ॥ शैव०तत्त्व० के २ य परिच्छेद की तात्पर्यदीपिका में उद्धृत।

कुछ और तत्त्वों का परिगणन

यहां सर्वाधिक विलक्षण बात यह है कि षट्त्रिशतत्त्वों के प्रतिपादक स्वयं शिवमहापुराण में ही एक स्थल पर एकपंचाशत् (५१) तत्त्वों का परिगणन किया गया है। इन तत्त्वों में, पंचमहाभूत, पंचतन्मात्रायें, पाँच कर्मेन्द्रियां, (वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ), पाँच ज्ञानेन्द्रियां (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण), सात त्वगादि धातु (त्वक्[५५], असृग्, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र), पाँच वायु (प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान) मन, बुद्धि, अहङ्कार, त्रिविध गुण, प्रकृति, पुरुष, राग, विद्या, कला, नियति, काल, माया, शुद्ध विद्या, महेश्वर, सदाशिव, शक्ति तथा शिव तत्त्व; के नाम गिनाये गये हैं[५६]।

इनमें त्रिगुण के विषय में विमर्श हो चुका है। सात त्वगादि धातुओं एवं पाँच प्राणों को भी तत्त्वों में परिगणित करने का सिद्धान्त निश्चय ही शैव-पुराणों[५७] के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता। यह शैवपुराणों का अपना नया सिद्धान्त है। सम्भव है शैवपुराणों का वैशिष्ट्य प्रदर्शित करने के लिये ही किसी ने उक्त अंश को बाद में पुराणों में जोड़ दिया हो।

---

५५. यहां पर त्वक् का माने है आभ्यन्तर त्वक्, यह बाह्य त्वक् के नीचे रहता है।

५६. तत्त्वान्येतानि मद्देहे शुद्धयन्तामित्यनुस्मरन्।
पंचभूतानि तन्मात्राः पंचकर्मेन्द्रियाणि च॥
ज्ञानकर्मविभेदेन पंचकर्मविभागशः।
त्वगादिधातवः सप्त पंचप्राणादिवायवः॥
मनो बुद्धिरहंख्यातिर्गुणाः प्रकृतिपूरुषौ।
रागो विद्याकले चैव नियतिः काल एव च।
माया च शुद्धविद्या च महेश्वरसदाशिवौ।
शक्तिश्च शिवतत्त्वं च तत्त्वानि क्रमशो विदुः॥ शिव० ७, १, ३३, १२–१५।

५७. सौन्दर्यलहरी, प्रथम भाग, श्लोक ११ पर 'लक्ष्मीधरी' टीका में कहा गया है कि एकपंचाशत् तत्त्व वायवीय संहितादि सभी शैवपुराणों में उल्लिखित हैं।

चतुर्थ अध्याय

आत्मतत्त्व

आत्मा परमात्म-शिव से अभिन्न है

आत्मा को पशु, पुरुष एवं अक्षर भी कहा गया है[1]। आत्मा और यह सम्पूर्ण संसार पूर्णरूप से परमात्म-शिव ही है[2]। जिस समय पर-पुरुष अर्थात् परमात्म-शिव परमैश्वर्यपूर्वक अपने रूप को माया से संकुचित कर अशेष-पदार्थों के ग्राहक होते हैं, उस समय उनको आत्मा (पुरुष) कहा जाता है। यही कारण है कि श्रुति भी कहती है 'तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्' (उस शरीर को रचकर स्वयं उसमें प्रविष्ट हुआ)[3]। यह संकुचित अतएव पुरुष रूप परमात्म-शिव ही माया से मोहित होकर संसारी (संसारबन्धन में बंधा हुआ) पशु कहलाता है। शिवत्व के ज्ञान से शून्य होने के कारण पशु की बुद्धि नाना कर्मों में आसक्त हो मूढ़ता को प्राप्त होती है[4]।

जब परमात्म-शिव संकुचित होकर आत्मा बन जाते हैं तब उनकी ज्ञान एवं क्रिया आदि शक्तियां भी संकुचित होकर किंचिन्मात्र हो जाती हैं। परमात्म-शिव की अपरिमित शक्तियों का संकुचित होकर किंचिन्मात्र रूप में परिणत होना ही पशु अर्थात् आत्मा वर्ग का लक्षण है। परमात्म-शिव को अपरिमित शक्तियों का यह संकोच ही बन्धन कहा जाता है[5]। शक्ति का परि-

---

१. (क)—पश्चात्मानस्त्रिधा भिन्नाः·····। शिव० ७, १, ३१, ७३।
(ख)—अक्षरं पशुरित्युक्तः·····। वही, ७, १, ५, १४।
(ग)—पुरुषोऽक्षर उच्यते·····। वही, ७, १, ५, १६।

२. श्रुतिराह मुने तस्मात् प्रपंचात्मा सदाशिवः ॥ वही, ६, १७, ३४।

३. शिवो यदा निजं रूपं परमैश्वर्यपूर्वकम्।
निगृह्य माययाऽशेषपदार्थग्राहको भवेत्।
तदा पुरुष इत्याख्या तत्सृष्ट्वेत्यभवच्छ्रुतिः ॥ वही, ६, १६, ७३, ७४।

४. अयमेव हि संसारी मायया मोहितः पशुः।
शिवज्ञानविहीनो हि नानाकर्मविमूढधीः ॥ वही, ६, १६, ७५।

५. ज्ञानं बन्ध इतीदं तु द्वितीयं सूत्रमीशितुः।
ज्ञानमित्यात्मनस्तस्य किंचिज्ज्ञानक्रियात्मकम्।
इत्याहादव्यपदेशेन पशुवर्गस्य लक्षणम् ॥ वही, ६, १६, ४६–४७।

मितत्व एवं अपरिमितत्व ही आत्मा और परमात्म-शिव के बीच को विभाजक रेखा है। इस विभाजक रेखा की परिसमाप्ति पर आत्मा और परमात्म-शिव में कोई भेद अवशिष्ट नहीं रह जाता।

'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'तत्त्वमसि' का अर्थ

'अहं ब्रह्मास्मि'[६] (वह ब्रह्म मैं हूं) :—यहां पर शक्तियुक्त शिव (परमेश्वर) ही 'अहम्' पद के अर्थभूत हैं। सब वर्णों में प्रथम स्थानीय अर्थात् अग्रगण्य 'अकार' परम प्रकाश शिवरूप है। 'हकार' का वर्णन शक्तिरूप से किया जाता है। शिव और शक्ति के संयोग से सदा आनन्द की प्राप्ति होती है। 'मकार' उसी आनन्द का बोधक है। 'ब्रह्म' शब्द से शिवशक्ति अर्थात् शक्तिमान् शिव की सर्वरूपता स्पष्ट ही सूचित होती है। 'अस्मि' पद का अर्थ है 'हूं'। यहां पर 'अस्मि' क्रिया को देखकर कर्ता का आक्षेप करना होगा। इस प्रकार इस महावाक्य का अर्थ हुआ 'मैं' (आत्मा) सर्वस्वरूप, आनन्दमय शक्तिविशिष्ट शिव हूं। इस महावाक्य का इस प्रकार अर्थ करने से 'वह शक्तिमान् परमेश्वर मैं हूं' ऐसी भावना करने का जो उपदेश किया गया है वह भी गतार्थ हो जाता है[७]।

वस्तुतः 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य में अहम्' का अर्थ मैं (आत्मा) करके 'ब्रह्म' का अर्थ सत् (पुरुष अर्थात् शिव), चित् (शक्ति) आनन्द (शिव शक्ति का संयोग आनन्द) स्वरूप है, अस्मि (हूं) अर्थात् 'मैं' (आत्मा) आनन्द स्वरूप शक्ति विशिष्ट शिव हूँ' यह अर्थ किया गया होता तो अधिक अच्छा होता क्योंकि ऐसा करने पर वाक्य में एक 'अहं', पद के रहते दूसरे 'अहं' पद का अध्याहार अथवा कल्पना न करनी होती। शिव महापुराण में 'ब्रह्म' पद का यही अर्थ एक स्थान पर किया भी गया है[८]।

---

६. बृहदा० १, ४, १०।

७. अहं पदस्यार्थभूतः शक्त्यात्मा परमेश्वरः।
अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः।
हकारो व्योमरूपः स्याच्छक्त्यात्मा संप्रकीर्तितः ॥
शिवशक्त्योस्तु संयोगादानन्दः सततोदितः।
ब्रह्मेति शिवशक्त्योस्तु सर्वात्मत्वमिति स्फुटम् ॥
पूर्वमेवोपदिष्टं तत्सोऽहमस्मीति भावयेत्। शिव० ६, १६, १-४।

८. सच्चिदानन्दरूपत्वं वदति ब्रह्मणः श्रुतिः। वही, ६, १६, २५।
त्रिलिंगवर्ती सच्छब्दः पुरुषोऽत्र विधीयताम्।
प्रकाशवाची स भवेत् सप्रकाश इति स्फुटम्।
ज्ञानशब्दस्य पर्यायश्चिच्छब्दः स्त्रीत्वमागतः ॥ वही, ६, १६, २६-२७।

'तत्त्वमसि'[९]—इस महावाक्य में 'तत्' पद का वही अर्थ है, जो 'सोऽहमस्मि' में 'सः' पद का अर्थ है अर्थात् 'तत्' पद शक्त्यात्मक परमेश्वर का ही वाचक है। अन्यथा 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में अन्वय की अनुपपत्ति होगी, क्योंकि 'तत्' पद नपुंसक है और 'त्वम्' पुंलिंग, अतः परस्पर विरोधी होने के कारण 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों वाक्यों में परस्पर अन्वय नहीं हो सकता। जब दोनों का (तत् एवं त्वम् का) अर्थ 'शक्तिमान् परमेश्वर' होगा तब अर्थ में समानलिङ्गता होने से अन्वय में अनुपपत्ति नहीं होगी[१०]।

तत्त्वमसि वाक्य का अभिप्राय

इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टांत दिया जाता है। किसी तादात्म्यसूचक वाक्य को लिया जाय। जैसे 'यह देवदत्त है' इस वाक्य से सूचित होता है कि देवदत्त को हम पहले एक बार देख चुके हैं, अब दूसरी बार देख रहे हैं। अब प्रथम बार देखे हुए देवदत्त में जो-जो औपाधिक गुण थे, ठीक वे ही सब द्वितीय बार देखे हुये देवदत्त में नहीं हैं। फिर भी कहा जाता है कि 'यह वही देवदत्त है'। इसका अर्थ यह है कि तात्कालिक और एतत्कालिक इन दोनों विरुद्ध विशेषणों से रहित मनुष्य एक ही है। इसी तरह आत्मा और परमात्मा अर्थात् शिव के विषय में भी समझा जाना चाहिये। 'तत्' शब्द का मुख्यार्थ है पराशक्तित्व परोक्षत्व आदि उपाधियों से विशिष्ट चैतन्य अथवा शिव। शिव (आत्मा) को चैतन्य स्वरूप माना गया है[११]। 'त्वम्' शब्द का मुख्य अर्थ है किंचित्शक्त्यात्मक एवं अपरोक्षत्व विशिष्ट शिव, चैतन्य अथवा आत्मा[१२]। इन दोनों का विरुद्ध अंश त्याग करके उभयनिष्ठ चैतन्य अथवा शिव को ग्रहण करके दोनों में अभेद अथवा ऐक्य समझना चाहिये। यही 'तत्त्वमसि' महावाक्य का तात्पर्य है। ऐसा करने से यह स्पष्ट हो जाता

९. 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ख० ८ से १६ तक)।

१०. पूर्वमेवोपदिष्टं तत् सोहमस्मीति भावयेत् ॥
तत्त्वमिति तदिति तच्छब्दार्थः प्रबोधितः ॥
अन्यथा सोऽहमित्यत्र विपरीतार्थभावना।
अहं शब्दस्तु पुरुषस्तदिति स्यान्नपुंसकम्।
एवमन्योन्यवैरुध्यादन्वयो न भवेत्तयोः। वही, ६, १६, ५।

११. चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम्।
चैतन्यमिति विश्वस्य सर्वज्ञानक्रियात्मकम्। शिव० ६, १६, ४४-४५

१२. ज्ञानमित्यात्मनस्तस्य किंचिज्ज्ञानक्रियात्मकम्।
इत्याहाद्यपदेशेन पशुवर्गस्य लक्षणम् ॥ वही, ६, १६, ४७।

है कि 'तत्त्वमसि' वाक्य, पिष्ट-पेषण अथवा निरर्थक नहीं है। क्योंकि यह वाक्य बतलाता है कि जो आपाततः भिन्न प्रतीत होते हैं वे यथार्थतः एक हैं। आत्मा और परमात्म-शिव आपाततः भिन्न प्रतीत होते हुये भी वस्तुतः अभिन्न हैं। इसी तादात्म्य का ज्ञान कराना 'तत्त्वमसि' वाक्य का तात्पर्य है। आत्मा और परमात्म-शिव वस्तुतः एक हैं।

इस प्रकार उक्त महावाक्यों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शिव महापुराण के अनुसार आत्मा परमात्म-शिव से अभिन्न है। दोनों में भेद नहीं है।

परमात्म-शिव के आत्मत्व में कारण

परम पुरुष अर्थात् परमात्म-शिव का आत्मा के रूप में आत्म-संकोच प्रकृति के गुणों का उपभोग करने के लिए होता है[१३]।

आत्मा में क्षीण शक्ति की वर्तमानता में कारण

चित् शक्ति अथवा पूर्ण चैतन्य की शक्ति, जिसे पराशक्ति के नाम से भी जाना जाता है, जीवात्मा में दुर्बल अवस्था में रहती है। जीवात्मा में चित् शक्ति की सार्वकालिक वर्तमानता, चाहे वह क्षीण रूप में ही क्यों न हो, पाश (मल) के निवृत्ति के लिये रहती है[१४]। इस प्रकार शक्ति बल का उपलक्षण है।

आत्मा और पंचकंचुक

जिस प्रकार परमात्म-शिव संकुचित होकर पशु (आत्मा) हो जाते हैं, उसी प्रकार उनकी सर्वकर्तृत्वरूपा, सर्वज्ञत्वस्वरूपिणी, पूर्णत्वरूपा, नित्यत्व एवं व्यापकत्वस्वरूपिणी पंचशक्तियाँ भी संकुचित होकर कला, विद्या, राग, काल एवं नियति कही जाती हैं। ये ही पाँच पशु की शक्तियाँ कही गई हैं। इन्हीं को कला एवं तत्त्वपंचक भी कहते हैं। पुरुष (आत्मा) इन्हीं पंचकलाओं के माध्यम से प्रकृतिस्थ हो प्रकृति के गुणों का उपभोग करता है। कला पशु के कर्तृत्व का हेतु है अर्थात् जिस प्रकार इच्छारूपा पराशक्ति परमात्म-शिव के कर्तृत्व का कारण है उसी प्रकार अपनी स्वल्प परिधि में जो जीव कर्तृत्व है, वह कला के ही कारण है। विद्यातत्त्व का साधन है अर्थात् विद्या आत्मा को वास्तविक सत्ता के उद्घाटन की ओर ले जाती है[१५]।

---

१३. (क) भोक्तेति पुरुषश्चेति येनात्मा व्यपदिश्यते।
किमात्मकं तदव्यक्तं केनाकारेण भुज्यते। शिव० ७, १, १५, २९-३०।
(ख) सुखदुःखविमोहात्मा भुज्यते गुणवांस्त्रिधा॥ वही, ७, १, ५, ३३।

१४. जीवाश्रितायाश्चिच्छक्तेर्दौर्बल्यं विद्यते सदा।
तन्निवृत्त्यर्थमेवात्र शक्तिस्त्वं सार्वकालिकम्॥ वही, ६, १६, ३१।

१५. शेष विवरण और प्रमाण के लिये देखिये-'तत्त्व' नामक तृतीय अध्याय में "माया और पंचकंचुक"।

आत्मा के अस्तित्व के लिये प्रमाण

आत्मा प्रत्येक शरीर में स्वतः प्रकाश है। प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है कि 'मैं हूं'। परन्तु इस 'मैं' के साथ इतने प्रकार के अर्थ जुड़े हुये हैं कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप निश्चय करने के लिये विश्लेषण और तर्क की आवश्यकता है।

इस विषय की विवेचना के लिये एक प्रणाली है, शब्दार्थ का विश्लेषण। 'मैं' कभी-कभी शरीर के अर्थ में प्रयुक्त होता हैं, जैसे 'मैं मोटा हूं'। कभी-कभी 'मैं' का व्यवहार ज्ञानेन्द्रिय के अर्थ में किया जाता है, जैसे,—'मैं सोचता हूं'। कभी-कभी 'मैं' से कर्मेन्द्रिय का बोध होता है—जैसे, 'मैं लंगड़ा हूं'।

किन्तु शरीर आदि की आत्मता का खण्डन करते हुये शिव महापुराण कहता है कि—बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर आत्मा नहीं है। बुद्धि, इन्द्रिय और शरोर से व्यतिरिक्त, विभु, ध्रुव कोई आत्मा है, किन्तु उसके लिये हेतु देना बड़ा ही दुर्गम है[१६]। फिर भी इतना तो निश्चय है कि बुद्धि, इन्द्रिय एवं शरीर आत्मा नहीं हो सकते, क्योंकि बुद्धि का ज्ञान अनियत है, और एक अङ्ग में पीड़ा होने पर सम्पूर्ण शरीर में उसका अनुभव नहीं होता। अर्थात् अनियत ज्ञान होने से बुद्धि आत्मा नहीं हो सकती और एक अङ्ग में व्यथा होने पर सम्पूर्ण शरीर में उसका अनुभव न होने से शरीर एवं इन्द्रियाँ आत्मा नहीं बन सकतीं[१७]।

अतः वेदों एवं उपनिषदों में अनुभूत पदार्थों का स्मर्ता, अशेष पदार्थों का ज्ञाता, अन्तर्यामी आत्मा कहा गया है[१८]। यह सम्पूर्ण संसार आत्मा में है और शाश्वत यह आत्मा सर्वत्र व्याप्त होकर वर्तमान है, तथापि कहीं भी किसी के द्वारा यह (आत्मा) व्यक्तरूप से नहीं देखा जाता। यह आत्मा न तो चक्षुग्राह्य है और न तो यह (आत्मा) अपर इन्द्रियों का ही विषय हो सकता है। यह महान् आत्मा केवल प्रदीप्त मन के द्वारा ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है[१९]। यह (आत्मा) न तो स्त्री है, न पुरुष है, और न नपुंसक ही

---

१६. बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो व्यतिरेको विभुर्ध्रुवम्।
अस्त्येव कश्चिदात्मेति हेतुस्तत्र सुदुर्गमः॥ शिव० ७, १, ५, ४३।

१७. बुद्धीन्द्रियशरीराणां नात्मता सद्भिरिष्यते।
स्मृतेरनियतज्ञानादयावद्देहवेदनात्॥ वही, ७, १, ५, ४४।

१८. अतः स्मर्तानुभूतानामशेषज्ञेयगोचरः।
अन्तर्यामीति वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते। वही, ७, १, ५, ४५।

१९. ……मनसैव प्रदीप्तेन महानात्मावसीयते। वही, ७, १, ५, ४७।

है। न तो यह कहीं से ऊपर ही रहता है, न तिर्यक् और न नीचे ही। यह चल शरीर में अशरीर, स्थाणु एवं अव्यय रूप से वर्तमान रहता है। धीर पुरुष विचार करने से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर पाते हैं। जो लोग आत्मा को बुद्धि एवं शरीर तथा इन्द्रियस्वरूप समझते हैं, उनका दर्शन असम्यक् है[२०]।

परमात्म-शिव और जीव में अन्तर

यद्यपि परमात्म-शिव ही आत्मा के रूप को धारण करते हैं तथापि दोनों में अन्तर है। साहङ्कार होने पर जीव और अहङ्कार से रहित होने पर यह जीव ही साक्षात् शंकर है। तुच्छ एवं कर्मभोगी होने पर जीव एवं निर्लिप्त होने पर महान् शंकर (परमात्म-शिव) की संज्ञा होती है। जिस प्रकार रजत आदि से मिश्रित सुवर्ण अल्प मूल्य का हो जाता है उसी प्रकार अहंयुक्त होने पर परमात्म-शिव भी आत्मा (जीव) संज्ञा को धारण करते हैं[२१]।

ऊपर यह निर्देश किया गया है कि प्रकृति के भोग के लिए परमात्म-शिव आत्मारूप से संकुचित होते हैं अर्थात् प्रकृति के उपभोग के लिये आत्मा रूप को धारण करते हैं। आत्मा के प्रकृति भोग का साधन बाह्य एवं अन्तःकरण रूपी साधन से सम्पन्न शरीर ही है। शरीर के माध्यम से ही आत्मा प्रकृति का भोग करता है। किन्तु ये शरीर अस्थाई बतलाये गये हैं।

यह आत्मा, अत्यन्त असुख के आवास, अशुद्ध, अवश, अध्रुव और विपत्ति के बीजभूत, शरीर से संयुक्त होकर अपने कर्म के कारण सुखी, दुःखी मूढ़ होता तथा नाना जन्मों के चक्र में पड़ता है। जिस प्रकार जल से आप्लावित क्षेत्र अंकुर को उत्पन्न करता है उसी प्रकार अज्ञानाप्लावित कर्म देह को उत्पन्न करता है अर्थात् अज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्म ही जन्म का कारण होता है।

इस आत्मा के दुःखस्वरूप, निश्चित मरणशील, सहस्रशः अनागत और अतीत शरीर कहे गये हैं। वह इन नश्वर शरीरों में कहीं भी स्थायित्व को

२०. किमत्र बहुनोक्तेन पुरुषो देहतः पृथक्।
अपृथग्ये तु पश्यन्ति ह्यसम्यक् तेषु दर्शनम् ।। शिव० ७, १, ५, ५०।

२१. साहङ्कारस्तथा जीवस्तन्मुक्तः शङ्करः स्वयम्।
जीवस्तुच्छः कर्मभोगी निर्लिप्तः शङ्करो महान्।
यथैकं च सुवर्णादिमिलितं रजतादिना।
अल्पमूल्यं प्रजायेत तथा जीवोऽप्यहंयुतः ।। वही, ४, ४३, २३–२४।

२२. अद्भिराप्लावितं क्षेत्रं जनयत्यङ्कुरं यथा।
अज्ञानाप्लावितं कर्म देहं जनयते तथा ।। वही, ७, १, ५, ५१।

नहीं प्राप्त करता। जिस प्रकार गगन में चन्द्रबिम्ब तरल अभ्रसंचय के द्वारा कभी आच्छादित होता है और कभी मुक्त होता है उसी प्रकार आत्मा भी शरीर से कभी संयुक्त होता है तो कभी वियुक्त होता है[२३]। जिस प्रकार चन्द्र-मण्डल अभ्रसंचय के द्वारा छादित होने पर भी उससे भिन्न रहता है और चन्द्र कभी अभ्रसंचय नहीं हो जाता उसी प्रकार आत्मा भी शरीर से संयुक्त होने पर भी उससे भिन्न रहता है और वह कभी भी शरीर नहीं हो सकता। इस संसार में अनेक देहों के भेद के कारण आत्मा की वृत्ति भी भिन्न हो जाती है[२४]। आत्मा की वृत्ति भिन्न क्यों हो जाती है? इस बात को इस प्रकार समझा जा सकता है, जिस प्रकार धवल मेघ-खण्ड से आच्छादित चन्द्र धवल प्रतीत होता है, रक्त मेघ से आच्छन्न होने पर वही रक्त ज्ञात होता है तथा कृष्ण मेघ से आच्छन्न होने पर कृष्ण प्रतीत होता है उसी प्रकार आत्मा भी विभिन्न शरीरों से संयुक्त होने पर भिन्न वृत्ति वाला प्रतीत होता है। वस्तुतः सदा एक स्वरूप रहने वाले आत्मा में वृत्ति-वैभिन्न्य होता ही नहीं। आत्मा में प्रतीयमान वैभिन्न्य तो देह के कारण होता है।

आत्मा का क्षणिक सम्बन्ध

विभिन्न योनियो में भ्रमण करने वाले आत्मा का न तो कोई होता है और नहीं यह किसी का है। स्त्री, पुत्र एवं बन्धुओं के साथ आत्मा का उसी प्रकार का क्षणिक संगम है जैसे एक पथिक का अन्य पथिक के साथ होता है। यह सम्बन्ध स्थायी नहीं होता। जैसे सागर की लहरियों से दो काष्ठ संगम को पाकर पुनः वियुक्त हो जाते हैं उसी प्रकार सांसारिक समागम अर्थात् भूत समागम भी अस्थायी है[२५]।

इस प्रकार विभिन्न योनियों में भ्रमण करता हुआ आत्मा शिवज्ञान से विहीन और नानाकर्म विमूढधी होकर सुख एवं दुःख का भोग करता है। आत्मा की यह अवस्था तबतक बनो रहतो है जब तक कि उसे अपने चैतन्य-स्वरूप का बोध नहीं होता।

---

२३. छादितश्च वियुक्तश्च शरीरैरेषु लक्ष्यते।
चन्द्रबिम्बवदाकाशे तरलैरभ्रसंचयैः॥ शिव० ७, १, ५, ५६।

२४. अनेक-देहभेदेन भिन्नावृत्तिरिहात्मनः। वही, ७, १, ५, ५७।

२५. यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः॥ वही, ७, १, ५, ५९।

मल-मायादि पाश एवं आत्मा

अविनाशी[२६] यह आत्मा माया से आवृत होकर[२७] ही असुख को सुख अनात्मा को आत्मा अर्थात् अपना रूप समझने लगता है। आत्मा का चैतन्य माया से आवृत कर लिया जाता है। यही कारण है कि उसे अपने स्वरूप के विषय में भ्रम होता है। मायादि मल अर्थात् आणवमल, मायीयमल एवं कार्ममल[२८] आत्मा की सत्य प्रकृति को इस प्रकार आच्छादित कर लेते हैं कि उसे अपने स्वरूप का तब तक ज्ञान नहीं होता जब तक कि उस पर ईश्वर की कृपा न हो जाय। ईश्वर की कृपा होने पर जब आत्मा की मल से विशुद्धि हो जाती है तब वह स्वतः शिवता को प्राप्त कर लेता है[२९]।

आत्मा की मल के द्वारा आवृति

आत्मा की मल-मायादि के द्वारा आवृति पूर्वजन्मोपात्त कर्म के कारण होती है। कर्म के फलभोग के लिये ही यह आवृति होती है और मल के क्षीण होने पर यह आवृति समाप्त हो जाती है[३०]। आत्मा बन्धन (पाश) की अवस्था में कला, विद्या, राग, काल एवं नियति को भोगता हुआ आनन्द का अनुभव करता है[३१]। वह अपने अच्छे अथवा बुरे कर्मों के फलों का उपभोग करता हुआ कभी आनन्दित होता है तो कभी दुःखित भी होता है। भोग से कर्म का विनाश होता है। भोग ही अव्यक्त कहा गया है[३२]।

आत्मा और मल का संयोग

आत्मा के साथ मलों का संयोग कब से प्रारम्भ हुआ, यह नहीं कहा जा सकता, अर्थात् आत्मा के साथ मल का संयोग अनादि है, किन्तु आत्मा की

---

२६. अक्षरं पशुरित्युक्तः .... । शिव० ७, १, ५, १४।
पुरुषो अक्षर उच्यते। वही, ७, १, ५, १६।

२७. .... पुरुषो माययावृतः। वही, ७, १, ५, १८।
.... चिद्रूपो माययावृतः। वही, ७, १, ५, २०।

२८. मलों का वर्णन पंचम अध्याय में होगा।

२९. भावातिशयलब्धेन प्रसादेन मलक्षयः।
क्षीणे चात्ममले तस्मिन् पुमान् शिवसमो भवेत्॥ वही, ७, १, ५, २८।

३०. आवृतिर्व्यापिनोऽपि स्याद्व्यापि यस्मात्कलाद्यपि।
हेतुः कर्मैव भोगार्थं निवर्तेत मलक्षयात्॥ वही, ७, १, ५, २२।

३१. कला विद्या च रागश्च कालो नियतिरेव च।
कलादयः समाख्याता यद्भोक्ता पुरुषो भवेत्॥ वही, ७, १, ५, २५।

३२. भोगः कर्म विनाशाय भोगमव्यक्तमुच्यते। वही, ७, १, ५, २७।

मुक्ति के साथ इस संयोग का विनाश अवश्य होता है[३३]। भावातिशय (ईश्वर में प्रेमाधिक्य) से प्राप्त परमात्म-शिव के प्रसाद से ही मलक्षय होता है।

आत्मा का मल स्वाभाविक है

जिस प्रकार परमात्म-शिव स्वभावतः विमल हैं, उसी प्रकार जीव संज्ञा-वाले आत्मा स्वभावतः मलिन हैं[३४]। इस स्वाभाविक मलिनता के कारण ही आत्मा जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्र में घूमा करते हैं। आत्मा के साथ कर्म एवं माया का संयोग संसार कहा गया है। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि जन्म एवं पुनर्जन्म धारण करना ही संसार है[३५]। परमात्म-शिव और आत्मा के बीच विभाजक रेखा अंकित करते हुए कहा गया है कि परमात्म-शिव किसी प्रकार के कर्म से सम्बद्ध नहीं हैं। वे पूर्णतया निर्मल हैं। यही कारण है कि वे स्थावर-जङ्गमात्मक विश्व के विकास संचालक (हेतु) हैं। आत्मा की अप-वित्रता (मल) स्वाभाविक अर्थात् निज है न कि आगन्तुक[३६]। यदि यह आग-न्तुक होता तो किसी को भी किसी भी कारण से बन्धन प्राप्त हो जाता।

आत्मा की मलकृत विभिन्न श्रेणियां

यद्यपि सभी आत्मा में आत्मता समान रूप से वर्तमान रहती है तथापि उनकी (आत्मा की) बद्धावस्था एवं मुक्तावस्था को लेकर उनमें परस्पर भेद का व्यवहार किया जाता है। बद्ध जीवों में भी कुछ लोग लय और भोग के अधिकार के अनुसार उत्कृष्ट और निकृष्ट होकर ज्ञान और ऐश्वर्य आदि की विषमता को प्राप्त होते हैं अर्थात् कुछ लोग अधिक ज्ञान और ऐश्वर्य से युक्त होते हैं तथा कुछ लोग कम[३७]। कोई मूर्त्यात्मा होते हैं और कोई साक्षात् पर-मात्म-शिव के समीप विचरण करने वाले होते हैं। मूर्त्यात्मा में कोई तो पर-मात्म-शिव स्वरूप हो षट् अध्वा[३८] के ऊपर स्थित होते हैं। कोई अध्वाओं के

---

३३. अनादिमलभोगान्तं .... । शिव० ७, १, ५, २६।

३४. स्वभावविमलो यद्वत् सर्वानुग्राहकः शिवः ॥
स्वभावमलिनास्तद्वदात्मानो जीवसंज्ञिताः। वही, ७, १, ३१, ५९।

३५. कर्ममायानुबन्धोऽस्य संसारः कथ्यते बुधैः ॥ वही, ७, १, ३१, ६०।

३६. स हेतुरात्मनामेव निजो नागन्तुको मलः। वही, ७, १, ३१, ६१।

३७. आत्मतायाः समत्वेऽपि बद्धाः मुक्ताः परे यतः।
बद्धेष्वेव पुनः केचिल्लयभोगाधिकारतः ॥ वही, ७,१,३१,६३।
ज्ञानैश्वर्यादिवैषम्यं भजन्ते सोत्तराधराः। वही, ७,१,३१,६४
। और आगे भी।

३८. षडध्व-प्रक्रिया का विवेचन एक अलग अध्याय में किया जायगा।

मध्यमार्ग में महेश्वर होकर रहते हैं और कोई अध्वाओं के निम्नभाग में रुद्ररूप से स्थित होते हैं। परमात्म-शिव के समीपवर्ती स्वरूप में भी माया से परे होने के कारण उत्कृष्ट, मध्यम और निकृष्ट भेद से तीन श्रेणियां होती हैं—वहां निम्नस्थान में आत्मा की स्थिति है, मध्यम स्थान में अन्तरात्मा की स्थिति है और जो सब से उत्कृष्ट, श्रेणी का स्थान है, उसमें परमात्मा की स्थिति है। ये ही क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर कहलाते हैं। इस प्रकार कोई जीव (आत्मा) परमात्मपद का आश्रय लेने वाले होते हैं, कोई अन्तरात्मपद पर और आत्मपद पर प्रतिष्ठित होते हैं।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि बद्धावस्था में स्थित आत्मा अपनी विभिन्न विकास की अवस्थाओं के आधार पर विभिन्न रूप से ज्ञान और शक्ति को धारण करते हैं।

आत्मा के साथ सम्बद्ध मल भी आम और पक्व-द्विविध-होता है। मल के आम रहने पर आत्मा की अधरता रहती है और क्रमशः पक्व होने पर उसकी (आत्मा की) उत्तरता होती है[३९]। मल के त्रिविध भेद-आणवमल, मायीयमल, कार्ममल—के कारण आत्मा भी त्रिविध-एकमलात्मक, द्विमलात्मक एवं त्रिमलात्मक हो जाते हैं। इनमें एकमल वाले श्रेष्ठ, द्विमल वाले मध्यम तथा त्रिमल वाले अधम कहे गये हैं। त्रिमल एवं द्विमल आत्मा क्रमशः द्विमल एवं एकमल वाले आत्मा से अधिष्ठित होते हैं[४०]। इस प्रकार विश्व का औपाधिक भेद कल्पित किया गया है[४१]। स्पष्ट ही यह सब भेद मल के कारण कल्पित किया जाता है।

ब्रह्मादि स्थावरान्त आत्मा है

शैव दर्शनों में परमात्म-शिव को इतनी अधिक महत्ता प्रदान की जाती है कि उनके (परमात्म-शिव के) अतिरिक्त और सब देवों को, चाहे लोक या साहित्य में उन्हें बड़ा से बड़ा स्थान क्यों न उपलब्ध हो, पशु (आत्मा) ही

३९. मलोप्यामश्च पक्वश्च भवेत्संसारकारणम्।
आमे त्वधरता पुंसां पक्वे तूत्तरता क्रमात्॥ शिव० ७, १, ३१, ७२।

४०. पश्वात्मानस्त्रिधा भिन्ना एकद्वित्रिमलाः क्रमात्।
अत्रोत्तरा एकमला द्विमला मध्यमा मताः।
त्रिमलास्त्वधरा ज्ञेया यथोत्तरमधिष्ठिताः॥ वही, ७, १, ३१, ७३।
त्रिमलानधितिष्ठन्ति द्विमलैकमला: क्रमात्॥ वही, ७, १, ३१, ७४।

४१. इत्थमौपाधिको भेदो विश्वस्य परिकल्पितः॥ वही, ७, १, ३१, ७४।

कहा गया है[४२]। शैव दर्शन की अपनी यह विशिष्टता है कि वह संसार के सभी पदार्थों को, चाहे वे स्थावर हों अथवा जङ्गम, आत्मा (पशु) मानता है। विद्वानों का मत है कि यह आत्मा (जीव) शिव की विविध लीलाओं का साधन है। अज्ञ और अपने सुख एवं दुःख के विषय में अनीश यह आत्मा (जन्तु) ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर स्वर्ग अथवा नरक को जाता है[४३]।

आत्मा के विकास में उसके स्वभाव का महत्त्व

यद्यपि इस संसार का चिदचिदात्मक सब कुछ परमात्म-शिव के द्वारा हित में नियुक्त किया जाता है, किन्तु वैशिष्ट्य यह है कि अपने-अपने स्वभाव की प्रतिबन्धकता के कारण सभी एक साथ हित को नहीं प्राप्त करते हैं[४४]। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों के द्वारा कमलों को एक साथ विकसित होने के लिये प्रेरित करता है, किन्तु अपने-अपने स्वभाव के अनुरोध के कारण सभी कमल एक साथ नहीं विकसित होते, उसी प्रकार शिव के द्वारा हित में लगाये जाने पर भी सभी आत्मा उसमें नहीं संलग्न होते। इससे यह प्रमाणित होता है कि पदार्थों का स्वभाव भी भावी अर्थ का कारण होता है[४५]। जिस प्रकार अग्निसंयोग अङ्गार को द्रवित न कर केवल सुवर्णमात्र को ही द्रवित करता है, उसी प्रकार परमात्म-शिव की कृपा भी उन्हीं पशुओं (आत्मा) पर प्रभाव कारिणी ही मुक्त करती है, जिनके मल का परिपाक हो चुका होता है और जो आत्मा अभी पक्वमल नहीं हुए होते उनकी मुक्ति नहीं होती। वस्तुओं के विकास के क्षेत्र में उनकी (वस्तुओं की) स्वाभाविक प्रकृति मुख्य प्रतिबन्धक का कार्य करती है। यदि कोई वस्तु स्वभावतः अवस्थान्तर को प्राप्त कराई जा सकती है तभी परमात्म-शिव की इच्छा भी उसे अवस्थान्तरित करा सकती है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार ईश्वरेच्छा तभी प्रभावकारिणी होती है जब वस्तु की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी उसका सहयोग करे।

ऊपर के विवरण से यह प्रश्न उठने का अवसर ही नहीं रहता कि सब कुछ करने में समर्थ परमात्म-शिव बिना दुःख दिये भी जब पशुओं को मुक्त

४२. ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च देवदेवस्य शूलिनः ।
पशवः परिकीर्त्यन्ते संसारवशवर्तिनः ॥ शिव० ७, २, २, ११ ।

४३. अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ वही, ७, १, ५, ६३ ।

४४. हिते सदा नियुक्तं तु सर्वं चिदचिदात्मकम् ।
स्वभावप्रतिबन्धं तत्समं न लभते हितम् ॥ वही, ७, १, ३१, ५४ ।

४५. स्वभावोऽपि हि भावानां भाविनोऽर्थस्य कारणम् । वही, ७, १, ३१, ५५ ।

करने में समर्थ हैं तब क्यों उनको दुःख की अवस्था से जाने को बाध्य करते हैं[४६]। यह सम्पूर्ण संसार दुःख ही है। ऐसी अवस्था में दुःख कैसे अदुःख किया जा सकता है, क्योंकि स्वभाव नहीं बदला जाता है। वस्तु की स्वाभाविक अवस्था अथवा स्वभाव के द्वारा परमात्म-शिव की अनन्त शक्तिमत्ता सीमित कर दी जाती है, और उसी के अनुसार परमात्म-शिव की इच्छा भी कार्य करती है। मल स्वभावतः मोहात्मक एवं दुःखात्मक होते हैं, ऐसी अवस्था में उन्हें दुःख रहित करना सम्भव नहीं है। अतः पूर्णरूप से मल से मुक्ति प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि आत्मा दुःख भोगता हुआ संसार, जन्म एवं पुनर्जन्म के क्रम से अवश्य ही यात्रा करे। जिस प्रकार रोगी वैद्य की इच्छामात्र से नीरोग नहीं हो जाता, अपितु वैद्य रोगार्त को भेषज से ठीक करता है, उसी प्रकार स्वभावतः मलिन एवं स्वभावतः दुःखी आत्मा को परमात्म-शिव अपने औषध-विधान के द्वारा दुःखों से मुक्त करते हैं। इस संसार रोग की औषध एकमात्र ज्ञान ही है[४८]। यह आत्मा और ब्रह्म (शिव) के अभेदबोध स्वरूप होता है। जब आत्मा को परमात्म-शिव के साथ अपने अभेद रूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब उसका संसार रोग भी समाप्त हो जाता है[४९]। यहां यह भी नहीं कहा जा सकता कि संसार के कारण एवं संसाररूपी रोग के वैद्य परमात्म-शिव ही रोग के भी कारण हैं, क्योंकि रोग (दुःख) तो स्वभावसिद्ध है, ऐसी अवस्था में किसी को उसका कारण होने की आवश्यकता नहीं है। पुरुषों (आत्मा) का मल स्वभाविक है और यह मल ही उनको (पुरुषों को) संसार में भ्रमण कराता है[५०]।

एक भिन्न दार्शनिक दृष्टिकोण

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उत्तरवायवीय संहिता में, पूर्व-

४६. अदुःखेनापि शक्तोऽसौ पशून् मोचयितुं शिवः।
कथं दुःख करोतीति नात्र कार्या विचारणा॥ शिव० ७, १, ३१, ८२।

४७. दुःखमेव हि सर्वोऽपि संसार इति निश्चितम्।
कथं दुःखमदुःखं स्यात् स्वभावो ह्यविपर्ययः॥ वही, ७, १, ३१, ८३।

४८. अस्य रोगस्य भैषज्यं ज्ञानमेव न चापरम्।
भिषगाज्ञापकः शम्भुः शिवः परमकारणम्॥ वही, ७, १, ३१, ८१।

४९. परतत्त्वं विजानीहि विज्ञानं परमेश्वरि।
द्वितीयं स्मरणं यत्र नाहं ब्रह्मेति शुद्धधीः॥ वही, २, २, २३, १३।

५०. दुःखे स्वभावसंसिद्धे कथं तत्कारणं शिवः।
स्वाभाविको मलः पुंसां स हि संसारयत्यमून्। शिव० ७. १, ३१, ८७।

वायवीयसंहिता की अपेक्षा एक भिन्न दार्शनिक दृष्टिकोण पाया जाता है, जो विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करता है।

जैसा कि ऊपर देखा गया है, पूर्ववायवीय संहिता का यह सिद्धांत रहा कि आत्मा का मल (आणव मल) स्वाभाविक है। परमात्म-शिव की इच्छा आत्मा के स्वाभाविक संकोच के अनुसार ही उन्हें (आत्मा को) जन्म एवं पुनर्जन्म के माध्यम से निर्मल करती है। ईश्वर की इच्छा के सब पर समान रूप से कार्य करने पर भी सभी एक साथ विकास नहीं कर पाते। विभिन्न आत्मा के स्वाभाविक मल के द्वारा उपस्थित विघ्न के कारण ही उनके (आत्मा के) दुःख आदि हुआ करते हैं। यही कारण है कि परमात्म-शिव किसी को विना दुःख भोगे मुक्त नहीं करते।

परमात्म-शिव ही पशुओं के पाशक और मोचक

किन्तु उत्तर वायवीय संहिता के द्वितीय अध्याय में कहा गया है कि—संसारवशवर्ती ब्रह्मादि स्थावरान्त–सभी–पति (परमात्म-शिव) के पशु कहे गये हैं। उनके पति होने के कारण देवेश शिव पशुपति कहे गये हैं। पशुपति भगवान् शिव मल माया आदि पाशों से पशुओं (आत्मा) को आबद्ध करते हैं। भलीभांति उपासित होने पर पशुपति (परमात्म-शिव) ही पशुओं को मुक्त भी करते हैं[५१]। उनके अतिरिक्त अन्य कोई यह कार्य नहीं करता। पति, परमात्म-शिव मलमाया आदि पाशों से ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त पशुओं को आबद्ध कर अपना कार्य करवाते हैं[५२]।

इस प्रकार एक पुराण की दो संहिताओं में दो परस्पर भिन्न सिद्धान्त स्थापित किये गये हैं। पूर्ववायवीय संहिता में तर्क के आधार पर इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया गया है कि 'सब कुछ करने में समर्थ परमात्म-शिव पशुओं को अनायास ही क्यों नहीं मुक्त कर देते ? इसके उत्तर में वहाँ पर जो कुछ कहा गया है उससे कुछ सीमा तक परमात्म-शिव की निर्बलता और पशु अथवा आत्मा की प्रकृति की प्रबलता सिद्ध होती है, जो कट्टर शैव-

---

५१. मलमायादिभिः पाशैः स बध्नाति पशून् पतिः। शिव० ७, २, २, १२।

स एव मोचकस्तेषां भक्त्या सम्यगुपासितः। वही, ७, २, २, १३।

५२. ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तान् पशून् बद्ध्वा महेश्वरः।

पाशैरेतैः पतिर्देवः कार्यं कारयति स्वकम् ।। वही, ७, २, १४-१५।

तुलना कीजिये :—अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मा कार्येऽपि कीर्तितः।

ईश्वरप्रेरितः कुर्याच्छुभं वा यदि वाऽशुभम् ।। रत्न० १५१।

दार्शनिक को कथमपि मान्य न होगी। यही कारण है कि उत्तरवायवीय संहिता में जो कुछ लिखा गया, उसमें पशुओं के पाशबद्ध होने में तथा उनके जन्म, पुनर्जन्म में एकमात्र परमात्म-शिव को ही कारण बतलाया गया है। उससे यह सिद्ध होता है कि परमात्म-शिव अपनी लीला के लिये पशुओं को बांधते एवं मुक्त करते हैं। यही उनका कार्य है, जो वे पशुओं से करवाते हैं।

कूर्मपुराण में आत्मा

कूर्म पुराण के अनुसार भी आत्मा परमात्म-शिव स्वरूप ही है। परमात्म-शिव ही माया से बद्ध होकर विविध शरीर धारण करते हैं[५३]। नित्य उदित, स्वयं ज्योति, सर्वव्यापी, पर पुरुष शिव अहङ्कार एवं अविवेक के कारण अपने को कर्ता, सुखी एवं दुःखी मान बैठते हैं[५४]।

किन्तु कूर्मपुराण की ब्राह्मीसंहिता के उत्तरार्द्ध के तृतीय अध्याय में एक स्थल पर कहा गया है कि महान् से जिस तत्त्व की उत्पत्ति होती है वह अहङ्कार है और यह अहङ्कार ही महान् आत्मा कहा जाता है। तत्त्वचिन्तकों ने उसी को जीव और अन्तरात्मा कहा है। उसी के द्वारा जन्म का सुख एवं दुःख सब कुछ अनुभूत किया जाता है। यह विज्ञानात्मक है और मन उसका उपकार है[५५]। यहाँ भी सभी संसारवशवर्ती-ब्रह्मादि स्थावरान्त-पशु (आत्मा) कहे गये हैं[५६]।

जहाँ तक आत्मा को शिवस्वरूप मानने का सिद्धान्त है, दोनों महापुराण एकमत हैं। दोनों यह मानते हैं कि अहङ्कार और अविवेक के कारण ही आत्मा दुःख को भोगता है। अविवेक की निवृत्ति पर आत्मा शुद्ध, बुद्ध परमात्म-शिव ही हो सकता है।

---

५३. स मायी मायया बद्धः करोति विविधास्तनूः। कूर्म० उ० २, ६।

५४. नित्योदितं स्वयं ज्योतिः सर्वगः पुरुषः परः॥
अहङ्काराविवेकेन कर्त्ताऽहमिति मन्यते। वही, २, १७-१८।

५५. आद्यो विकारः प्रकृतेर्महानिति च कथ्यते।
विज्ञातृशक्तिविज्ञानात् ह्यहङ्कारस्तदुत्थितः॥
एक एव महानात्मा सोऽहङ्कारोऽभिधीयते।
स जीवः सोऽन्तरात्मेति गीयते तत्त्वचिन्तकैः॥
तेन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु।
स विज्ञानात्मकस्तस्य मनः स्यादुपकारकम्॥ कूर्म० ब्रा० उ० ३, १२-१४।

५६. आत्मानः पशवः प्रोक्ताः सर्वे संसारवर्तिनः। वही, ७, १८।

किन्तु कूर्मपुराण की ब्राह्मी संहिता के तृतीय अध्याय में व्यक्त किया गया मत शिव महापुराण के सिद्धान्त से एकदम मेल नहीं खाता। अहङ्कार को आत्मा मानने की बात शैव-दर्शन की किसी शाखा में नहीं प्राप्त होती। 'साहङ्कार होने पर जीव और अहङ्कार से रहित होने पर यह जीव ही साक्षात् शिव है। इस बात को दोनों ही महापुराण मानते हैं। अहङ्कार परमात्मशिव के जीव होने में कारण होता है। अतः आत्मा रूप कार्य एवं अहङ्कार रूप कारण में अभेद सम्बन्ध को विवक्षा से ही अहङ्कार को उक्त स्थल में आत्मा कहा गया है। अन्यथा अहङ्कार का सीधे-सीधे आत्मा मान लेने पर शैवदर्शनों की मान्यता में अत्यधिक अन्तर आजायगा।

शिवसूत्रविमर्शिनी एवं आत्मा

'ज्ञानं बन्धः' इस शिवसूत्र पर लिखी गयी टीका 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में कहा गया है कि भेद का अवभासनात्मक ज्ञान ही बन्धन है। अर्थात् 'चैतन्य रूप शिव' का असीम ज्ञान जब संकुचित हो जाता है तब आत्मा एवं परमात्मा (शिव) में भेद प्रतीत होने लगता है। भेद का परिचायक यह ज्ञान ही आत्मा का बन्धन है।

तुलना :—

शिव महापुराण में 'चैतन्यमात्मा' एवं 'ज्ञानं बन्धः' ये दोनों 'शिवसूत्र' नामनिर्देशपूर्वक उद्धृत किये गये हैं और 'ज्ञानं बन्धः' की व्याख्या की गई है कि 'आत्मा' (शिव) का निःसीम ज्ञान जब संकुचित होकर किंचित् ज्ञान रूप हो जाता है तब वही बन्धन कहा जाता है[५७]। इस तरह दोनों ही आत्मा को संकुचित शक्ति वाले परमात्म-शिव का रूप ही मानते हैं।

आत्मा के मलिन होने की बात अन्य दर्शनों में भी

आत्मा के स्वाभाविक मलिन होने की बात जैनों एवं पांचरात्र सम्प्रदाय के अनुयायियों[५८] के सिद्धान्तों में भी पाई जाती है। वेदान्त की दृष्टि में, निःसन्देह, आत्मा ब्रह्म ही माना गया है। किन्तु फिर भी कहा गया है कि आत्मा अनादि अविद्या से संयुक्त रहता है। वह (आत्मा) जब कभी अपने

५७. चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम् ॥ शिव० ६, १६, ४४।
ज्ञानं बन्ध इतीदं तु द्वितीयं सूत्रमीशितुः ॥
ज्ञानमित्यात्मनस्तस्य किंचिज्ज्ञानक्रियात्मकम्। वही, ६, १६, ४६-४७।

५८. देखिये—History of Indian Philosophy, (Vol. V, P. 118) By Dasgupta.

वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है तभी उसकी यह अविद्या विनष्ट होती है। इस प्रकार अनादि समय से आत्मा मल के आवरण से आच्छादित रहता है[५९]।

तुलना

उक्त दर्शनों की ही भाँति शिव महापुराण में आत्मा के स्वाभाविक मलिन होने की बात कही गई है और शिव महापुराण यह भी मानता है कि आत्मा की यह मलिनता अनादि है। इसका विनाश आत्मा के द्वारा अपनी सत्य प्रकृति के पहचान लेने पर ही होता है।

---

५९. देखिये—भारतीय दर्शन, दत्त एवं चटर्जीकृत, का 'वेदान्तदर्शन', विशेषकर 'शंकर का अद्वैत' शीर्षक।

पंचम अध्याय

पाश और मुक्ति

(पाश)

शिव महापुराण अपने दार्शनिक विवेचन में पति, पशु (आत्मा) एवं पाश पर विशेष बल देता है। उसके अनुसार प्रत्येक सुखार्थी पुरुष को पति पशु एवं पाश पर उत्कृष्ट निष्ठा करनी चाहिये[1]। यह पाश ही की प्रभुता है कि शुद्ध, निरंजन आत्मा अपने को देह आदि मानता हुआ एक योनि से दूसरी योनि में भ्रमण करता हुआ फिरता रहता है।

पाश के त्रिधा भेद

मल एवं पाश समान अर्थ के वाचक हैं[2]। पाश का अर्थ होता है बन्धन[3]। पाश (मल) प्रधानतया तीन प्रकार का माना गया है—आणव, मायीय एवं कार्म[4]।

१–आणवमल—आत्मा 'अणु' भी कहा जाता है[5]। पूर्णत्व के अभाव के कारण परिमित हो जाने से ही आत्मा को अणु कहा गया है। आत्मा के द्वारा अपनें आप में पूर्णत्व का अभाव माना जाना आणवमल कहा जाता है। पशुपति शिव की कृपा से आत्मा जब अपनें आप को पूर्ण मानने लगता है तब तो वह चिद्घन परमात्म-शिव (पति शिव) ही हो जाता है[6]। आत्मा में पूर्णत्व का अभाव उस समय आता है जब वह अपनें आपको और इस समग्र संसार को परमात्म-शिव से भिन्न माननें लगता है और जब उसका यह

---

१. पशुपाशपतिज्ञानं यल्लब्धं तु मया पुरा।
तत्र निष्ठा परा कार्या पुरुषेण सुखार्थिना ॥ शिव० ७, १, ५, १०।

२. मलत्रयमयं पाशं भोगभोग्यत्वलक्षणम्। वही, ७, २, १७, २८।

३. न शिवस्याणवो बन्धः कार्यो मायेय एव वा। वही, ७, २, ६, १।

४. देखिये–ऊपर का उद्धरण।

५. अणवो नैव जानन्ति माययैव मलावृताः। वही, ७, १, ३२, ४२।
अणवो नैव जानन्ति मायाणवमलावृताः। वही, ६, ६, २०।

६. स्वस्याप्यंशस्य जीवोंऽशो ह्यविदचा मोहितोऽवशः।
अन्योऽहमिति जानाति तया मुक्तो भवेच्छिवः। वही, ४, ४३, १०।

अज्ञान विनष्ट हो जाता है तब वह अपने आपको और सम्पूर्ण जगत् को पति, परमात्म-शिव से अभिन्न मानता है। तब उसे कभी मोह नहीं होता[7] है। इस अपूर्णम्मन्यता को आणव मल स्वीकार करके ही दीक्षा-संस्कार के समय गुरु शिष्य को पूर्ण अतः शिव पति स्वरूप होने की भावना का उपदेश करता[8] है।

२. मायीय मल :—इस प्रकार 'आणवमल' से आवृत हुआ आत्मा आगे मायीयमल के द्वारा और अधिक संकुचित कर दिया जाता है। मायीयमल माया के द्वारा उपस्थित किया जाता है और यह भी एक संकोचावस्था है। इसके कारण आत्मा अपने आपको शरीरादि समझने लगता है[9]। माया आत्मा के ऊपर एक आवरण डाल देती है जिससे वह शक्ति-दरिद्र हो सांसारिक वस्तुओं में अनुराग करने लगता है[10]। माया के प्रकृति से लेकर पृथ्वीतक के चतुर्विंशति परिणाम भी आत्मा के लिये बन्धन कहे गये हैं[11]।

३. कार्ममल :—आणवमल एवं मायीयमल के द्वारा संकुचित एवं संसारी बना हुआ आत्मा शुभाशुभ कर्मों को करता हुआ आनन्द एवं दुःख का अनुभव करता है। उसके द्वारा सम्पादित ये कर्म ही बन्धन कहे गये हैं। अतः मुक्ति के अभिलाषी को चाहिये कि वह पुण्यात्मक एवं अपुण्यात्मक-उभयविध-कर्मों का परित्याग कर दे[12]। किन्तु ऐसी अवस्था में संसार-यात्रा ही असम्भव हो जायगी, अतः उक्त कथन का संशोधन करते हुये पुनः पुराणकार ने व्याख्या की कि फल की कामना से किया गया कर्म बन्धन कहा गया है न कि निरुद्देश्य कर्म। अतः मुक्ति के इच्छुक व्यक्ति को कर्मफल का त्याग करना चाहिये अर्थात्

---

७. अयमेव हि संसारी मायया मोहितः पशुः।
शिवज्ञानविहीनो हि नानाकर्मविमूढधीः॥
शिवाद्भिन्नं न जगदात्मानं भिन्नमित्यपि।
जानतोऽस्य पशोरेव मोहो भवति न प्रभोः॥
यथैन्द्रजालिकस्यापि योगिनो न भवेद्भ्रमः।
गुरुणा ज्ञापितैश्वर्यः शिवो भवति विद्वनः॥ शिव० ६, १६, ७५-७७।

८. ख्यातिः पूर्णोऽहमित्येतं सानुकूलेन चेतसा।
देशिकस्तस्य शिष्यस्य कण्ठदेशे समर्पयेत्॥ वही, ६, १६, ४५।

९. स्वाङ्गरूपेषु भावेषु मायातत्त्वविभेदधीः। वही, ६, १६, ७३।

१०. देखिये—इसी प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में 'मायातत्त्व'।

११. चतुर्विंशतितत्त्वानि मायाकर्मगुणा अमी।
विषया इति कथ्यन्ते पाशा जीवनिबन्धनाः॥ वही, ७, २, २, १३-१४।

१२. पुण्यापुण्यात्मकं कर्म मुक्तेस्तत्प्रतिबन्धकम्।
तस्मान्नियोगतो योगी पुण्यापुण्यं विवर्जयेत्॥ वही, ७, २, १०, ४१।

निःस्पृह होकर कर्म करना चाहिये[13]। जब तक फलाभिलषित कर्मों का चक्र चलता रहता है तब तक उन कर्मों के फल भोग के लिये आत्मा को जन्म एवं पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है। यही कर्म की प्रतिबन्धकता है।

संसार का कारण मल ही है

इन मलों का परिणाम है कि 'आत्मा' एक जन्म से दूसरे जन्म में चक्कर खाता फिरता है। इस प्रकार यह मल ही आत्मा के जन्म एवं पुनर्जन्म का कारण होता है। यह मल ही आत्मा के संसार रोग में हेतु कहा गया है। संसार के परम कारण, भिषक्, पति शिव ने इस संसार-रोग की दवा एकमात्र ज्ञान को कहा है। ज्ञान ही ऐसा साधन है जिससे सम्पूर्ण मल दूर होते हैं[14]।

त्रिविध मल के द्विविध भेद

संसार के कारण उक्त त्रिविध मल-आणवमल, मायीयमल, कार्ममल-आम एवं पक्वभेद से द्विधा होते हैं[15]। आममल उन मलों को कहा जाता है, जिनका भोग एकदम नहीं हुआ होता अथवा किंचित् हुआ होता है। पक्व मल वे मल कहे जाते हैं जो आत्मा के द्वारा भोग लिये जाते हैं। मल के परिपाक के अनन्तर ही आत्मा मुक्ति का भाजन होता है।

कूर्मपुराण में पाश

कूर्मपुराण के अनुसार प्रकृति लेकर पृथिवी तक के चौबीस तत्त्व माया के ही कर्म एवं गुण हैं। ये ही पशुओं (आत्मा) के बन्धन के लिये पशुपति के पाश हैं। इन्हीं से निबद्ध पशु (आत्मा) क्लेश को प्राप्त करते हैं[16]। इनके अतिरिक्त भगवदर्पित बुद्धि के बिना किये गये धार्मिक एवं अधार्मिक कर्म[17]; अविद्या,

१३. फलकामनया कर्मकरणात्प्रतिबध्यते।
न कर्ममात्रकरणात्तस्मात्कर्मफलं त्यजेत्॥ शिव० ७, २, १०, ४२।

१४. एवं त्रिभिर्मलैरामैः पक्वैरेव पृथक्-पृथक्।
निदानभूतैः संसाररोगः पुंसां प्रवर्तते॥ वही, ७, १, ३१, ८०।
स्वाभाविको मलः पुंसां स हि संसारयत्यमून्॥ वही, ७, १, ३१, ८७।
अस्य रोगस्य भैषज्यं ज्ञानमेव न चापरम्। वही, ७, १, ३१, ८१।

१५. मलोऽप्यामश्च पक्वश्च भवेत् संसारकारणम्॥ वही, ७, १, ३१, ७२।

१६. चतुर्विंशतितत्त्वानि मायाकर्मगुणा इति।
एते पाशाः पशुपतेः क्लेशाश्च पशुबन्धनाः॥ कूर्म० २, ७, २१।

१७. धर्माधर्माविति प्रोक्तौ पाशौ द्वौ कर्मसंज्ञितौ।
मय्यर्पितानि कर्माणि न बन्धाय विमुक्तये॥ वही, २, ७, २८।

अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेशन भी पाश कहे गये हैं[१८]। किन्तु इन सभी पाशों में प्रबल एवं प्रधान माया पाश है, क्योंकि इन सब पाशों का वही (माया ही) कारण कही गई है[१९]। माया पाश की सर्वाधिक प्रबलता के कारण ही शिव अपने आप को पाशों में माया नामक पाश कहते हैं[२०]।

तुलना

जहाँ तक माया तथा उसके परिणामों तथा कर्म के बन्धन (पाश) का प्रश्न है शिव महापुराण एवं कूर्मपुराण पूर्ण एकमत हैं। अस्मिता, द्वेष, अभिनिवेश रूप बन्धन कूर्मपुराण की अपनी विशेषता हैं। ये शिव महापुराण में पाश के रूप में नहीं वर्णित किये गये हैं। किन्तु शिव महापुराण मायीय एवं कार्ममल के अतिरिक्त एक और मल मनाता है, जिसे आणवमल कहते हैं। यह मलों में आदि एवं सर्वप्रधान मल माना गया है, किन्तु कूर्मपुराण में इसकी चर्चा नहीं की गई है। वहाँ पर माया पाश (मल) को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।

द्वैतदर्शन में पास

द्वैतदर्शनों में 'नकुलीश पाशुपतदर्शन' मल की व्याख्या करते हुये कहता है कि आत्माश्रित जो दुष्ट भाव है, वही मल कहा गया है[२१]। इस मल के पांच भेद बतलाये गये हैं—मिथ्याज्ञान, अधर्म, विषयों में आसक्ति के हेतु अर्थात् विषय का सन्निधान आदि, च्युति अर्थात् सदाचार से भ्रष्ट होना, पशुत्व का मूल अर्थात् जीवभाव को प्राप्त कराने वाला अनादि संस्कार। ये मल विवेक के द्वारा त्याज्य कहे गये हैं[२२]।

तुलना

मल के विषय में शिव महापुराण एवं पाशुपतदर्शन एक दूसरे से पूर्ण भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। प्रथम के अनुसार मल के त्रिधा भेद होते हैं तो द्वितीय के अनुसार पांच। किन्तु यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो दोनों

१८. अविद्यामस्मितां रागं द्वेषं चाभिनिवेशनम्।
क्लेशाख्यांस्तान् स्वयं प्राह पाशानात्मनिबन्धनात्॥ कूर्म० २, ७, २९।

१९. एतेषामेव पाशानां मायाकारणमुच्यते। वही, २, ७, ३०।

२०. पाशानामस्म्यहं माया ………………। वही, २, ७, १६।

२१. आत्माश्रितो दुष्टभावो मलः। सर्वदर्शनसंग्रह॥

२२. मिथ्याज्ञानमधर्मश्चासक्तिहेतुश्च्युतिस्तथा।
पशुत्वमूलं पंचैते तन्त्रे हेया विविक्तितः॥ वही।

में भेद बहुत कम हो जाता है। पाशुपत दर्शन के मिथ्याज्ञान, अधर्म, आसक्ति-हेतु और पशुत्वमूल, शिव महापुराण के त्रिधा मलों में ही गतार्थ हो जाते हैं। शिव महापुराण के अनुसार मायातत्त्व विभेद की बुद्धि उत्पन्न करता है[२३], यही पाशुपत का मिथ्याज्ञान है। आसक्तिहेतु, विषयों में अनुरंजन कराने वाले[२४] राग के अन्दर समाविष्ट हो जाता है। यह राग शिव महापुराण के अनुसार माया से उत्पन्न पंचकंचुक का एक भेद है। अधर्म का समावेश कार्म-मल में होता है और पाशुपत का पशुत्वमूल अन्य कुछ न होकर आणवमल है, क्योंकि दोनों-पशुत्वमूल एवं आणवमल-ही जीवत्व-प्रापक अनादि संस्कार कहे गये हैं। इस प्रकार बाह्यरूप से प्रतीत होने वाला दोनों का भेद, वस्तुतः, सूक्ष्म विचार करने पर समाप्तप्राय हो जाता है।

शैवदर्शन और पाश

सर्वदर्शनसंग्रह में वर्णित 'शैव दर्शन' में पाश के चार भेद बतलाये गये हैं :—मल, कर्म, माया और रोधशक्ति[२५]। मल शब्द की व्याख्या शैव-दर्शन में भी वही की गई है जो पाशुपत दर्शन में उपलब्ध होती है[२६]। मल के अन्य भेदों की व्याख्या इस प्रकार है :—कर्म = धर्माधर्मरूप कर्म, माया = सब का मूल कारण, यही अविद्या, प्रधान एवं प्रकृति आदि के नामों से भी जानी जाती है। रोध[२७] शक्ति = मल में वर्तमान, आत्मा का स्वाभाविक शक्ति पर आवरण डालने वाला, सामर्थ्य है।

किन्तु तत्त्वप्रकाश' की 'तात्पर्यदीपिका' नामक टीका में दो प्रकार से पाश का वर्णन मिलता है। प्रथम प्रकार के अनुसार अर्थपंचक-मल, कर्म, सूक्ष्म, स्थूल माया अर्थात् माया और माया से उत्पन्न सम्पूर्ण संसार और तिरोधानकरी शक्ति अर्थात् आत्मा को स्वाभाविक शक्ति का अवरोधक मल का सामर्थ्य ही पाश है[२८]। यह व्याख्या सर्वदर्शनसंग्रह के शैवदर्शन में वर्णित पाश

---

२३. ....मायातत्त्वविभेदधीः। शिव० ६, १६, ७३।

२४. ....रागो विषयेष्वनुरंजकः॥ वही, ६, १६, ८१।

२५. पाशश्चतुर्विधः। मलकर्ममायारोधशक्तिभेदात्॥ सर्वदर्शन०॥

२६. देखिये—सर्वदर्शनसंग्रह में 'शैवदर्शन'।

२७. रोधशक्तिर्मलगतं दृक्क्रियाशक्त्यावरणसामर्थ्यम्। वही,

२८. अर्थपंचकं पाश इति। अर्थानां मलकर्मसूक्ष्मस्थूलमायापाशानुग्राहकशिवशक्तीनां पचकमर्थपंचकं, तत्पाशाख्यं तत्त्वमिति। तदुक्तं—मलं कर्म च माया च मायोत्थमखिलं जगद्। तिरोधानकरी शक्तिरर्थपंचकमुच्यते॥ तत्त्व० श्लोक० ५, तात्पर्य-दीपिका।

की व्याख्या से पूर्ण सामंजस्य रखती है। अन्तर यही है कि यहाँ माया का दो भेद—सूक्ष्म एवं स्थूल –किया गया है और वहाँ नहीं। द्वितीय प्रकार के अनुसार अध्वपंचक[२९]–तत्त्वाध्वा, भुवनाध्वा, कलाध्वा, वर्णाध्वा, पदाध्वा और मन्त्राध्वा[३०] को पाश कहा गया है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि शैवदर्शन पाश (मल) को सहज एवं अनादि मानता है[३१]।

तुलना

सर्वदर्शन संग्रह में वर्णित शैवदर्शन में पाश के जो भेद—मल, कर्म, माया और रोधशक्ति–बतलाये गये हैं, उनमें प्रथम तीन शिवमहापुराण के आणवमल, कार्ममल एवं मायीमल से प्रायः साम्य रखते हैं। यद्यपि शैवदर्शन में, पाशुपत-दर्शन की भांति, मल के पाँच भेद –मिथ्याज्ञान, अधर्म, सक्तिहेतु, च्युति तथा पशुत्वमूल- बतलाये गये हैं, किन्तु इनमें प्रधान जो मिथ्याज्ञान एवं पशुत्वमूल है वह आणवमल के अन्तर्गत ही समाहित हो जाता है। इनके अतिरिक्त अन्य भेद, जैसा कि पाशुपत दर्शन की तुलना के अवसर पर निर्दिष्ट किया गया है, अन्य मलों में ही समाविष्ट हो जाते हैं। रोधशक्ति नामक अन्तिम और पंचम भेद अनावश्यक है क्योंकि आत्मा की स्वाभाविक शक्ति पर आवरण डालना मायीय मल से ही गतार्थ हो जाता है। अतः उसको अलग से लिखने की आवश्यकता नहीं है।

'तत्त्वप्रकाश' की 'तात्पर्यदीपिका' में दो प्रकार के पाशों के वर्णन में प्रथम प्रकार के विषय में तो कुछ लिखना ही नहीं है, क्योंकि वह 'सर्वदर्शन-संग्रह' में वर्णित 'शैवदर्शन' में पाश का जो वर्णन है उससे साम्य रखता है।

द्वितीय प्रकार के अनुसार अध्वपञ्चक ही पाश है। यहाँ यह ध्यान देना है कि 'तात्पर्यदीपिका' में एकमात्र अध्वपंचक को पाश कहा गया है। कलाध्वा, जो कि षडध्वा का प्रथम और प्रधान भेद है, को पाश में नहीं गिनाया गया है। शिव महापुराण में अध्वपंचक रूप पाश का वर्णन नहीं किया गया है।

प्रत्यभिज्ञा और पाश

प्रत्यभिज्ञा के अनुसार मल (पाश) त्रिविध-आणव, मायीय एवं कार्म-होता है। आणवमल के कारण आत्मा अपने को अपूर्ण मानने लगता है।

२९. .... पाशः स्यादध्वपंचकम्।
अध्वानस्तत्त्वभुवनकलावर्णपदमन्त्रकाः।
यैरमी पुरुषा बद्धाः संसरन्ति भवाद्भवम्॥ तत्त्व०

३०. इन अध्वाओं का वर्णन इसी निबन्ध के पूर्वार्द्ध, षष्ठ अध्याय में किया गया है।

३१. सहजमनादिमलं स्यात् .... । तत्त्व० १,४ को तात्पर्यदीपिका।

मायीय मल के कारण आत्मा अपने आपको शरीरादि समझने लगता है। कार्ममल शुभ और अशुभ रूप कर्म ही है[३२]।

तुलना

शिवमहापुराण एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन मल के त्रिविध भेदों एवं उनकी व्याख्या के विषय में साम्य रखते हैं। दोनों का दृष्टिकोण एक ही है।

मुक्ति

दर्शन का चरम लक्ष्य

आत्मा किस प्रकार मुक्ति प्राप्त कर सके यही प्रत्येक आस्तिक भारतीय दर्शन एवं वाङ्मय का उद्देश्य है। शिव महापुराण में भी तत्त्व-ज्ञान का अनुसन्धान इसीलिये किया जाता है कि उसके द्वारा जीवन के लक्ष्य की उपलब्धि हो सके। मुक्ति का वर्णन विभिन्न दर्शनों एवं मतों में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। मुक्ति एवं मुक्ति-प्राप्ति के साधनों का वर्णन यहाँ के दर्शनों का सर्वस्व रहा है।

शिव महापुराण में द्विविध दर्शन

शिव महापुराण में द्वैत एवं अद्वैत, द्विविध, दर्शनों का विवरण प्राप्त होता है। कैलाससंहिता में प्रधानरूप से अद्वैत दर्शन का वर्णन किया गया है[३३]। किन्तु वायवीय संहिता में द्वैतदर्शन की ही प्रबलता दृष्टिगोचर होती है।

शिव महापुराणस्थ अद्वैतदर्शन के अनुसार मुक्ति

कैलाससंहिता में वर्णित अद्वैतदर्शन अपनी मुक्तिविषयक अनुभूति में औपनिषदिक विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित है। यहाँ कुछ महावाक्यों को उद्धृत किया जा रहा है, जिनसे आत्मा एवं परमात्मा पशुपति में अद्वैत-विषयक सिद्धान्त का समर्थन होता है:—'अहं ब्रह्माऽस्मि', 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म'[३४]।

---

३२. ....अपूर्णम्मन्यतारूपमाणवं मलम्।
भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्।
शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्ममलम्। प्रत्यभिज्ञा० ९ कारिका की व्याख्या।

३३. अद्वैतः शैववादोऽयं द्वैतं न सहते क्वचित्।
द्वैतं च नश्वरं ब्रह्माद्वैतं परमनश्वरम्। शिव० ६, १७, ३।

३४. कैलास संहिता १९ वां अध्याय। इन वाक्यों की व्याख्या इसी प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में दी गई है।

मुक्त पूर्ण पशुपति शिव ही हो जाता है

इन महावाक्यों से यही समर्थित होता है कि आत्मा और पति शिव में कुछ भी अन्तर नहीं है। शक्तिपात (पशुपति का अनुग्रह) के अनन्तर, दीक्षा के बाद प्रारब्धकर्म की परिसमाप्ति होने पर साधक पांचभौतिक शरीर का परित्याग कर परमात्म-शिव में विलीन हो पूर्ण शिव ही हो जाता है[३५]। यही पर मुक्ति की अवस्था है।

अद्वैतदर्शन के अनुसार पर अपर मुक्ति

अद्वैतदर्शन के अनुसार मुक्ति दो प्रकार की होती है:—पर एवं अपर[३६]। पर मुक्ति पूर्ण पशुपति शिव ही हो जाना है और इस अवस्था को पहुँचने पर आत्मा कभी पुनः इस जगत् में जन्म नहीं ग्रहण करता[३७] है। अपर मुक्ति की अवस्था में आत्मा का अभ्युदय होता है। वह (आत्मा) पशुपति के गाणपत्य (पणपति की अवस्था) को प्राप्त कर शिव के समान शरीर को धारण करता है। ऐसी अवस्था में उसके मृगचर्म, टङ्क, त्रिशूल, त्रिनेत्र, चन्द्रशकल, जटा में गङ्गा का प्रवाह, अविहत गति वाले विमान, ये सभी शिव के समान होते हैं। वरदान देने का अधिकार भी उसे प्राप्त रहता है[३८]।

द्वैतदर्शन के अनुसार पर एवं अपर मुक्ति

वायवीय संहिता में प्रायः द्वैतदर्शन का प्रतिपादन हुआ है, जिससे यही प्रतीत होता है कि मुक्त होने पर आत्मा ब्रह्म (पशुपति शिव) में नहीं विलीन होता है, किन्तु पशुपति शिव के समान हो जाता है। उसे शिव साधर्म्य की उपलब्धि होती है। इस शिव साधर्म्य की प्राप्ति से प्राणी जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्र से छुटकारा प्राप्त कर लेता है। उसके पुण्य पाप सभी विनष्ट हो जाते

---

३५. समाधिस्थो यतिः कश्चिच्छिवभावेन देहमुक्।
अस्ति चेत्स महाघोरः परिपूर्णः शिवो भवेत्॥ शिव० ६, २१, ८।
गुरुणा ज्ञापितैश्वर्यः शिवो भवति चिद्घनः। वही, ६, १६, ७७।

३६. प्रभुश्चान्यस्तु जीवानां परावरविमुक्तिदः॥ वही, ६, १४, २८।

३७. आयुःक्षये पद्मयोनेः पुनरावृत्तिवर्जिताम्।
मुक्तिं च परमां तस्मै प्रयच्छति जगद्गुरुः। वही, ६, २१, ३१।

३८. स्वसाम्यं च वपुर्दत्त्वा गाणपत्येऽभिषिच्य च।
अनुगृह्णादि सर्वेशः शङ्करः सर्वनायकः॥
मृगटंकत्रिशूलाग्र्यवरदानविभूषितम्।
त्रिनेत्रं चन्द्रशकलं गंगोल्लासिजटाधरम्॥ वही, ६, २१, २२-२३ आदि।

हैं। वह निरंजन हो जाता है। संसार के कारण मल-माया आदि पाश भी समाप्त हो जाते हैं। आत्मा संसार से पूर्णरूप से मुक्ति प्राप्त कर लेता है[३९]। द्वैत-दर्शन के अनुसार यही पर मुक्ति है।

द्वैतदर्शन के अनुसार अपर मुक्ति में आत्मा विद्येश्वर (शुद्धविद्या के निवासी आत्मा) आदि के पद को प्राप्त करता है वह। (आत्मा) वहाँ बहुत से भोगों को भोग कर एक बार पुनः जन्म धारण करता है और पुनः शिव की कृपा को प्राप्त कर शिव साधर्म्य को प्राप्त करता है और वह वहाँ से पुनः कभी नहीं लौटता[४०]। इस प्रकार द्वैतवादी दर्शन के अनुसार विद्येश्वरादि पद की प्राप्ति अपर मोक्ष और शिवसाधर्म्य पर-मोक्ष है। अपर मोक्ष का प्राप्तकर्ता एक बार पुनः जन्म ग्रहण करता है किन्तु परमोक्ष का भागी व्यक्ति संसार के चक्र से पूर्णरूप से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

उक्त दोनों दर्शनों की मुक्तिविषयक तुलना

शिवमहापुराण में वर्णित अद्वैतदर्शन की मुक्तिविषयक धारणा तथा द्वैत-दर्शन की मुक्तिविषयक धारणा में महान् अन्तर है। द्वैतदर्शन जिस शिव-साधर्म्य को पर-मुक्ति कहता है वह तो अद्वैतदर्शन के अनुसार अपरमुक्ति है। इस शिवसाधर्म्य में आत्मा के उपकरण वाहन आदि सभी पशु-पति शिव के समान हो जाते हैं। इस अवस्था को पहुँचा हुआ आत्मा अनुग्रह को छोड़कर सब कुछ करने में समर्थ होता है। अनुग्रह करना एकमात्र पशुपति शिव का कार्य है[४१]।

---

३९. ......मुक्तः शिवसमो भवेत्। ...... । शिव० ७, १, ३२, २२।
पुरं मदीयमासाद्य पुनरावृत्तिदुर्लभम्।
परमं मम साधर्म्यं प्राप्य निर्वृतिमाययुः ॥ वही, ७, २, १०, २४।
शिवसाधर्म्यमासाद्य न भूयो विनिवर्तते। वही, ७, २, २८, २९।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परममुपैति साम्यम्। वही, ७, २, ४, ३७।
ततः स्यान्मुक्तसंसारः .... । वही, ७, १. ३२, २२।

४०. भोगांश्च विविधान् भुक्त्वा विद्येश्वरपदं व्रजेत्।
तत्र विद्येश्वरैः सार्द्धं भुक्त्वा भोगान् बहून् क्रमात् ॥
अण्डस्यान्तर्बहिर्वाथ सकृदावर्तते पुनः।
ततो लब्ध्वा शिवज्ञानं परां भक्तिमवाप्य च ॥
शिवसाधर्म्यमासाद्य न भूयो विनिवर्तते। ....वही, ७, २, २८, २७-२९।

४१. पंचमं मुक्तिहेतुर्वै नित्यं मयि च सुस्थिरम् ॥ शिव० १, १०, ५।
अनुग्रहाख्यं केनापि लब्धुं नैव हि शक्यते ॥ वही, १, १०, ११।

मुक्तिविषयक एक अन्य विवरण

इसके अतिरिक्त, शिवमहापुराण में, मुक्ति का एक और वर्गीकरण किया गया है। इस वर्गीकरण के अनुसार मुक्ति के पांच भेद माने गये हैं—सारूप्य मुक्ति, सालोक्य मुक्ति, सान्निध्य मुक्ति, सायुज्यमुक्ति और कैवल्यमुक्ति[४२]।

१. सालोक्य मुक्ति :—जब परमात्म-शिव की कृपा से कर्मजनित शरीर अपने वश में हो जाता है, तब व्यक्ति परमात्म-शिव के लोक में निवास का सौभाग्य प्राप्त करता है। इसी को सालोक्य मुक्ति कहते हैं[४३]।

२. सान्निध्य-मुक्ति :— जब तन्मात्राएं वश में हो जाती हैं, तब जीव परमात्म-शिव का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। यही सान्निध्य मुक्ति है। इस अवस्था को पहुँचे हुए जीव के आयुध और क्रिया आदि सब कुछ परमात्म-शिव के समान हो जाते हैं[४४]।

३. सारूप्य अथवा सार्ष्टि मुक्ति :—परमात्म-शिव के महाप्रसाद के प्राप्त होने पर बुद्धि भी वश में हो जाती है। बुद्धि प्रकृति का कार्य है। बुद्धि का वश में होना सार्ष्टि मुक्ति कही गई है[४५]।

४. सायुज्य-मुक्ति:—जब भगवान् परमात्म-शिव के अनुग्रह से प्रकृति भी वश में हो जाती है, उस समय परमात्म-शिव का मानसिक ऐश्वर्य बिना प्रयत्न के ही प्राप्त हो जाता है। सर्वज्ञता और तृप्ति आदि जो परमात्म-शिव के ऐश्वर्य हैं, उन्हें प्राप्त कर मुक्त पुरुष अपने आत्मा में विराजमान होता है। यही सायुज्य मुक्ति है[४६]।

---

४२. सारूप्या चैव सालोक्या सान्निध्या च तथा परा।
सायुज्या च चतुर्थी ... ॥ शिव० ४, ४१, ३।
कैवल्याख्या च पंचमी सर्वथा दुर्लभा नृणाम्। वही, ४, ४१, ७।

४३. प्रसादात्परमेशस्य कर्मदेहो यदावशः।
तदा वै शिवलोके तु वासः सालोक्यमुच्यते। वही, १, १८, १८-१९।

४४. सामीप्यं याति साम्बस्य तन्मात्रे च वशंगते॥
तदा तु शिवसायुज्यमायुधाद्यैः क्रियादिभिः। वही, १, १८, १९, २०।

४५. महाप्रसादलाभे च बुद्धिश्चापि वशा भवेत्॥
बुद्धिस्तु कार्यं प्रकृतेस्तत्सार्ष्टिरिति कथ्यते। वही, १, १८, २०, २१।

४६. पुनर्महाप्रसादेन प्रकृतिर्वशमेष्यति॥
शिवस्य मानसैश्वर्यं तदाऽयत्नं भविष्यति।
तत्सायुज्यमिति प्राहुर्वेदागमपरायणाः॥ वही, १, १८, २१-२३।

५. कैवल्य-मुक्ति :—यह मुक्ति असमान्य मुक्ति है। साधारण मनुष्यों के लिये यह दुर्लभ है[४७]। शिवज्ञान के उदित होने पर अर्थात् आत्मा, परमात्म-शिव ही है ऐसा ज्ञान होने पर ब्रह्म, परमात्म-शिव की प्राप्ति होती है अर्थात् जीव परमात्म-शिव ही हो जाता है[४८]। यही कैवल्य मुक्ति है।

इस पंचविध मुक्ति का द्विधा वर्गीकरण

ऊपर बतलाये गये मुक्ति के पांच भेद द्विधा–पर एवं अपर रूप से–वर्गीकृत किये जा सकते हैं। प्रथम चार भेद—सालोक्यमुक्ति, सान्निध्यमुक्ति, सारूप्यमुक्ति और सायुज्यमुक्ति--अपरमोक्ष के अतिरिक्त और कुछ नही हैं। ये सब अपरमोक्ष के ही प्रकार हैं। अन्तिम कैवल्य नामक मुक्ति परमुक्ति है। इस अवस्था में जीव (आत्मा) अपने आप में तथा सर्वत्र केवलभाव (शिवभाव) का अनुभव करता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार शिव महापुराण में शैवदर्शनों से सम्मत मुक्ति के द्विधा-वर्गीकरण–पर एवं अपर–ही वर्णित किये गये हैं। अन्य वर्गीकरण इन्हीं दो वर्गीकरणों में समाहित हो जाते हैं। मुक्तिविषयक शैवदर्शनों का दृष्टिकोण यहाँ नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

द्वैतवादी शैवदर्शन में मुक्ति

द्वैतवादी शैवदर्शन मुक्ति को द्विधा मानता है—पर एवं अपर। शिवपद की प्राप्ति मुख्य एवं परमोक्ष है और विद्येश्वर (शुद्धविद्येश्वर) आदि पद की प्राप्ति ही अपर मोक्ष है। इसे ही गौण मोक्ष भी कहते हैं। 'रत्नत्रय' के अनुसार शिवपद की प्राप्ति ही शिव साम्य है[४९]।

---

४७. कैवल्याख्या पंचमी च सर्वथा दुर्लभा नृणाम्। शिव, ४, ४१, ७।

४८. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
तदेव परमं प्रोक्तं ब्रह्मैव शिवसंज्ञकम्॥ वही, ४, ४१, १४।
मायातीतं परात्मानं द्वन्द्वातीतं विमत्सरम्।
तत्प्राप्तिश्च भवेदत्र शिवज्ञानोदयाद् ध्रुवम्॥ वही, ४, ४१, १५-१६।

४९. 'मोक्षस्तु द्विविधः। परोऽपरश्च। शिवपदप्राप्तिरूपो मुख्यः परो मोक्षः। विद्येश्वरादिपदप्राप्तिरेव चापरो मोक्षोऽयमेव गौण उच्यते'॥ सर्वदर्शनसंग्रह, शैवदर्शन॥
'मोक्षः शिवसाम्यं सदाशिवादिपदप्राप्तिश्च'॥ रत्न० श्लोक ८, पर अघोर शिवाचार्य की टीका॥

अद्वैतदर्शन में मुक्ति

अद्वैतवादी शैवदर्शन के अनुसार भी सिद्धि (मोक्ष) दो प्रकार की होती है :–पर एवं अपर। परसिद्धि को मोक्ष कहते हैं। अपरसिद्धि अभ्युदय रूप अर्थात् उच्चपद की प्राप्तिरूप है[५०]। इनके यहां अपने यथार्थ रूप को पहचान लेना ही मोक्ष कहा गया है[५१]। इस प्रकार स्वरूप का पहचानना आत्मा की शक्ति का विकास है। इस अवस्था में आत्मा, परमात्म-शिव ही हो जाता है[५२]। अपर-मोक्ष, जिसे प्रत्यभिज्ञा में अभ्युदय रूप मानते हैं, महेश्वरतत्त्वादि के लोकों की उपलब्धि स्वरूप है[५३]।

तुलना

शिवमहापुराण में अद्वैत दृष्टिकोण के अनुसार वर्णित मुक्ति विषयक धारणा प्रत्यभिज्ञादर्शन अर्थात् अद्वैतदर्शन से साम्य रखती है। दोनों ही पर मुक्ति के विषय में समान दृष्टिकोण रखते हैं। अपर मोक्ष के बारे में भी वे दोनों समदृष्टि हैं, यहाँ केवल अन्तर यही है कि शिवमहापुराण अपनी पौराणि क भाषा में जिसे शिव के गाणपत्य पद से अभिहित करता है उसे ही प्रत्यभिज्ञा 'मन्त्र', 'महेश्वर' आदि प्रमातृवर्ग के पद के रूप में चित्रित करता है[५४]। किन्तु दोनों का विचार एक समान हो है।

---

५०. परसिद्धिर्मोक्षः। अपरसिद्धिरभ्युदयः। सर्वदर्शनसंग्रह, प्रत्यभिज्ञा दर्शन।

५१. मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि तत् ॥ अभिनवगुप्त, तन्त्रा० १, पृ० १९, २।

५२. स्वशक्तिविकासे तु शिव एव। प्रत्यभिज्ञा० १०।

५३. श्रीसदाशिवभट्टारकाधिष्ठितो मन्त्रमहेश्वराख्यः प्रमातृवर्गः... ..। ईश्वरभट्टारिकाधिष्ठितो मन्त्रेश्वरवर्गः आदि ॥ 'प्रत्यभिज्ञा०' ३ ॥

५४. देखिये—ऊपर का उद्धरण।

षष्ठ अध्याय

शक्तिपात एवं दीक्षा

दीक्षा की अनिवार्यता

शैव सम्प्रदाय के अनुसार दीक्षा के बिना मुक्ति ही सम्भव नहीं है। षडध्व का परिशोधन अर्थात् षडध्व की व्याप्ति का परिज्ञान रूप जो संस्कार है उसे ही दीक्षा कहते हैं[१]। इस संस्कार को शिव-संस्कार भी कहते हैं[२]। किन्तु कोई भी गुरु किसी भी साधक (पशु) को तबतक दीक्षित नहीं करता जब तक कि उसमें शक्तिपात (परमात्म-शिव का अनुग्रह) न हो चुका हो। शक्तिपात के बिना दीक्षा, षडध्व का परिशोधन, आदि कार्य सम्पन्न नहीं हो सकते[३]। शैव सम्प्रदाय में साधक के ऊपर हुई परमात्म-शिव की कृपा को शक्तिपात के नाम से अभिहित किया जाता है[४]।

शक्तिपात के हेतु साधना की आवश्यकता

किन्तु यह शक्तिपात अथवा अनुग्रह किसी चपलता का परिणाम नहीं है। इसके लिये कई वर्षों, यहाँ तक कि कई जन्मों की नैतिक एवं आध्यात्मिक साधना की अपेक्षा होती है। जिस प्रकार परम देवता के कण्ठाश्लेष के लिये पुष्पों को पहले कण्टक पर आवास करना पड़ता है, उसी प्रकार मुक्ति-लाभ की पूर्वपीठिका–अनुग्रह–की प्राप्ति के लिये साधक को श्रुति–स्मृति तथा विशेष रूप से आगम के द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर चलना होता है। पाशुपत व्रत का पालन, भस्मस्नान, त्रिपुण्ड्र तथा रुद्राक्ष धारण, प्राणायाम, शौचादि नित्यकर्म एवं अपने अभीष्ट देव के साथ एकाग्रता, पंचाक्षर जप आदि के दीर्घकालिक अभ्यास से साधक भी (पशु) परमात्म-शिव के अनुग्रह को प्राप्त

---

१. संस्कारः कथ्यते तेन षडध्वपरिशोधनम् ।। शिव० ७, २, १५, ४।
तस्मात् संस्कार एवायं दीक्षेत्यपि च कथ्यते ।। वही, ७, २, १५, ५।

२. इदानीं श्रोतुमिच्छामि शिवसंस्कारमुत्तमम्। वही, ७, २, १५, २।

३. शक्तिपातसमायोगादृते तत्त्वानि तत्त्वतः।
तद्व्याप्तिस्तद् विशुद्धिश्च ज्ञातुमेवं न शक्यते ।। वही, ७, १, २९, २७।

४. प्रत्यभिज्ञा हृदय की जयदेवसिंहकृत भूमिका का 'शक्तिपात अथवा अनुग्रह' शीर्षक।

करने में समर्थ होता है[५]। परमात्म-शिव के अनुग्रह से पशु की सर्वत्र अभीष्ट सिद्धियां हुआ करती हैं। यही कारण है कि सभी साधक (पशु) अन्त में संपूर्ण साधनों के द्वारा परमात्म-शिव का प्रसाद प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं[६]। परमात्म-शिव का प्रसाद प्राप्त करना धर्म कहा गया है। इस धर्म का मार्ग-प्रदर्शन वेद के द्वारा किया जाता है[७]।

शक्तिपात का क्रम अविवक्षित है

यहाँ यह स्मरणीय है कि शक्तिपात (अनुग्रह) का क्रम अविवक्षित है। जिसकी जैसी योग्यता होती है उसमें वैसा शक्तिपात (अनुग्रह) होता है[८]। भाव यह है कि मुक्तिप्राप्ति के क्रम में व्यक्ति की योग्यता के अनुसार भिन्नता भी होती है। कोई गर्भावस्था में मुक्त होता है तो कोई उत्पन्न होते ही मुक्त हो जाता है। कोई बाल्यकाल में मुक्त होता है तो कोई तरुणावस्था में मुक्ति-लाभ करता है। कोई वृद्ध होकर मुक्त होता है तो कोई तिर्यक् योनि में ही मुक्त हो जाता है। मुक्ति का यह क्रम व्यक्ति की योग्यता पर निर्भर होता है[९]। जब किसी का मल परिपक्व हो जाता है तब उसमें शक्तिपात होता है और उसकी मुक्ति होती है।

शक्तिपात की दुर्निवारता

शिव महापुराण के अनुसार शक्तिपात के बिना कोई भी साधक न तो ठीक से तत्वों को जानता है और न उनकी प्राप्ति एवं विवृद्धि (क्रमिक-विकास) को ही जानता है[१०]। जिस व्यक्ति में शक्तिपात नहीं हुआ रहता उसको शुद्धि

५. देखिये—७, १, ३३ अध्याय, विशेषतः २३ से २७ श्लोक तक, ७, २, ८, १८-२० ॥ ७, २, ४०, ३५ ॥ एवं विद्येश्वर संहिता में तत्तद् बातों के प्रतिपादक तत्ताद् अध्याय।

६. प्रसादपूर्विका एव पशोः सर्वत्र सिद्धयः।
स एव साधनैरन्ते सर्वैरपि च साध्यते ॥ शिव० ७, १, ३, ३१।

७. प्रसादसाधनं धर्मः स च वेदेन दर्शितः। वही, ७, १, ३, ३१-३२।

८. अनुग्रहप्रकारस्य क्रमोऽयमविवक्षितः।
यादृशी योग्यता पुंसस्तस्य तादृगनुग्रहः ॥ वही, ७, १, ३, ४१।

९. गर्भस्थो मुच्यते कश्चिज्जायमानस्तथापरः।
बालो वा तरुणो वाथ वृद्धो वा मुच्यतेऽपरः ॥ वही, ७, १, ३, ४२, आदि।

१०. शक्तिपातसमायोगादृते तत्त्वानि तत्त्वतः।
तद्व्याप्तिश्च विवृद्धिश्च ज्ञातुमेवं न शक्यते ॥ वही, ७, १, २६, २७।

नहीं होती। न तो उसे विद्या तथा सिद्धि की ही उपलब्धि होती और न तो वह मुक्ति का ही भाजन होता है।

शक्तिपात का लक्षण एवं साधक के भेद

अतः गुरु को चहिये कि वह पूर्णरूप से हुये शक्तिपात के लक्षणों को देखकर ज्ञान अथवा क्रिया के द्वारा शिष्य का विशोधन करे[११]। प्रबोध एवं आनन्द का सम्भव ही शक्तिपात का लक्षण है, क्योंकि परमा शक्ति भी प्रबोध एवं आनन्दस्वरूपणी ही है[१२]। अन्तःकरण में अलौकिक विकार का प्रादुर्भाव ही आनन्द एवं बोध का लक्षण है। अन्तःकरण का यह विलक्षण विकार शारीरिक कम्प, रोमांच, स्वर एवं नेत्र आदि अंगों में विकार के द्वारा जाना जाता है। शक्तिपात की अवस्था को प्राप्त हुये साधक को मुहुर्मुहुः आकस्मिक आनन्द आदि की उपलब्धि भी हुआ करती है। ये कम्प आदि शक्तिपात के अव्यभिचारी लक्षण हैं। इन भावों को मन्दता, मध्यता एवं तीव्रता से मुमुक्षुओं के भी मन्द, मध्य एवं उत्तम तीन वर्ग बन जाते हैं[१३]।

शिष्य एवं गुरु का परस्पर परीक्षण

शक्तिपात के अनन्तर गुरु उक्त लक्षणों के द्वारा साधक का परीक्षण करके उसे दीक्षित करता है। किन्तु इस स्थल पर साधक, जिसे शिष्य भी कहा गया है, को भी अत्यधिक सावधान रहने की आवश्यकता होती है। सम्भव है कोई ऐसा भी गुरु साधक को दीक्षित करने का प्रयास करे, जो वस्तुतः उक्त कार्य का अधिकारी न हो। अतः शिष्य (साधक) को चाहिए कि वह शिवार्चन आदि कृत्यों में गुरु के साथ रह कर उक्त कम्प, रोमांच आदि लक्षणों के द्वारा गुरु को भी परीक्षा करे, जिनसे कि गुरु साधक में शक्तिपात होने का परीक्षण करता है[१४]।

शिष्य और गुरु शब्द की व्युत्पत्ति

शिव महापुराण शिष्य एवं गुरु शब्द को मीमांसा करते हुये कहता है कि शिक्षणीय होने के कारण साधक को शिष्य कहा जाता है। शिक्षाकार्य गौरव-

---

११. तस्माल्लिङ्गानि संवीक्ष्य शक्तिपातस्य भूयसः।
ज्ञानेन क्रियया वाऽथ गुरुः शिष्यं विशोधयेत् ।। शिव० ७, २, १५, १४।

१२. लक्षणं शक्तिपातस्य प्रबोधानन्दसंभवः।
सा यस्मात् परमा शक्तिः प्रबोधानन्दरूपिणी ।। वही, ७, २, १५, १६।

१३ सर्वैर्व्यस्तैः समस्तैर्वा लिङ्गैरव्यभिचारिभिः।
मन्दमध्योत्तमैर्भावैर्विज्ञेयास्ते नरोत्तमाः ।। वही, ७, २, ११, ३७।

१४. शिष्योऽपि लक्षणैरेभिः कुर्याद् गुरुपरीक्षणम्।
तत्सम्पर्कैः शिवार्चादौ संगतैर्वाथ तद्गतैः ।। वही, ७, २, १५, १८।

पूर्ण कार्य है, इसको सम्पन्न करने वाला गौरव का भागी होता है। इसी गौरव के कारण शिक्षक को गुरु कहा जाता है[१५]।

गुरु का गौरव

गुरु की महिमा इस संसार में सर्वातिशायिनी है। परमात्म-शिव और गुरु में कोई भिन्नता नहीं है। गुरु साक्षात् परमात्म-शिव कहा गया है[१६]। गुरु सर्वदेवात्मक एवं सर्वमन्त्रात्मक होता है। अतः उसकी आज्ञा का पालन पूर्ण प्रयत्न के साथ करना चाहिये। कल्याण की कामना करने वाला साधक यदि मन से भी गुरु की आज्ञा का लङ्घन नहीं करता है तो वह ज्ञान-सम्पत्ति का भागी होता है। शिष्य को चाहिये कि वह गुरु के समक्ष उनकी बिना आज्ञा के कोई कर्म न करे। गुरु के गृह में शिष्य को यथेष्ट आसन भी नहीं ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि गुरु-गृह साक्षात् देवमन्दिर कहा गया है। गुरु के सहवास एवं उनकी कृपा से शिष्य के सम्पूर्ण पाप क्षण भर में विनष्ट हो जाते हैं। यदि कभी शिष्य भ्रम अथवा प्रमादवश गुरु का विप्रिय कर बैठता है तो उसके कल्याण, आयु, श्री, ज्ञान, सत्क्रिया, यज्ञ यम, नियम आदि सभी विनष्ट हो जाते हैं। अतः बड़ी ही सावधानी से गुरु के साथ व्यवहार करना चाहिए।

गुरु का लक्षण एवं गुरु-परिवर्तन

शिव महापुराण गुरु की प्रबल भक्ति का विधान अवश्य करता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह अन्ध-श्रद्धा का प्रतिपादक है। उसका कथन है कि यदि गुरु गुणवान्, प्राज्ञ एवं परमानन्द का भासक तथा तत्त्ववेत्ता अथ च शिव में संलग्न चित्तवाला है, तभी वह मुक्ति का दाता होता है अन्यथा नहीं। जो आचार्य तत्त्ववेत्ता हैं वे ही मुक्त एवं मोचक हैं[१७]। जो लोग तत्त्व से हीन हैं अर्थात् जिन्हें तत्त्वों का ज्ञान नहीं है उन्हें बोध एवं आत्मपरिग्रह नहीं होता है। आत्मपरिग्रह से विनिर्मुक्त गुरु पशु ही कहा जाता है, अतः उसकी प्रेरणा से साधक शिष्य का पशुत्व विनिवृत्त नहीं होता[१८] है। अतः तत्त्ववेत्ता अतएव मुक्त आचार्य

---

१५. शिष्यस्तु शिक्षणीयत्वाद् गुरुर्गौरवकारणात्।
तस्माद् सर्वप्रयत्नेन गुरोर्गौरवमाचरेत् ।। शिव० ७, २, १५, १९।

१६. यो गुरुः सः शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः।
गुरुर्वा शिव एवाथ विद्याकारेण संस्थितः ।। वही, ७, २, १५, २०। आदि।

१७. तत्त्वविच्छिवसंसक्तो मुक्तिदो न तु चापरः। वही, ७, २, १५, ३६।
यैः पुर्नविदितं तत्त्वं ते मुक्ता मोचयन्त्यपि। वही, ७, २, १५, ३९।

१८. परिग्रहविनिर्मुक्तः पशुरित्यभिधीयते।
पशुभिश्च प्रेरितश्चापि पशुत्वं नातिवर्तते ।। वही, ७, २, १५, ४४।

ही मोचक कहा गया है। सर्वलक्षण सम्पन्न, सर्वशास्त्रविज्ञ एवं सम्पूर्ण उपाय तथा विधियों का ज्ञाता भी यदि तत्त्वहीन है तो वह निष्फल है।

तत्त्ववेत्ता गुरु के अवलोकन, सम्भाषण आदि से परानन्द का प्रादुर्भाव होता है। अतः जिसके सम्पर्क से प्रबोध एवं आनन्द की उपलब्धि होती है, उसी को गुरु बनाना चाहिये अन्य को नहीं।

यदि वर्षों के प्रयत्न करने पर भी साधक को स्वल्प भी प्रबोध एवं आनंद की उपलब्धि नहीं होती है तो उसे चाहिए कि वह अन्य गुरु का समाश्रयण करे। किन्तु साधक को चाहिये कि वह अन्य गुरु का सेवन करने पर भी अपने पूर्व गुरु की अवमानना न करे। साधक शिष्य को चाहिये कि वह सर्वप्रथम ब्राह्मण, वेदपारग, प्राज्ञ, सुभग, प्रियदर्शन, सर्वाभयप्रदाता, करुणाक्रान्तमानस गुरु की आराधना कर एवं सामर्थ्यानुसार वित्त समर्पण कर पूर्णरूप से उसी के वश में हो जाय। शिव-स्वरूप गुरु के सम्मुख आत्मसमर्पण से प्राणी शैव कहा जाता है। इस प्रकार साधक पुनर्भव से मुक्ति प्राप्त कर लेता है[१९]।

शिष्यपरीक्षण

गुरु को भी चाहिये कि वह स्वाश्रित ब्राह्मण शिष्य की एक वर्ष, क्षत्रिय शिष्य की दो वर्ष एवं वैश्य शिष्य को तीन वर्ष तक परीक्षा करे। यह परीक्षा प्राण एवं द्रव्य की याचना से, योग्य अथवा अयोग्य आदेशों से एवं उत्तम को अधम तथा अधम को उत्तम कार्य में संयोजित कर की जा सकती है। इन कार्यों से अथ च डाटने एवं मारने पर भी जो शिष्य विषाद को नहीं प्राप्त होते हैं, वे ही संयत तथा शुद्ध शिष्य शिव संस्कार (दीक्षा अथवा षडध्व शुद्धि) के योग्य माने गये हैं। अहिंसक, दयावान्, सर्वदा तत्पर मनवाले, अमानी, बुद्धिमान्, स्पर्धा न करने वाले, प्रियम्वद, ऋजु, स्वच्छ, विनीत, स्थिरचेता, शौच एवं वर्णाचार से सम्पन्न, शिवभक्त, द्विजाति साधक, यथान्याय, शोधन एवं ज्ञान-प्रदान के पात्र हुआ करते हैं।

स्त्रियों एवं शूद्रों की दीक्षा,

स्त्रियों का स्वातः शिवसंस्कारकर्म (दीक्षा) में अधिकार नहीं है। यदि परमात्म-शिव में उनकी अटूट श्रद्धा है तो अपने पति के आदेश से ही वे इसकी अधिकारिणी कही गई हैं। भर्तृहीना, एवं कन्या का क्रमशः पुत्र एवं पिता आदि के आदेश से उक्त संस्कार में अधिकार कहा गया है। शूद्र, पतित एवं

---

१९. यदा शिवाय स्वात्मानं दत्तवान् देशिकात्मने।
तदा शैवो भवेद्देही न ततोऽस्ति पुनर्भवः॥ शिव० ७, २, १५, ५५।

शंकर जातियों की अध्वशुद्धि अर्थात् दीक्षा नहीं होती[२०]। यदि वे भी परम-कारण परमात्म-शिव में अकृत्रिम श्रद्धा रखते हैं तो पादोदक आदि के द्वारा उनका भी पापविशोधन शास्त्र-सम्मत कहा गया है।

दीक्षा के त्रिविध भेद

शैवागमों के अनुकरण पर शिव महापुराण में भी त्रिधा दीक्षा–शाम्भवी दीक्षा, शाक्ती दीक्षा एवं मान्त्री दीक्षा-बतलाई गई है[२१]।

(क) शाम्भवी दीक्षाः – शाम्भवी दीक्षा में गुरु के आलोकन, स्पर्श एवं सम्भाषण मात्र से प्राणियों में पाश की क्षयकारिणी संज्ञा (चेतना) सद्यः समुत्पन्न होती है। पुनः पाश के विनाश की दृष्टि से, शाम्भवी दीक्षा दो प्रकार की बतलाई गई है—तीव्रा एवं तीव्रतरा। जिसके द्वारा सद्यः निर्वृति होती है वही तीव्रतरा शाम्भवी दीक्षा है। तीव्रा शाम्भवी दीक्षा पुरुष के पाप की अत्यन्त विशोधिका कही गई है[२२]।

(ख) शाक्ती दीक्षाः—जिस दीक्षा में गुरु योगमार्ग के द्वारा ज्ञानचक्षु अथवा मन से शिष्य के शरीर में प्रवेश करके संस्कार करता है, वह शाक्ती दीक्षा कही गई है[२३]। यह दीक्षा गुह्य होने के कारण यहाँ नहीं वर्णित है। यह एकमात्र गुरु-परम्परा से ज्ञातव्य है[२४]।

(ग) मान्त्री दीक्षा –मान्त्री दीक्षा को क्रियावती दीक्षा भी कहते हैं। इस विधि के अनुसार कुण्ड एवं मण्डप का बाह्य प्रदेश में निर्माण कर, शनैः-शनैः, कर्मकाण्डपूर्वक शिष्य का संस्कार किया जाता है[२५]। यह क्रियावती

---

२०. शूद्राणां मर्त्यजातीनां पतितानां विशेषतः।
तथा संकरजातीनां नाध्वशुद्धिर्विधीयते॥ शिव० ७, २, १५, ६३-६४।

२१. शाम्भवी चैव शाक्ती च मान्त्री चैव शिवागमे।
दीक्षोपदिश्यते त्रेधा शिवेन परमात्मना॥ वही, ७, २, १५, ६।

२२. सा दीक्षा शाम्भवी प्रोक्ता सा पुनर्भिद्यते द्विधा।
तीव्रा तीव्रतरा चेति पाशोपक्षयभेदतः॥
यया स्यान्निर्वृतिः सद्यः सैव तीव्रतरा मता।
तीव्रा तु जीवतोऽत्यन्तं पुंसः पापविशोधिका॥ वही, ७, २, १५, ८-९।

२३. शाक्ती ज्ञानवती दीक्षा शिष्यदेहे प्रविश्य तु।
गुरुणा योगमार्गेण क्रियते ज्ञानचक्षुषा॥ वही, ७, २, १५, १०।

२४. मनसा यस्तु संस्कारः क्रियते योगवर्त्मना।
स नेह कथितो गुह्यो गुरुवक्त्रैकगोचरः॥ वही, ७, २, १५, ७३।

२५. मान्त्री क्रियावती दीक्षा कुण्डमण्डपपूर्विका।
मन्दमन्दतरोद्देशाद् कर्त्तव्या गुरुणा बहिः॥ वही, ७, २, १५, ११।

दीक्षा ही शिव महापुराण में संक्षेप से कही गयी है [२९]। मान्त्री दीक्षा का प्रमुख अंग है षडध्व-प्रक्रिया। इसका ज्ञान एवं इसके अनुसार शुद्धि प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। शिष्य के संस्कारकर्म में षडध्व-प्रक्रिया सर्वाधिक महत्त्वशाली एवं लोकप्रसिद्ध तथा किसी न किसी रूप से अन्य दर्शनों के द्वारा भी स्वीकृत है, अतः यहाँ उसका एक विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

द्विधा शब्दार्थ-भावना

इस संसार में कोई भी अर्थ शब्द के अभाव में नहीं ज्ञात होता। कोई शब्द भी निरर्थक नहीं है। सम्पूर्ण शब्द यथायोग्य सम्पूर्ण संकेतित अर्थों के बोधक हुआ करते हैं[२७]।

शब्द एवं अर्थ की यह द्विधा भावना प्रकृति (परा शक्ति) का परिणाम है। अतः इसे परमात्म-शिव एवं शिवा की अर्थात् सकल शिव की प्राकृत मूर्ति कहा गया है[२८]।

शब्दात्मिका विभूति के त्रिधा भेद

शब्दात्मिका विभूति स्थूला, सूक्ष्मा एवं परा भेद से त्रिधा कही गई है[२९]। स्थूला विभूति (वैखरी) विचार के आदान-प्रदान के साधनभूत शब्द को कहते हैं (स्थूला या श्रुतिगोचरा)। सूक्ष्मा शब्द विभूति (पश्यन्ती) चिन्तामयी कही गई है (सूक्ष्मा चिन्तामयी प्रोक्ता)। 'परा' चिन्ता से रहित निर्दिष्ट की गई है (चिन्तया रहिता परा)। परमात्म-शिव का समाश्रयण करने वाली जो शक्ति है वही परा-शक्ति के नाम से भी जानी जाती है[३०]। यह सम्पूर्ण शक्तियों की समष्टिभूता है।

---

२६. क्रियावान् यस्तु संस्कारः कुण्डमण्डपपूर्वकः।
स वक्ष्यते समासेन तस्य शक्यो न विस्तरः॥ शिव० ७, २, १५, ७४।

२७. नास्ति कश्चिदशब्दार्थो नापि शब्दो निरर्थकः।
ततो हि समये शब्दः सर्वः सर्वार्थबोधकः॥ वही, ७, १, २६, २।

२८. प्रकृतेः परिणामोऽयं द्विधा शब्दार्थभावना।
तामाहुः प्राकृतीं मूर्ति शिवयोः परमात्मनोः॥ वही, ७, १, २६, ३।

२९. शब्दात्मिका विभूतिर्या सा त्रिधा कथ्यते बुधैः।
स्थूला सूक्ष्मा परा चेति स्थूला या श्रुतिगोचरा॥ वही, ७, १, २६, ४।

३०. .... चिन्तया रहिता परा।
या शक्तिः सा परा शक्तिः शिवतत्त्वसमाश्रया॥ वही, ७. १, २६, ५।

परा शक्ति का षडध्व के रूप में विजृम्भण

उक्त पराशक्ति ही विभाग स्वरूपा हो षडध्व के रूप में विजृम्भित होती है[३१]। षडध्व के अन्तर्गत तीन शब्दाध्वा एवं तीन अर्थाध्वा आते हैं। शब्दाध्वा के अन्तर्गत वर्णाध्वा, पदाध्वा एवं मन्त्राध्वा आते हैं। अर्थाध्वा के अन्तर्गत कलाध्वा, तत्त्वाध्वा तथा भुवनाध्वा परिगणित होते हैं[३२]।

कलाध्वा

निवृत्तिकला, प्रतिष्ठाकला, विद्याकला, शान्तिकला एवं शान्त्यतीता कला, इन्हीं पांच को मिलाकर कलाध्वा कहा जाता है। अन्य पाँच अध्वा इन्हीं पाँच कलाओं से व्याप्त रहते हैं[३३]। कलाध्वा व्यापक एवं अन्य अध्वा व्याप्य माने गये हैं। सर्ग के प्रारम्भ में परा प्रकृति ही निवृत्त्यादि पंचकलाओं के रूप में परिणमित होती है। कलाओं में भी परस्पर यथोत्तर व्याप्यव्यापक भाव सम्बन्ध है[३४]।

कैलाससंहिता के षोडश अध्याय में कहा गया है कि परा शक्ति से चित् शक्ति प्रकट होती है। चित् शक्ति से आनन्द शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, आनन्दशक्ति से इच्छाशक्ति का उद्भव हुआ है, इच्छाशक्ति से ज्ञानशक्ति और ज्ञानशक्ति से पांचवीं क्रियाशक्ति प्रकट हुई है। इन्हीं से निवृत्ति आदि पाँच कलायें उत्पन्न हुई हैं[३५]। उसी स्थल पर यह भी कहा गया है कि शिव से ईशान, ईशान से तत्पुरुष, तत्पुरुष से अघोर, अघोर से वामदेव, वामदेव से सद्योजात का प्रादुर्भाव हुआ है। इन्हीं को पंच ब्रह्म भी कहते हैं। इन्हीं पाँच ब्रह्म से क्रमशः शान्त्यतीता, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा एवं निवृत्ति कलायें उत्पन्न हुई हैं[३६]। परमात्म-शिव में वर्तमान अनुग्रह, तिरोभाव, सृष्टि, स्थिति एवं

---

३१. सा विभागस्वरूपैव षडध्वात्मा विजृम्भते ॥ शिव० ७, १, २९, ८।

३२. मन्त्राध्वा च पदाध्वा च वर्णाध्वा चेति शब्दतः ॥
भुवनाध्वा च तत्त्वाध्वा कलाध्वा चार्थतः क्रमात्। वही, ७, १, २९, ११-१२।

३३. कलाभिस्तानि तत्त्वानि व्याप्तान्येव यथातथम्। वही, ७, १, २९, १७।

३४. परस्याः प्रकृतेरादौ पंचधा परिणामतः।
कलाश्च ता निवृत्त्याद्या व्याप्ताः पंच यथोत्तरम् ॥ वही, ७, १, २९, १८।

३५. पराशक्तेस्तु संजाता चिच्छक्तिस्तु तदुद्भवा।
आनन्दशक्तिस्तज्जा स्यादिच्छाशक्तिस्तदुद्भवा ॥
ज्ञानशक्तिस्ततो जाता क्रियाशक्तिस्तु पंचमी।
एताभ्य एव संजाता निवृत्त्याद्याः कला मुने ॥ वही, ६, १६, ५४-५५।

३६. ईशानाच्छान्त्यतीताख्या कला जाताऽथ पुरुषात्।
उत्पद्यते शान्तिकला विद्याऽघोरसमुद्भवा ॥
प्रतिष्ठा च निवृत्तिश्च वामसद्योद्भवे मते। वही, ६, १६, ५९-६०।

संहार नामक पंचकृत्यों का हेतु पंच कलायें ही हैं[३७]।

वस्तुतः पंच ब्रह्म ईशाना आदि के मूल में परमात्म-शिव की पराशक्ति से उत्पन्न चित्, आनन्द आदि शक्तियां ही हैं। ये शक्तियां ही कालान्तर में पंचब्रह्म के रूप में कल्पित हुईं। अतः इन शक्तियों से उत्पन्न होने वाली पंच कलाओं का सम्बन्ध भी पंचब्रह्म से जोड़ दिया गया है। अतः कलाओं की उत्पत्ति पंच शक्तियों से बतलाई जाय अथवा पंचब्रह्म से कोई अनुपपत्ति नहीं होती है।

तत्त्वाध्वा

शिवतत्त्व से लेकर भूमिपर्यन्त तत्त्वाध्वा कहा गया है। सभी षट्त्रिंशत् तत्त्व शुद्ध एवं अशुद्ध एवं शुद्धाशुद्ध तीन वर्गों में विभक्त किये जाते हैं[३८]। सम्पूर्ण तत्त्व कलाओं से व्याप्त होते हैं।

भुवनाध्वा

आधार से लेकर उन्मनान्त (शुद्ध विद्या तत्त्व के एक भुवन पर्यन्त) भुवनाध्वा कहा गया है। भुवनाध्वा के अन्तर्गत साठ (६०) भुवन आते हैं। इसके अतिरिक्त भुवनाध्वा के कोई भेद एवं उपभेद नहीं होते हैं[३९]। सम्पूर्ण भुवन तत्त्वों से व्याप्त होते हैं। इनमें परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध होता है।

वर्णाध्वा

वर्णाध्वा के अन्तर्गत पंचाशत् क्षकारादि अकारान्त वर्ण आते हैं। ये सभी वर्ण रुद्रस्वरूप हैं[४०]। वर्ण एवं भुवनों का परस्पर व्याप्यव्यापकरूप सम्बन्ध है। वर्ण व्याप्य हैं और भुवन व्यापक। समग्र वर्ण भुवनों में ही उपलब्ध होते हैं। अतः इनका उक्त सम्बन्ध बतलाया गया है।

पदाध्वा

शिव महापुराण के अनुसार पदाध्वा अनेक भेदों से सम्पन्न है[४१]। शिव महापुराण इन भेदों का विशेष विवरण नहीं प्रस्तुत करता। पद वर्णों से व्याप्त हैं, क्योंकि विद्वानों ने वर्ण-समूह को ही पद बतलाया है।

---

३७. अनुग्रहादिकृत्यानां हेतुः पंचकमिष्यते। शिव० ६, १६, ६१।

३८. शिवतत्त्वादिभूम्यन्तं तत्त्वाध्वा समुदाहृतः।
षट्त्रिंशत्संख्ययोपेतः शुद्धाशुद्धोभयात्मकः। वही, ७, २, १७, ४।

३९. आधाराद्युन्मनान्तश्च भुवनाध्वा प्रकीर्तितः।
विना भेदोपभेदाभ्यां षष्टिसंख्यासमन्वितः ॥ वही, ७, २, १७, ५।

४०. पंचाशद्रुद्ररूपास्तु वर्णा वर्णाध्वसंज्ञिताः ॥ वही, ७, २, १७, ६।

४१. अनेकभेदसम्पन्नः पदाध्वा समुदाहृतः। वही, ७, २, १७, ६।

मन्त्राध्वा

मन्त्राध्वा सम्पूर्ण उपमन्त्रों एवं परम विद्या के द्वारा व्याप्त रहता है। षडक्षर रूप महामन्त्र मन्त्राध्वा के अन्तर्गत नहीं गिना जाता[४२]। सम्पूर्ण मन्त्र, वाक्यरूप होने के कारण, पदों से व्याप्त रहते हैं। इनका परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध रहता है।

निखिल जगत् षडध्वमय है

शैवी पराशक्ति से समुद्भूत वागर्थमय षड्विध अध्वा ही यह निखिल जगत् है[४३]। अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् षडध्वमय ही है। षडध्व-परिशोधन से मनुष्य पूजा आदि कृत्यों में भली-भांति अधिकृत हो जाता है, अतः इसे संस्कार भी कहा गया है[४४]।

षडध्व प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक है

शिव महापुराण के अनुसार प्रत्येक मुमुक्षु को षडध्वप्रक्रिया का सम्यक् ज्ञान एवं षडध्व-परिशोधन-संस्कार का ज्ञान आवश्यक है। इसके बिना प्राणी की शुद्धि असम्भाव्य है। अध्वव्याप्ति के परिज्ञान के बिना साधक का शुद्धयर्थ प्रयत्न न केवल निष्फल होता है अपितु वह नरक का भागी भी होता है[४५]।

षडध्व-विशोधन

जो व्यक्ति षडध्व के अन्तर्गत वर्तमान व्याप्य-व्यापक भाव को, तत्त्वतः, नहीं जानता वह अध्वशोधन के योग्य नहीं है। जिस व्यक्ति ने षड्विध अध्वा के रूप को नहीं जाना है, वह इसकी व्याप्य-व्यापकता को नहीं जान सकता है। अतः अध्वस्वरूप एवं उसके अन्तर्गत व्याप्य-व्यापकता को यथावद् ज्ञात कर ही अध्व विशोधन करना चाहिए।

दीक्षा का महत्त्व एवं नामकरण

अब तक ऊपर दीक्षा के प्रमुख भेद षडध्व का विवरण देने के अनन्तर अब दीक्षा का महत्त्व बतलाया जा रहा है। दीक्षा-संस्कार सम्पूर्ण पापों का

---

४२. सर्वोपमन्त्रैर्मन्त्राध्वा व्याप्तः परमविद्यया। शिव० ७, २, १७, ७।

४३. त्रिविधा कार्यभेदेन सा प्रसूते षडध्वनः।
स वागर्थमयश्चाध्वा षड्विधो निखिलं जगत्॥ वही, ७, १, २९, ३६।

४४. सम्यक् कृताधिकारः स्यात् पूजादिषु नरो यतः।
संस्कारः कथ्यते तेन षडध्व-परिशोधनम्॥ वही, ७, २, १५, ४

४५. अध्वव्याप्तिमविज्ञाय शुद्धिं यः कर्तुमिच्छति।
स विप्रलम्भकः शुद्धेर्नाल प्रापयितुं फलम्।
वृथा परिश्रमस्तस्य निरयायैव केवलम्॥ वही, ७, १, २९, २५-२६।

उसी प्रकार जला डालता है, जैसे अग्नि सुवर्ण के कालुष्य को भस्म कर देता है। शिव के द्वारा परिभाषित होने से इसे शिवसंस्कार भी कहते हैं। यतः इस संस्कार से विज्ञान दिया जाता है और पाशरूप बन्धन क्षीण होता है, अतः इस संस्कार को दीक्षा भी कहते हैं[४६]।

इस प्रकार शक्तिपात होने पर निःश्रेयस् प्राप्ति की कामना वाला साधक परमात्म-शिव की इच्छा से अधिगत गुरु को प्राप्त करके, उनके द्वारा विहित दीक्षा से, अपने त्रिविध मलों को विच्छिन्न करके मुक्त होता है। योग्य गुरु साधक को सविधि दीक्षित करके निर्मल परमात्म-शिव से संयुक्त करता है।

द्वैत शैवदर्शन में शक्तिपात एवं दीक्षा

द्वैत शैवदर्शन शक्तिपात एवं दीक्षा को मुक्ति का मूल कारण मानता है। 'रत्नत्रय' में 'सिद्धान्त-सेवन' (शैवदर्शन के सिद्धान्त अथवा आगमिक ग्रन्थ) को शक्तिपात का लक्षण कहा गया है[४७]। यहां भी शक्तिपात को दीक्षा से पूर्व-भावी आवश्यक विधान स्वीकार किया गया है[४८]। श्रीमत्किरण में कहा भी गया है—'जब साधक तीव्र शक्तिनिपात के कारण गुरु के द्वारा दीक्षित होता है तब वह शिव के समान सर्वज्ञ हो जाता है :—

श्लोक—तीव्रशक्तिनिपातेन गुरुणा दीक्षितो यदा।
सर्वज्ञः स शिवो यद्वत् .... । इति[४९]।

'रत्नत्रय' श्लोक १४६ एवं १४७ पर 'अघोर शिवाचार्य' की टीका में 'दीक्षा' को ही एकमात्र मोक्ष का हेतु माना गया है। यद्यपि उक्त श्लोक में दीक्षा, चर्या, ज्ञान एवं योग को समान रूप से भोग एवं मोक्ष का हेतु माना गया है तथापि उक्त टीकाकार का कथन है कि चर्या, एवं योग का अनुष्ठान ज्ञान के बिना सम्पन्न ही नहीं हो सकता और ज्ञान भी दीक्षा के बिना पुरुषों

---

४६. संस्कारं परमं पुण्यं शिवेन परिभाषितम्। शिव० ७, २, १५, ३।
दीयते येन विज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम्।
तस्माद् संस्कार एवायं दीक्षेत्यपि च कथ्यते॥ वही, ७, २, १५, ५।

तुलना—दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता॥ तन्त्रा० आ० १, श्लोक० ४४ की व्याख्या से।

४७. देखिये—रत्न० श्लो० १२ और उसपर 'अघोर शिवाचार्य' की टीका।

४८. देखिये—वही।

४९. उक्त सन्दर्भ की टीका से उद्धृत।

को मुक्त करने में क्षम नहीं है, अतः मानना पड़ेगा कि दीक्षा ही मोक्ष का हेतु है। 'मतङ्गसूत्र' में कहा भी गया है:—

श्लोक—तस्मान्मन्त्रक्रिया मुख्या सेश्वरी भुक्तिमुक्तिदा[५०]।

इसी बात का समर्थन करते हुए 'श्रीमत्षट्साहस्रिका' में भी कहा गया है कि पुरुष के चैतन्य को अभिव्यक्त करने वाली दीक्षा ही मोक्षदायिनी है[५१]।

जब आत्मा का पूर्णतः मल परिपाक हो जाता है तभी दीक्षा होती है और यह दीक्षा ही कर्मक्षय के द्वारा मोक्ष का हेतु है। मल के पूर्णतः परिपाक होने पर ही परमात्म-शिव (पशुपति) की अनुग्राहिका शक्ति का पात होता है। आत्मा मल के विनष्ट हो जाने पर आवरण विमुक्त हो जाता है और तभी इसका सर्वज्ञत्वादि रूप प्रकाशित होता है[५२]। मल के प्रशान्त होने पर ही दीक्षा नामक परमात्म-शिव (पशुपति) की शक्ति के द्वारा स्पृष्ट होने पर आत्मा मुक्त हो जाता है[५३]।

द्वैतदर्शन में गुरु

द्वैतवादी शैव दर्शन के अनुसार वे ही लोग गुरु बन सकते हैं जो कि अपरमुक्त हो चुके होते हैं[५४]। इसके साथ ही गुरु को शास्त्रज्ञ, ब्राह्मण ही होना चाहिये। ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य जाति का व्यक्ति गुरु नहीं हो सकता।

तुलना

शिव महापुराण एवं द्वैतदर्शन–दोनों ही–मुक्ति के लिये शक्तिपात एवं दीक्षा को अनिवार्य मानते हैं। दोनों का कहना है कि शक्तिपात के विना दीक्षा एवं दीक्षा के विना मुक्ति संभव ही नहीं है। दोनों ही यह मानते हैं कि मुक्त आचार्य ही दीक्षा देने का अधिकारी है। अन्तर इतना ही है कि द्वैतवादी स्पष्टरूप से कहता है कि अपरमुक्त ब्राह्मण गुरु बनने का अधिकारी है, जब कि शिव महापुराण एकमात्र इतना ही कहता है कि गुरु को मुक्त और ब्राह्मण होना चाहिये।

---

५०. उक्त सन्दर्भ की टीका से उद्धृत।

५१. दीक्षैव मोक्षदा पुंसां चिदभिव्यक्तिकारिणी।
उक्त सन्दर्भ की टीका से उद्धृत।

५२. 'रत्न०' श्लो० १२ पर 'अघोर शिवाचार्य' की टीका से।

५३. 'रत्न०' श्लोक ३१३ पर 'अघोर शिवाचार्य' की टीका।

५४ शैवसिद्धान्तपरिभाषा, पृ० ३७। यथा–अपरज्ञानिनस्तु अधिकारिण आचार्याः सिद्धान्तव्यक्तचैतन्यत्वेनापरमुक्ताः।

षडध्व-प्रक्रिया के अन्तर्गत भुवनाध्वा के भुवनों को शिव महापुराण साठ (६०) कहता है किन्तु द्वैतवादी शैवदर्शन भुवनों की संख्या दो सौ चौबीस (२२४) बतलाता है[५५]। इसके अतिरिक्त शिव महापुराण पदाध्वा के पदों की निश्चित संख्या न देकर उसे अनेक भेदों से सम्पन्न बतलाता है किन्तु द्वैतवादी शैवदर्शन के अनुसार पदाध्वा के ८१ भेद निश्चित किये गये हैं[५६]। पदों की भांति मन्त्रों की संख्या भी, जो कि मन्त्राध्वा के अन्तर्गत आते हैं, शिव महापुराण में निश्चित नहीं की गई है। केवल इतना ही भर कह दिया गया है कि महामन्त्रों की संख्या सप्तकोटि है और उपमन्त्र भी अनेक हैं। किन्तु द्वैतवादी शैवदर्शन मन्त्राध्वा के अन्तर्गत मन्त्रों की संख्या एकादश (११) बतलाता है[५७]। इन एकादश मन्त्रों का निर्देश शिव महापुराण में यत्र-तत्र अवश्य उपलब्ध होता है[५८]। इस प्रकार इन्हीं कुछ विभिन्नताओं के अतिरिक्त शिव-महापुराण एवं द्वैतवादी शैवदर्शन, षडध्व-प्रक्रिया एवं शक्तिपात तथा दीक्षा के विषय में, साम्य रखते हैं।

अद्वैत दर्शन में शक्तिपात एवं दीक्षा

अद्वैत दर्शन के अनुसार मुक्ति के लिये क्रमशः शक्तिपात एवं दीक्षा अनिवार्य माने गये हैं। अद्वैत दर्शन शक्तिपात के तीन भेद करता है :—तीव्र शक्तिपात, मध्यम शक्तिपात एवं मन्द शक्तिपात। जो लोग पूर्व जन्म के उत्तम संस्कार को रखते हैं, वे लोग उस संस्कार के कारण तीव्र शक्तिपात प्राप्त करने के लिये अत्यधिक योग्य पात्र होते हैं। ऐसे लोग बिना कठिन साधना के ही मुक्त हो जाते हैं। जो लोग पूर्ण योग्य पात्र नहीं होते वे मध्यम शक्तिपात प्राप्त करते हैं। यह शक्तिपात उन्हें एक 'गुरु' का अन्वेषण करने के लिए प्रभावित करता है, अर्थात् उन्हें एक गुरु की आवश्यकता पड़ती है। गुरु की यह आवश्यकता 'दीक्षा' एवं योगविधि प्राप्त करने के लिये होती है। एक उचित समय पर ऐसे लोग भी मुक्ति को प्राप्त करते हैं। जो लोग इससे भी कम योग्य पात्र होते हैं, वे 'मन्दशक्तिपात' प्राप्त करते हैं। यह उनमें आध्यात्मिक

---

५५. देखिये—'तत्त्व०' पर 'तात्पर्यदीपिका' व्याख्या (अनन्तशयनग्रन्थमाला प्रकाशन, पृ० ३३-४२)।

५६. देखिये—'तत्त्व०' पर 'तात्पर्यदीपिका' व्याख्या टीका, पृ० ३८ आदि।

५७. 'तत्त्व०' 'तात्पर्यदीपिका' टीका, पृ० ३८, अनन्तशयन प्रकाशन।

५८. अस्त्रमन्त्र, ७, २, २२, ६ ॥ ७, २, २४, २ ॥ मूलमन्त्र, ७, २, २४, १ ॥ ७, २, ३२, ४० ॥ वर्म (कवच) मन्त्र, ७, २, २४, २॥ ७, २, २५, ६॥ ७, २, ३१, ४२ से ४६ तक आदि ॥

ज्ञान एवं ध्यान के लिये एक सत्य एवं पवित्र उत्कण्ठा उत्पन्न कर देता है। ऐसे लोग भी समय के पूरा होने पर मुक्ति को प्राप्त करते हैं[५९]।

तुलना

शिव महापुराण एवं अद्वैतवादी दर्शन—दोनों ही शक्तिपात, शक्तिपात के त्रिधा भेद एवं दीक्षा के विषय में समान मत रखते हैं। दोनों ही मुक्ति के लिये शक्तिपात एवं दीक्षा को अनिवार्य मानते हैं। गुरु का अपूर्व महत्त्व शिव पुराण की भांति अद्वैत दर्शन में भी स्वीकार किया गया है। अद्वैत-दर्शन गुरु को मुक्ति का उपाय कहता है[६०]।

अद्वैत दर्शन के अनुसार षडध्व प्रक्रिया के अन्तर्गत परिगणित भुवनों की संख्या दो सौ चौबीस (२२४) बतलाई गई है[६१]। शिव महापुराण भुवनों की संख्या साठ (६०) ही बतलाता है। शिव महापुराण में पदाध्वा के पदों की संख्या निश्चित नहीं की गई है, केवल इतना ही भर कह दिया गया है कि पदाध्वा अनेक भेदों से सम्पन्न है[६२]। किन्तु अद्वैत दर्शन पदाध्वा के पदों की संख्या एक्यासी (८१) निश्चित करता है[६३]। शिव महापुराण मन्त्राध्वा के मन्त्रों एवं उपमन्त्रों की निश्चित संख्या निर्धारित नहीं करता किन्तु अद्वैत-दर्शन के अनुसार इनकी संख्या अनन्त होते हुए भी मुख्य रूप से एकादश (११) है[६४]। इन्हीं कुछ मतभेदों के अतिरिक्त शिव महापुराण एवं अद्वैतदर्शन षडध्व प्रक्रिया के विषय में ऐकमत्य रखते हैं।

षडध्व-प्रक्रिया के विषय में द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही दर्शन पूर्णरूप से एक समान मत व्यक्त करते हैं। किन्तु शिव महापुराण भुवनों, पदों एवं मन्त्रों के विषय में एक नूतन दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जो कि उक्त दोनों दर्शनों में नहीं देखा जाता।

कुछ शाब्दिक अन्तर

इसके अतिरिक्त अन्य तात्त्विक समानताओं के रहने पर भी शिव-महापुराण में वर्णित षडध्वा का शाब्द एवं आर्थ विभाग अद्वैतवादी आगमों में

५९. देखिये—'प्रत्यभिज्ञा०' में 'जयदेवसिंह' कृत भूमिका, पृ० १७, (मोतीलाल बनारसी दास प्रकाशन)

६०. 'गुरुरुपायः' ।६। 'शिवसूत्रविम०' में उद्धृत शिवसूत्र।

६१. देखिये—महार्थमंजरी परिमल (श्लोक २७)।

६२. अनेकभेदसम्पन्नः पदाध्वा समुदाहृतः। शिव० ७, २, १७, ६।

६३. तन्त्र० ६१ पृ०, महार्थमंजरी परिमल (२७ श्लोक)।

६४. मन्त्राश्च तद्वत् आनन्त्येऽपि ब्रह्मपंचकमंशषट्कं च इति संकोचदृष्ट्या एकादश। महार्थ० २७ श्लोक, परिमलव्याख्या।

नहीं दृष्टिगोचर होता। 'महार्थमंजरी' कार ने प्रकाश एवं विमर्श रूप से यह विभाग प्रदर्शित किया है। सम्पूर्ण वाच्यवर्ग प्रकाश का परिणाम है और समग्र वाचक वर्ग विमर्श का। इस प्रकार शब्दान्तर से इन्होंने भी शिव महापुराण का ही समर्थन किया है। तन्त्रालोक, तन्त्रसार एवं त्रिपुरारहस्य आदि में शब्द एवं अर्थ रूप विभाग के स्थान पर काल एवं देश रूप विभाग को स्वीकृत किया गया है। क्रियात्मक काल रूप विभाग में वाचक वर्ग–वर्ण, पद एवं मन्त्र का तथा मूर्तिमय देशरूप विभाग में वाच्यवर्ग–कला, तत्त्व एवं भुवन का समावेश किया गया है।

पांचरात्र आगम में षडध्व विमर्श

पांचरात्र आगम की 'सात्त्वत संहिता' (१९ परिच्छेद, १९४-१९७ पृष्ठ) में संक्षेप से एवं 'लक्ष्मीतन्त्र' (१८-२२अ०). में विस्तार से षडध्व-प्रक्रिया प्रतिपादित है। वहां शब्द ब्रह्म से षडध्वा का उन्मेष बतलाया गया है। परब्रह्म का सिसृक्षाख्य (सृष्टि करने की इच्छा वाला) उद्यम ही शब्दार्थभाव से उन्मिषित होता है। उस परब्रह्म से षडध्व-भेदमय जगत् का प्रादुर्भाव होता है[६५]। पांचरात्र आगम (सात्त्वत–संहिता पृ० १९६) में वर्णाध्वा, जिसे शब्द ब्रह्म भी कहा जाता है की प्रधानता एवं अन्य अध्वाओं की गौणता प्रतिपादित की गई है।

तुलना

शिव महापुराण पराशक्ति से षडध्व का उन्मेष मानता है, अर्थात् पराशक्ति ही विभाग स्वरूपा हो षडध्व के रूप में विजृम्भित होती है, किन्तु पांचरात्र आगम के अनुसार षडध्व का उन्मेष शब्द-ब्रह्म से होता है। शिव-महापुराण में कलाओं को सर्वाधिक महत्ता दी गई है। उसमें इन्ही (कलाओं) की व्यापकता बतलाई गई है, किन्तु पांचरात्रागम में वर्णाध्वा की प्रधानता एवं अन्य की गौणता प्रतिपादित की गई है। जहाँ पर शिव महापुराण में कलाध्वा के अन्तर्गत शान्त्यतीतादि पाँच कलायें गिनाई गई हैं, वहाँ पर पाञ्चरात्र आगम में[६६] कलाध्वा के अन्तर्गत परमेश्वर के षट् गुण (ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, एवं तेज) बतलाये गये हैं[६७]। यद्यपि 'लक्ष्मीतन्त्र' (३५, १५-१६; ५३, ११-१२) में पंचकलाओं का भी समावेश है तथापि शैव-शाक्त आगम की भाँति यहाँ इनका प्रतिपादन नहीं किया गया है।

---

६५. सात्त्वत०, १९, १२७-१२८; लक्ष्मी० १८, १९-२७।

६६. देखिये—सात्त्वत० का १९ वां परिच्छेद।

६७. ल० त० २२, १५।

सप्तम अध्याय

योग

जो साधक शरीर, इन्द्रिय एवं मन के समस्त बन्धनों से रहित, शुद्ध आत्मा का दर्शन करना चाहते हैं उनके लिये योग एक महान् साधन है। आत्मोन्नति के साधनरूप में योग की महत्ता को प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने स्वीकार किया है। यहां तक कि वेद, उपनिषद्, स्मृति एवं पुराण—सभी में योगविषयक चर्चा समुपलब्ध है[1]। जब तक प्राणियों का चित्त अथवा अन्तःकरण पूर्ण स्वच्छ अथ च सुस्थिर नहीं होता तब तक वे धर्म अथवा दर्शन के वास्तविक रहस्य को नहीं जान सकते। कोई भी व्यक्ति शुद्ध हृदय एवं सुस्थिर मन से ही इन गूढ रहस्यों का पता लगाने में समर्थ हो सकता है। आत्म-शुद्धि के लिये योग ही सर्व-श्रेष्ठ उपाय है। इसके द्वारा बाह्य एवं आभ्यन्तर-उभयविध-शरीर शुद्ध हो जाता है। यही करण है कि समग्र भारतीय दर्शन केवल चार्वाक को छोड़कर) अपने-अपने सिद्धान्तों का यौगिक रीति से, ध्यान, धारणा आदि के द्वारा प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट अनुभव करने के लिये साधक को प्रेरित करते हैं।

शैव धर्म के चार पाद

शिव महापुराण में शैवधर्म के चार पाद बतलाये गये हैं - ज्ञान, क्रिया चर्या और योग[2]। पशु, पाश एवं पति का ज्ञान ही ज्ञान कहा गया है। गुरु के उपदेश के अनुसार षडध्व शुद्धि की विधि से की गई क्रिया ही 'क्रिया' है। पशुपति-शिव (परमात्म-शिव) के द्वारा विहित, वर्णाश्रमप्रयुक्त उनके (पशुपति के) अर्चनादि का अनुष्ठान ही चर्या कही गई है[3]।

योग की परिभाषा

पशुपति शिव (परमात्म-शिव) के द्वारा कथित मार्ग से अन्तःकरण की वृत्तियों को (चित्तवृत्तियों को) विषयान्तर से निरुद्ध कर, एकमात्र पशुपति शिव में ही, निश्चल रूप से लगाने की जो क्रिया है उसी का नाम योग है।

---

१. देखिये—कठोपनिषद् २, ११, १८।। श्वेताश्व० २, ८–२, ११।

२. ज्ञानं क्रिया च चर्या च योगश्चेति सुरेश्वरि।
चतुष्पादः समाख्यातो मम धर्मः सनातनः ।। शिव० ७, २, १०, ३०।

३. देखिये—वही, ७, २, १०, ३१-३२।

योग के प्रकार

योग का वर्गीकरण द्विधा किया जाता है। प्रथम वर्गीकरण के अनुसार योग पाँच प्रकार का होता है :—१. मन्त्रयोग, २. स्पर्श योग, ३. भाव योग, ४. अभाव योग, ५. महायोग। इनमें महायोग सबसे परे है।

१. मन्त्रयोग – मन्त्रों के अभ्यासवश, जो मन की वृत्ति, मन्त्र के वाच्यार्थ गोचर होकर स्थिर हो जाती है उसी का नाम मन्त्रयोग है[५]।

२, ३ स्पर्श योग एवं भावयोग –प्राणायामयुक्त उक्त मनोवृत्ति स्पर्शयोग कही जाती है। और यदि यही स्पर्शयोग मन्त्र के स्पर्श से रहित हो तो भावयोग कहा जाता है[६]।

४. अभावयोग –जिसमें सारा विश्व तिरोहित रूप हो जाता है, उसे अभाव योग कहते हैं, क्योंकि उसमें (उस अवस्था में) विद्यमान वस्तु का भी आभास नहीं रहता[७]।

५. महायोग :—जिसमें उपाधिरहित, शिवस्वभाव का ही चिन्तन किया जाता है वही मनोवृत्ति महायोग कही जाती है :-

श्लोक :—शिवस्वभाव एवैकश्चिन्त्यते निरुपाधिकः।
यथा शैवमनोवृत्तिर्महायोग इहोच्यते॥ शिव० ७, २, ३७, ११।

दूसरे वर्गीकरण के अनुसार योग त्रिधा होता है :—१. ज्ञानयोग, २. क्रियायोग, ३. भक्तियोग।

१. ज्ञानयोग :—चित्त का आत्मा के साथ संयोग ही ज्ञानयोग कहा गया है[८]।

---

४. मदुक्तेनैव मार्गेण मय्यवस्थितचेतसः।
वृत्यन्तरनिरोधो यो योग इत्यभिधीयते॥ शिव०, ७, २, १०, ३३।
निरुद्धवृत्यन्तरस्य शिवे चित्तस्य निश्चला।
या वृत्तिः सा समासेन योगः स खलु पंचधा॥ वही, ७, २, ३७, ६।
तुलना कीजिये—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। योगसूत्र।

५. मन्त्राभ्यासवशेनैव मन्त्रवाच्यार्थगोचरः।
अव्याक्षेपा मनोवृत्तिर्मन्त्रयोग उदाहृतः॥ शिव० ७, २, ३७, ८।

६. प्राणायाममुखा सैव स्पर्शयोगोऽभिधीयते।
स मन्त्रस्पर्शनिर्मुक्तो भावयोगः प्रकीर्तितः॥ वही, ७, २, ३७, ९।

७. विलीनावयवं विश्वं रूपं सम्भाव्यते यतः।
अभावयोगः संप्रोक्तोऽनाभासाद्वस्तुनः सतः॥ वही, ७, २, ३७, १०।

८. ज्ञानयोगस्तु संयोगश्चित्तस्यैवात्मना तु यः॥ वही, ५, ५१, ८।

२. भक्तियोग :—अभीष्ट देव के साथ (शिव अथवा शक्ति के साथ) आत्मा का एकीकरण ही भक्तियोग कहा गया है[९]।

३. क्रियायोग :—चित्त का बाह्यार्थसंयोग (किसी मूर्ति आदि से संयोग) ही क्रियायोग कहा गया है[१०]। शास्त्रों के अनुसार कर्म से भक्ति, भक्ति से ज्ञान एवं ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर योग पूर्व-पूर्व योग के उपकारक होते हैं। इनमें ज्ञानयोग ही सर्वश्रेष्ठ निर्दिष्ट किया गया है।

अष्टांग एवं षडंग योग

यम, नियम, स्वस्तिक आदि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये ही विद्वानों के द्वारा योग के आठ अङ्ग माने गये हैं[११]।

आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, संक्षेप में ये ही योग के षडङ्ग कहे गये हैं[१२]। इन सब का पृथक् पृथक् लक्षण, शिव-शास्त्र, शिवागम, विशेष करके 'कामिक' आदि में, योगशास्त्र तथा कुछ पुराणों में भी वर्णित है।

१. यम :—योग का प्रथम अङ्ग है यम। इसके निम्नलिखित अङ्ग हैं—(१) अहिंसा (अर्थात् किसी जीव को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना); (२) सत्य (अर्थात् किसी से किसी तरह का झूठ न बोलना); (३) अस्तेय (अर्थात् चोरी न करना); (४) ब्रह्मचर्य (अर्थात् विषयवासना की ओर न जाना); (५) अपरिग्रह (अर्थात् लोभवश अनावश्यक वस्तु का ग्रहण न करना) ये सब साधन सर्वविदित हैं, अतः इनकी विशेष व्याख्या नहीं की गई है। साधक के लिये इनका साधन अनिवार्य है, यतः मन को सबल बनाने के लिए शरीर का सशक्त बनाना अत्यावश्यक है। जो व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों पर विजय प्राप्त नहीं करते, उनका मन एवं शरीर सबल नहीं रह सकता। इसी प्रकार जब तक मानव का मन पापवासनाओं से परिपूर्ण अथ च चंचल रहता है तब तक वह किसी विषय पर चित्त एकाग्र नहीं कर सकता। अतः

९. भक्तियोगो मतो देव्या आत्मनश्चैक्यभावनम्। शिव० ५, ५१, ९।

१०. यस्तु बाह्यार्थसंयोगः क्रियायोगः स उच्यते॥ वही, ५, ५१, ८।

११. यमश्च नियमश्चैव स्वस्तिकाद्यं तथासनम्।
प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानमेव च।
समाधिरिति योगाङ्गान्यष्टावुक्तानि सूरिभिः॥ वही, ७, २, ३७, १४-१५।

१२. आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारोऽथ धारणा।
ध्यानं समाधिर्योगस्य षडंगानि समासतः॥ वही, ७, २, ३७, १६।

योग या समाधि के साधक को सभी आसक्तियों और कुप्रवृत्तियों से विरत होना आवश्यक है।

२ नियम :—योग का दूसरा अंग है नियम या सदाचार पालन। इसके निम्नलिखित अंग हैं:—(१) शौच बाह्यशुद्धि अर्थात् शारीरिक शुद्धि, जैसे स्नान और पवित्र भोजन के द्वारा तथा आभ्यन्तर शुद्धि अर्थात् मानसिक शुद्धि जैसे मैत्री, करुणा, मुदिता, आदि के द्वारा), (२) सन्तोष (अर्थात् उचित प्रयास से जितना ही प्राप्त हो उससे संतुष्ट रहना); (३) तप (जैसे सर्दी-गर्मी आदि सहने का अभ्यास, कठिनव्रत का पालन करना अदि), (४) स्वाध्याय (नियमपूर्वक धर्मग्रन्थों का अध्ययन करना; (५) ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर का ध्यान और उन पर अपने को छोड़ देना)।

३. आसन :—आसन शरीर का साधन है। इसका अर्थ है शरीर को ऐसी अवस्था में रखना जिससे निश्चल होकर सुख के साथ देर तक रह सकते हैं। आसन नाना प्रकार के होते हैं। शिवमहापुराण में आठ प्रकार के आसन बतलाये गये हैं—(१) स्वस्तिक, (२) पद्म, (३) मध्येन्दु, (४) वीर, (५) योग, (६) प्रसाधित (७) पर्यङ्क और (८) यथेष्ट[13]। इनका अभ्यास एकमात्र पुस्तकों के ही आधार पर न होकर, किसी योग्य गुरु के निर्देशन में होना चाहिये। चित्त के स्थैर्य के लिये शरीर का भी अनुशासन उतना ही आवश्यक है जितना कि मनका, यदि शरीर किसी प्रकार की व्याधि से आक्रान्त है तो समाधि लगाना बड़ा ही कठिन हो जाता है। यही कारण है कि योग सम्बन्धी वाङ्मय आरोग्य साधन के लिये बहुत से नियम निर्धारित करता है, जिससे शरीर समाधि क्रिया के योग्य बन सके। शरीर एवं मन को शुद्ध तथा सबल बनाने के लिये तथा दीर्घायुष्य के लिये ग्रन्थों में नाना प्रकार के नियम उपनियम उपदिष्ट हैं। योगासन शरीर को निरोग एवं सबल बनाये रखने के लिये उत्तम साधन हैं। इन आसनों के द्वारा सभी अङ्ग, विशेषतः स्नायुमण्डल, इस प्रकार वश में किये जा सकते हैं कि वे मन में किसी प्रकार का विकार न उत्पन्न कर सकें।

शिवमहापुराण का कथन है कि योगी जब ध्यान करने के लिये बैठे तब अपनी ग्रीवा मस्तक और वक्षःस्थल को सीधा रक्खे। ओष्ठ और नेत्र अधिक सटे हुये न हों। शिर कुछ ऊँचा हो। दाँतों से दाँतों का स्पर्श न हो[14]। दाँतों के अग्रभाग में स्थित हुई जिह्वा को अविचल भाव से रखते हुये, एड़ियों से दोनों

१३. स्वस्तिकं पद्म मध्येन्दुं वीरं योगं प्रसाधितम्।
पर्यङ्कं च यथेष्टं च प्रोक्तमासनमष्टधा ॥ शिव० ७, २, ३७, २०।

१४. ऋजुग्रीवशिरोवक्षा नातिश्लिष्टौष्ठलोचनः।
किंचिदुन्नमितशिरा दन्तैर्दन्तान्न संस्पृशेत् ॥ वही, ७, २, ३८, ५६।

अण्डकोशों और प्रजननेन्द्रिय की रक्षापूर्वक दोनों जांघों के ऊपर बिना किसी यत्न के अपनी दोनों भुजाओं को रखे। पुनः दक्षिण हस्त के पृष्ठ भाग को वामहस्त की हथेली पर रखकर धीरे से पीठ को ऊंची करे और छाती को आगे की ओर से सुस्थिर रखते हुये नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाये। अन्य दिशाओं की ओर दृष्टिपात न करें[१५]। प्राण का संचार रोक कर पाषाण के समान निश्चल हो जाय। पुनः अपने मानस-मन्दिर में सकल शिव का ध्यान करे।

किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि योगी के उपर्युक्त यौगिक आसन का विवरण देते हुये शिव महापुराण में यह निर्देश नहीं किया गया है कि स्वस्तिक, पद्म आदि आसनों में यह कौन सा आसन है। विशिष्ट मुद्राओं के कारण इसे आसनों का सामान्य नियम नहीं कहा जा सकता।

४. प्राणायाम:—स्वदेहज वायु ही प्राण कहा गया है। इसका निरोधन ही आयाम है। अर्थात् प्राणायाम का अर्थ है श्वास का नियन्त्रण। इस क्रिया के तीन अंग होते हैं—(१) पूरक, (पूरा श्वास भीतर खींचना), (२ कुम्भक (श्वास को भीतर रोकना) और (३) रेचक (नियमित विधि से श्वास छोड़ना)। प्राणायाम करने में न तो शीघ्रता करनी चाहिये और न विलम्ब ही। योग-साधक को चाहिये कि वह क्रमयोग (क्रमशः) से उद्यत होकर इसका अभ्यास करे। और हितकर तो यह होगा कि इन क्रियाओं का ज्ञान सिद्ध गुरु से ही प्राप्त किया जाय। श्वास के व्यायाम से हृदय पुष्ट होता है और उसमें बल आता है। इस बात को चिकित्सा विज्ञान भी स्वीकार करता है। किन्तु योग इससे भी आगे बढ़कर प्राणायाम को चित्त की एकाग्रता के लिये निर्देश करता है, क्यों कि इसके द्वारा शरीर एवं मन में दृढ़ता आती है। जब तक श्वास की क्रिया चलती रहती है तब तक चित्त भी उसके साथ चंचल रहता है। जब श्वास वायु की गति स्थगित हो जाती है तब मन में भी स्थिरता आ जाती है अथवा निष्पन्दता आ जाती है। इस तरह प्राणायाम के अभ्यास से योगी बहुत देर तक अपना श्वास रोक सकता और समाधि की अवधि को बढ़ा सकता है।

प्राणायाम के द्विविध भेद

प्राणायाम द्विविध होता है—अगर्भ और सगर्भ। जप एवं ध्यान के बिना किया गया प्राणायाम अगर्भ एवं जप तथा ध्यानपूर्वक किया गया प्राणायाम

१५. उन्नाम्य शनकैः पृष्ठमुरो विष्टभ्य चाग्रतः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोयन् ॥ शिव० ७, २, ३८, ५६।

सगर्भ कहा जाता है। अगर्भ की अपेक्षा सगर्भ प्राणायाम शतगुणा अधिक महत्त्वशाली बतलाया गया है। अतः योगी लोग सगर्भ प्राणायाम ही करते हैं[१६]। प्राण को वश में कर लेने पर देह के अन्य वायु भी जीत लिये जाते हैं।

शिवमहापुराण में योगविधि के गर्भ में प्राणायाम की विस्तृत महिमा गाई गई है और कहा गया है कि प्राणयाम की विधि से व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार शरीर का त्याग कर सकता है।

प्राणायाम के चार भेद

प्राणायाम के प्रसंग में कहा गया है कि रेचक आदि का अभ्यास न तो द्रुत ही होना चाहिये और न विलम्बित ही। योग के साधक को चाहिये कि वह क्रमशः इनका अभ्यास करे। यह अभ्यास वायु के स्वेच्छा उत्क्रमण (स्वाभाविक विनिर्गमन) पर्यन्त ही होना चाहिये। इस प्रकार यहाँ प्राणायाम के चार विभिन्न प्रकार बतलाये गये हैं। इनके नाम हैं—कन्यक, मध्यम, उत्तम और पर। प्राणायाम का यह विभाग मात्रा एवं गुण के विभाग के आधार पर होता है। यहाँ पर इन चारों की मात्रा आदि के विषय में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा हैः—

१. कन्यक :—

कन्यक अथवा कनिष्ठ प्राणायाम द्वादश-मात्रक एवं एक उद्घात वाला होता है। यह प्रस्वेदजनक कहा गया है अर्थात् इसके अभ्यास के समय साधक के शरीर से प्रस्वेद प्रादुर्भूत होने लगता है।

२. मध्यम :-

मध्यम प्राणायाम में दो उद्घात होते हैं। यह चतुर्विंशतिमात्रक (चौबीस मात्रावाला) कहा गया है। इसके अभ्यास के समय साधक के शरीर में कम्प होने लगता है।

३. उत्तमः—

उत्तम प्राणायाम में तीन उद्घात होते हैं। यह षट्त्रिंशत् मात्रक (छत्तीस मात्रावाला) कहा गया है। अर्थात् षट्त्रिंशत् मात्रा के काल तक इसका अभ्यास होना चाहिये। इसी प्रकार कनिष्ठ एवं मध्यम का भी अभ्यास

१६. अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः।
जपं ध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात्॥
अगर्भाद्गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः।
तस्मात् सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम्॥ शिव० ७, २, ३७, ३३-३४।

क्रमशः द्वादश एवं चतुर्विंशति मात्रा के काल तक कहा गया है। इसके अभ्यास के समय आनन्द, निद्रा, रोमांच एवं नेत्राश्रु-विमोचन होता है[17]।

४. परप्राणायाम

'पर' प्राणायाम के समय योगी को जल्प, भ्रमण एवं मूर्च्छा आदि होता है। यह कितनी मात्रा और उद्घात का होता है इसके विषय में शिव महापुराण में कोई उल्लेख नहीं है। क्रम को देखते हुए यह अष्ट चत्वारिंशत् (४८) मात्रा का होगा। इसमें उद्घात भी चार होने चाहिये[18]।

---

१७. कन्यकस्तु चतुर्द्वा स्यात् स च द्वादशमात्रकः।
मध्यमस्तु द्विरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः॥ शिव० ७, २, ३७, २८।
उत्तमस्तु त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशन्मात्रकः परः। वही, ७, २, ३७, २९।
(क) तुलना कीजिये—कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत्॥ हठ,० २, श्लो० १२।
(ख) तुलना कीजिये—प्राणायामस्य मानं तु मात्रा द्वादशकं स्मृतम्।
नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्घात ईरितः।
मध्यमस्तु द्विरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः।
मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते॥
प्रस्वेदकम्पनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम्। लिंग०, हठ०, २, १२, की टीका से।
(ग) तुलना कीजिये—सकृदुद्घातः स वै द्वादशमात्रिकः।
मध्यमश्च द्विरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः॥
उत्तमश्च त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशत्तालमात्रिकः।
स्वेदकम्पाभिघातानां जननश्चोत्तमोत्तमः॥ अग्नि०, ३७३, ११
(घ) तुलना—मन्दो द्वादशमात्रस्तु मात्रालघ्वक्षरा मता।
मध्यमो द्विगुणः पूर्वादुत्तमस्त्रिगुणस्ततः।
स्वेदकंपविषादं च जनयेत् क्रमशस्त्वसौ। काशी०, ४१, ७६-७७।

१८. जल्पभ्रमणमूर्च्छाद्यं जायते योगिनः परम्। शिव० ७, २, ३७, ३०।
टिप्पणीः—अग्निपुराण, लिङ्गपुराण, हठयोग प्रदीपिका एवं गोरक्षनाथ (इनके मत का उल्लेख हठयोग-प्रदीपिका के उपदेश २, श्लोक १२ की टीका में हुआ है) आदि के मत से प्राणायाम के कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम ये तीन ही भेद हैं, किन्तु शिव महापुराण प्राणायाम के उक्त तीनों भेदों से पूर्ण सहमत होते हुये भी उनमें एक और 'पर' नामक भेद जोड़ता है; किन्तु इसकी मात्रा और उद्घात का इसमें उल्लेख नहीं हुआ है।

'क'-मात्रा

शिव महापुराण के अनुसार मात्रा का वही काल है जितनी देर में जानु की प्रदक्षिणा कर (जानु के चतुर्दिक् हाथ घुमा कर) अंगुलिस्फोटन (चुटकी बजाना) किया जाता है। इस क्रिया में न तो शीघ्रता करनी चाहिए और न विलम्ब ही[१९]।

(ख) उद्घातः—

जब उत्सर्पमाण (ऊपर उठने वाले) प्राण के द्वारा अपान वायु पीडित होकर ऊपर की ओर चढ़ता है और वहाँ से पुनः निवर्तित होता है तो वही

---

१९. जानुं प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम्।
अंगुलिस्फोटनं कुर्यात्सा मात्रेति प्रकीर्तिता ।। शिव० ७, २, ३७, ३१ ।

टिप्पणी:—अग्नि पुराण के अनुसार मात्रा तालमात्रिक, अर्थात् एक ताल बजाने के काल की होती है:—

श्लोक:—उत्तमश्च त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशत्तालमात्रिकः । ३७३, ११ ।

किन्तु याज्ञवल्क्य के अनुसार मात्रा का काल इससे भी बड़ा होता है, उनके अनुसार जो समय तीन बार अंगुष्ठाङ्गुलिमोक्ष (चुटकी बजाना), तीन बार जानुपरिमार्जन तथा तीन ताल बजाने में लगता है वही मात्रा है:—

श्लोक: — अङ्गुष्ठाङ्गुलिमोक्षं त्रिस्त्रिर्जानुपरिमार्जनम्।
तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते ।। याज्ञ० ।

स्कन्दपुराण में मात्रा के विषय में दो मत उल्लिखित किये गये हैं। प्रथम मत के अनुसार मात्रा एक श्वासमयी कही गई है—'एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामो निगद्यते' (काशीखण्ड, ४१, ६०)। द्वितीय मत के अनुसार जानु की प्रदक्षिणा करके चुटकी बजाने (छोटिका) का जो काल है वही मात्रा कही गई है, किन्तु इस क्रिया में न तो शीघ्रता होनी चाहिये और न विलम्ब ही :—'जानुं प्रदक्षिणीकुर्यान्न द्रुतं न विलम्बितम्। प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते। (हठयोगप्रदीपिका, २, श्लो० १२ की टीका से)।

योगचिन्तामणि में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सुप्त पुरुष का श्वास जितने काल में जाता एवं आता है वही काल प्राणायाम की मात्रा कही गई है। (हठयोगप्रदीपिका के उक्त स्थल से)।

इस प्रकार मात्रा के विषय में शिवमहापुराण का ही वचन, बहुमत सम्मत होने के कारण, प्रमाणभूत जान पड़ता है। इस तरह छोटिकावच्छिन्न (चुटकी बजाने का) काल ही मात्रा का परिमाण है।

उद्घात कहा जाता है। यही उद्घात का लक्षण है[२०]।

प्रस्वेद आदि आभ्यन्तर के उपलक्षक

प्राणायाम के समय प्रादुर्भूत प्रस्वेद, कम्प एवं जल्प, मूर्च्छा आदि लक्षणों से योगी के अन्तःकरण के भाव परिलक्षित होते हैं।

अन्य वायु का विवरण

प्राणायाम के विश्लेषण को आगे बढ़ाते हुये कहा गया है कि "प्राण" के जीत लिये जाने पर प्राण (अर्थात् प्राण के भेद एवं उपभेद, अपान, समान, उदान एवं व्यान नामक देह वायु) स्वयं जीत लिये जाते हैं[२१]। प्राण के अन्तर्गत ही नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनंजय नामक पंचवायु, समाहित होते हैं और ये प्राण के विभिन्न कार्यों का सम्पादन करते हैं। प्रयाण (शीघ्र गति) करने के कारण ये प्राण कहे जाते हैं। जो कुछ आहारादिक खाया जाता है, उसे अवाङ् नयन (नीचे ले जाने) के कारण ही वायु को अपान वायु कहते हैं। व्यान उस वायु को कहते हैं जो सम्पूर्ण अंगों का व्याप्त एवं वर्धित करता है। मर्म स्थानों को उद्वेजित (To affect) करने वाले वायु को "उदान" एवं सम्पूर्ण अंगों में समान रूप से रक्त आदि का संचार करने वाले वायु को समान कहते हैं[२२]।

क्रमशः अभ्यास किया जाता हुआ यह प्राणायाम सम्पूर्ण दोषों को विनष्ट कर कर्ता (योगी) के शरीर की रक्षा करता है। जिसने प्राणों को सम्यक् रूप से विजित कर लिया है उसके शरीर में विष्ठा, मूत्र और श्लेष्मा का अल्पभाव

---

२०. प्राणेनोत्सर्पमाणेन अपानः पीड्यते यदा।
गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्घातलक्षणम् ॥ हठयोग० २, श्लोक० १२ की टीका से।

२१. प्राणस्य विजयादेव जीयन्ते देहवायवः।
प्राणोऽपानः समानश्च ह्युदानो व्यान एव च ॥ शिव० ७, २, ३७, ३५।

२२. नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः।
प्रयाणं कुरुते यस्मात्तस्मात्प्राणोऽभिधीयते ॥
अवाङ्नयत्यपानाख्यो यदाहारादि भुज्यते।
व्यानो व्यानशयत्यंगान्यशेषाणि विवर्धयन् ॥
उद्वेजयति मर्माणीत्युदानो वायुरीरितः।
समं नयति सर्वाङ्गं समानस्तेन गीयते ॥ शिव० ७, २, ३७, ३६-३८।

हो जाता है और उसके भोजन का सामर्थ्य बढ़ जाता है। उसका शरीर लघु हो जाता है उसमें शीघ्रगामिता एवं उत्साह आ जाता है। उसका स्वर सौष्ठव पूर्ण हो उठता है। उस योगी के सम्पूर्ण रोग विनष्ट हो जाते हैं। उसमें बल, तेज, सुरूपता, धृति, मेधा युवत्व, स्थिरता तथा प्रसन्नता आ जाती है। तपस्या, पापक्षीणता, यज्ञ, दान, व्रतादि ये सभी मिलकर भी प्राणायाम की षोडशी कला की तुलना भी नहीं कर सकते हैं।

५. प्रत्याहार :—

सांसारिक वस्तुओं में लगे हुये मन का प्रत्यावर्तन ही प्रत्याहार कहा गया है, अर्थात् प्रत्याहार का अर्थ है इन्द्रियों को अपने अपने बाह्यविषयों से खींच कर हटाना और उन्हें मन के वश में रखना। जब इन्द्रियाँ पूर्णतः मन के वश में आजाती हैं तब वे अपने स्वाभाविक विषयों से हटकर मन की ओर लग जाती हैं। इस अवस्था में, आंख, कान के सामने सांसारिक विषयों के रहते हुये भी हम उन्हें देख सुन नहीं सकते। रूप, रस, गन्ध, शब्द या स्पर्श का कोई भी प्रभाव मन पर नहीं पड़ता। यह अवस्था बहुत ही कठिन है, तथापि असंभव नहीं। एतदर्थ अत्यन्त दृढसंकल्प ओर घोर इन्द्रिय निग्रह की साधना आवश्यक है।

६. धारणा

संक्षेप में चित्त का स्थानबन्ध ही धारणा है। चित्त को स्थिरता पूर्वक लगाने के लिये एकमात्र परमात्म-शिव ही स्थान हैं, दूसरा कोई नहीं है। क्योंकि शिवातिरिक्त सभी वस्तुयें दोषत्रयात्मक हैं। धारणा से मन में स्थैर्य उत्पन्न होता है। अतः धारणा के अभ्यास से मन को धीर करना चाहिये। यही योग की असल कुञ्जी है। इसी को सिद्ध करने वाला समाधि अवस्था तक पहुँच सकता है[२३]। धारणा को उचित अवस्था में मन एकक्षण के लिए भी अपने लक्ष्य शिव, से विचलित नहीं होता है।

७. ध्यान :—

'ध्यै' चिन्तायां, अर्थात् चिन्तार्थक 'ध्यै' धातु से ध्यान शब्द की निष्पत्ति हुई है। अतः अव्याक्षिप्त मन से शिव-विषयक, मुहुर्मुहुः चिन्ता का ही नाम ध्यान है। ध्येयमें अवस्थित चित्त का प्रत्ययान्तर रहित सदृश प्रत्यय (अपने को

---

२३. धारणा नाम चित्तस्य स्थानबन्धः समासतः। शिव०, ७, २, ३७, ४८।

तुलना—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा, योगसूत्र।

शिव समान मानना) ही ध्यान कहा गया है [२४]। इस संसार में सब कुछ छोड़ कर देवाधिदेव शिव ही परम ध्येय (ध्यान करने योग्य) कहे गये हैं।

ध्यान के द्वारा विषय का सुस्पष्ट ज्ञान हो जाता है। पहले भिन्न-भिन्न अंशों या स्वरूपों का बोध होता है, तदनन्तर अविराम ध्यान के द्वारा सम्पूर्ण चित्र सामने आ जाता है और उस वस्तु के असली रूप का दर्शन हो जाता है। इस तरह योगी के मन में ध्यान के द्वारा ध्येय वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाता है।

ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान का प्रयोजन, इन चारों बातों को जानकर ही योग वेत्ता को योगाभ्यास करना चाहिये। ध्यान करने वाले पुरुष को ज्ञानवैराग्यसंपन्न, श्रद्धालु, क्षमावान्, निर्मम एवं सदा उत्साही होना चाहिये। जप से श्रान्त होने पर ध्यान करना चाहिये और ध्यान से श्रान्त होने पर पुनः जप करना चाहिये। इस प्रकार जप एवं ध्यान में लीन रहने वाले व्यक्ति को शीघ्र ही योग की सिद्धि होती है।

परमात्म-शिव का तत्तत्स्थानों में आसन एवं ध्यान

साधक को नासाग्र, नाभि, कण्ठ, तालुरन्ध्र, भ्रूमध्य, ललाट, मूर्द्धा आदि स्थानों में कमलासन पर विराजमान शिव एवं शक्ति की कल्पना कर उनका ध्यान करना चाहिये। उनका परमासन सावरण तथा निरावरण भी होता है। परमात्म-शिव का यह कमलासन द्विदल, षोडशार, द्वादशार, दशार, षडस्त्र अथवा चतुरस्र होना चाहिये। भ्रू (भौंह) के मध्य का कमलासन द्विदल एवं विद्युत को भाँति उज्ज्वल होना चाहिये। इसी प्रकार से अन्य, विभिन्न रूप से पत्रसंख्या वाले, कई कमलासनों की कल्पना की गई है यहाँ यह भी स्मरणीय है कि इन कमलों के पर्ण मूल से लेकर अवसान तक वर्ण (ककारादि अक्षर) से अंकित होने चाहिये, अर्थात् ये अक्षर ही उन कमलों के पर्ण रूप में कल्पित होने चाहिये। किसी कमलासन पर ककरादि टकारान्त वर्ण होने चाहिये तो किसी पर डादि फान्त वर्णों का उल्लेख कल्पित होना चाहिये। इसी प्रकार बहुत सी विधियाँ वहाँ लिखी हैं।

---

२४. अव्याक्षिप्तेन मनसा ध्यानं नाम तदुच्यते ।
ध्येयावस्थितचित्तस्य सदृशः प्रत्ययश्च यः ॥ शिव० ७, २, ३७, ५२।
प्रत्ययान्तरनिर्मुक्तप्रवाहो ध्यानमुच्यते ।
सर्वमन्यत् परित्यज्य शिव एव शिवङ्करः ॥ वही, ७, २, ३७, ५३।
तुलना कीजिये—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' ॥ योगसूत्र ।

षट्चक्र

कैलाससंहिता के अनुसार ऊपर निर्दिष्ट कमलासनों की संख्या छह है। इन्हीं को षट्चक्र भी कहते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान, (३) मणिपूरक, (४) अनाहत, (५) विशुद्ध और (६) आज्ञा-चक्र[२५]। ये षट्चक्र विद्युत् कोटि के समान प्रकाशनमान, सर्वतेजोमय एवं उत्कृष्ट बतलाये गये हैं। इन्हीं के बीच सच्चिदानन्दविग्रह, परमात्म-शिव का ध्यान करना चाहिये।

यहाँ इन षट्चक्रों का विवरण, जो कि शिव महापुराण में सूत्र रूप से निर्दिष्ट है, ग्रन्थान्तर की सहायता से किंचिद् विस्तार के साथ दिया जा रहा है। इससे शिवमहापुराण के अभिप्राय को समझने में पर्याप्त सहायता मिलेगी।

(१) मूलाधार

सुषुम्णा नाडी के मुखभाग से संलग्न, लिंगमूल के नीचे, गुदा के ऊपर, मूलाधार पद्म की स्थिति होती है। इस कमल के सुवर्णाभ, चार, व, श, ष, स, वर्णरूप पत्र बतलाये गये हैं[२६]। वर्णों की स्थिति दक्षिणावर्त रूप से कल्पित की गई है[२७]। यहाँ पर शिशुरूप चतुर्भुज ब्रह्मा के ध्यान का विधान किया गया है[२८]। इस चक्र में स्वयम्भु नामक शिवलिंग की स्थिति बतलाई गई है। यहाँ डाकिनी नामक शक्ति पंकजाधिप के रूप में निर्दिष्ट है। अन्य चक्रों के मूलाधार होने के कारण इसे मूलाधार चक्र कहते हैं।

(२) स्वाधिष्ठान

इस पद्मासन की कल्पना लिङ्गमूल स्थान में की गई है। यह सिन्दूर-वर्णाभ बतलाया गया है। इसकी स्थिति सुषुम्णा नाडी के मध्य में है। इसके

२५. मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं षट्चक्रं परिचिन्तयेत् ।
विद्युत्कोटिसमप्रख्यं सर्वतेजोमयं परम् ॥ शिव० ६, ४, ७ ।
तन्मध्ये चिन्तयेन्मां च सच्चिदानन्दविग्रहम् । वही, ६, ४, ८ ।

२६. आधारपद्मं सुषुम्णास्यलग्नं ध्वजाधो गुदोर्ध्वं चतुःशोणपत्रम् ।
अधोवक्त्रमुद्यत् सुवर्णाभवर्णैर्वकारादिसान्तैर्युतं वेदवर्णैः ॥ षट्चक्र० ।

तुलना कीजिये—मूलाधारारविन्दस्य हेमाभस्य यथाक्रमम् ।
वकारादिसकारान्ता वर्णाः पर्णमयाः स्थिताः ॥ वही, ७, २, ३८, ६९ ।

२७. सर्ववर्णात्मकं पत्रं पद्मानां परिकीर्तितम् ।
दक्षिणावर्तयोगेन लिखितं चिन्तयेद्धिया ॥ षट्चक्र०, श्लो० ४ की टीका में उद्धृत "विश्वासतन्त्र" का वचन ।

तुलना—पूर्वादीनि क्रमाद् ....॥ शिव० ७, २, ३८, ६६ ।

२८. सदा शिवान्ता ब्रह्माद्या ....॥ वही, ७, ३८ ७४ ।

बिजली की भाँति चमकीले षट्-ब, भ, म, य, र, ल-वर्ण पत्र के रूप में कल्पित हैं। यहाँ पर युवा विष्णु के ध्यान का विधान किया गया है। इस कमल की शक्ति का नाम है "राकिणी"[२९]।

(३) मणिपूरक :–

स्वाधिष्ठान के ऊपर, नाभि के मूल में, मणिपूरक-कमलासन की स्थिति बतलाई गई है। इसका वर्ण मेघ की कान्तिवाला है अर्थात् मेघ की भांति यह श्याम वर्ण का है। इसमें दश—ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ—वर्ण रूप-पत्रों की कल्पना की गई है। इसमें वृषारूढ, रक्तवर्ण, द्विभुज, भस्मलेपन एवं शुक्लाभरण से धवलशरीर वाले, वृद्ध, रुद्र का ध्यान करना चाहिये। यहाँ की शक्ति का नाम 'लाकिनी' है[३०]।

(४) अनाहत

इसे हृदय-कमल भी कहते हैं, क्योंकि इसकी स्थिति हृदय में बतलाई गई है। यहाँ पर अनाहतशब्द (शुद्ध ब्रह्ममय) का साक्षात्कार होता है, अतः इसे अनाहत कहते हैं[३१]। हृत्पद्म बन्धूक पुष्प के वर्ण का बतलाया गया है। इसके द्वादशवर्ण—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ—पत्र के रूप में कल्पित हैं। इस पद्म में हंसाभ, द्विभुज, त्रिनेत्र, ईश का ध्यान करना चाहिए। इसकी शक्ति का नाम है 'काकिनी'।

---

२९. सिन्दूरपूररुचिरारुणपद्ममन्यत् सौषुम्णमध्यघटितं ध्वजमूलदेशे।
अङ्गच्छदैः परिवृतं तडिदाभवर्णैर्बाद्यैः सबिन्दुलसितैश्च पुरन्दरान्तैः ॥
षट्चक्र० १४।

तुलना—दशारे वा षडस्रे वा चतुरस्रे शिवं स्मरेत्। शिव० ७, २, ३८, ६४।

३०. तस्योर्ध्वे नाभिमूले दशदललसिते पूर्णमेघप्रकाशे नीलाम्भोजप्रकाशैरुपहितजठरे डादिफान्तैः सचन्द्रैः ॥ षट्चक्र० १९॥
ध्यायेन्मेषाधिरूढं नवतपननिभं वेदबाहूज्ज्वलांगं तत्क्रोडे रुद्रमूर्तिर्निवसति सततं शुद्धसिन्दूररागः। षट्चक्र० २०॥

तुलना—दशारे वा षडस्रे वा चतुरस्रे शिवं स्मरेत्। शिव० ७, २, ३८, ६४।
गोक्षीरधवलस्योक्ता डादिफान्ता यथाक्रमम्। वही, ७. २, ३८, ६८।

टिप्पणी—इससे प्रतीत होता है कि पुराणकार को मणिपूरक पद्म का रंग धवल अभीष्ट है।

३१. षट्चक्र०, श्लो० २२ से २७ तक।

तुलना—ककारादिठकारान्ता वर्णाः पर्णान्यनुक्रमात्।
भानुवर्णस्य पद्मस्य ध्येयं तद्धृदयान्तरे ॥ शिव० ७, २, ३८, ६७।

(५) विशुद्ध चक्र

विशुद्ध चक्र की स्थिति कण्ठदेश में बतलाई गई है। जीव की विशुद्धि का विस्तार करने के कारण ही इसे विशुद्ध चक्र कहा गया है। विशुद्ध पंकज का वर्ण धूम्र बतलाया गया है। सम्पूर्ण अकारादि विसर्गान्त षोडश स्वर इसके पत्र कहे गये हैं। यहां अर्द्धनारीश्वर, हिमाभ, शुक्लवर्ण, त्रिनेत्र, पंचमुख, दशभुज, व्याघ्रचर्म से आच्छन्न, परमात्म-शिव का ध्यान विहित है। इसकी शक्ति का नाम 'शाकिनी' है[३२]।

(६) आज्ञाचक्र

इस चक्र की स्थिति दोनों भ्रुकुटियों के मध्य में बतलाई गई है। यहीं से भ्रुकुटियों को प्रेरणा प्राप्त होती है, अतः इसे आज्ञा चक्र कहते हैं[३३]। इस कमल का वर्ण चन्द्रमा की भांति शुक्ल बतलाया गया है। इसके विद्युत् के समान वर्ण वाले दो वर्ण—ह, क्ष—पर्ण के रूप में कल्पित किये गये हैं। इसमें परमात्म-शिव (सशक्तिक शिव) निवास करते हैं, अतः उनका ध्यान करना चाहिये। यहीं पर परमात्म-शिव से नीचे सूक्ष्मरूप मन और इसके भी नीचे विद्युदाकार, प्रणवाकृति, प्रदीपाभज्योति, अपने तेज से मूलादि ब्रह्मरन्ध्र तक का प्रकाशक अन्तरात्मा रहता है। चक्राधिप शक्ति का नाम है 'हाकिनी'[३४]।

उपर्युक्त कमलासनों में जहाँ भी मन अभिरत हो जाय वहीं पर बुद्धि को शान्त करके देव एवं देवी का अर्थात् सशक्तिक शिव का ध्यान करना चाहिये[३५]।

ध्यान का क्रम

योग मार्ग पर आगे की ओर बढ़ने के लिये यह आवश्यक है कि ध्यान-कर्ता शिवशास्त्र में विनिश्चित विभिन्न प्रकार की स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं

---

३२. षट्चक्र० ३२ से ३८ तक।

तुलना—षोडशारस्य पत्राणि स्वराः षोडश तानि वै।

पूर्वादीनि क्रमादेतत् पद्मं कन्दस्य मूलतः ।। शिव० ७, २, ३८, ६६ ।।

३३. आज्ञासंक्रमणं तत्र भ्रुवो राज्ञेति कीर्तितम्। षट्चक्र०, श्लो० ३२ की टीका से।

३४ षट्चक्र० श्लोक, ३२ से ३८ तक।

तुलना—भ्रुवोरन्तरतः पद्मं द्विदलं तडिदुज्ज्वलम्।

भ्रूमध्यस्थारविन्दस्य क्रमाद्वै दक्षिणोत्तरे।

विद्युत्समानवर्णे च पर्णे वर्णावसानके ।। शिव० ७, २, ३८, ६५।

३५. एतेष्वरविन्देषु यत्रैवाभिरतं मनः।

तत्रैव देवं देवीं च चिन्तयेद्धीरया धिया ।। वही, ७, २, ३८, ७६।

सूक्ष्मतम शिव की मूर्तियों का पहले ध्यान करे। ध्यान का यह क्रम उत्तरोत्तर सूक्ष्मावस्था की ओर बढ़ता है। ये मूर्तियां चारों ओर से दीप्यमान, शुद्धदीप-शिखाकार, अपनी शक्ति से पूर्णमण्डित, अंगुष्ठमात्र, अथवा इन्दुरेखा-समाकार अथवा तारारूप अथवा नीवार शूकशद्दश (तिन्नी धान की नोक की तरह), विससूत्राभ (कमल-दण्ड के सूत की तरह आभावाला) अथवा कदम्ब-गोलकाकार अथवा तुषारकणिकासदृश होनी चाहिये। ब्रह्मादि सदाशिवान्त, जैसा कि तत्तत् चक्रनिरूपण के प्रसङ्ग में बतलाया गया है, अथवा भव आदि शिव की अष्ट-मूर्तियां भी पहले ध्यान का विषय हो सकती हैं, क्योंकि ये भी परमात्म–शिव की स्थूल-मूर्तियां ही कही गई हैं। मन की स्थिरता के लिये, कुछ लोग, स्थूल ध्यान करते हैं। जब मन स्थूल वस्तु पर निश्चल हो जाता है तब वह सूक्ष्म पर स्थिर होता है। अतः साधक को सर्वप्रथम स्थूल लक्ष्य पर ही मनको लगाना चाहिये।

सविषय एवं निर्विषय ध्यान

इस प्रकार आदि में ध्यान सविषय (With an object) होना चाहिए। सविषय ध्यान में प्रवीण होने पर निर्विषय (Objectless) ध्यान का अवलम्बन करना चाहिए[३६]। किन्तु शिव महापुराण का कहना है कि विद्वान् पुरुषों का मत तो यही है कि "निर्विषय ध्यान" होता ही नहीं[३७]। ध्यान के विषय में कहा गया है कि बुद्धि की कोई सन्तति (Stretching out) ही है, जिसे ध्यान कहा जाता है[३८]। अतः निर्विषयक ध्यान में केवल बुद्धि ही प्रवर्तित (प्रवाहित) होती है[३९]।

परमार्थतः जिसे निर्विषय ध्यान कहा जाता है वह सूक्ष्माश्रय ध्यान ही है न कि निर्विषय। अथवा परमात्म-शिव के किसी विशेष रूप का आश्रयण कर किया गया ध्यान सविषय एवं निराकारात्मसंवित्ति (Extension of the knowledge of self) ही निर्विषय ध्यान कहा गया है। यही सविषय एवं निर्विषय ध्यान क्रमशः सबीज एवं निर्बीज ध्यान भी कहा गया है।

ध्यान का महत्त्व

प्राणायाम से शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति एवं प्रसाद तथा शम की उपलब्धि होती है। ध्यान एवं प्राणायाम के परिणामस्वरूप मन एकदम निर्मल हो जाता है

३६. ध्यानमादौ सविषयं ततो निर्विषयं जगुः ।। शिव० ७, २, ३९, ४।
३७. तत्र निर्विषयं ध्यानं नास्तीत्येव सतां मतम्। वही, ७, २, ३९, ५।
३८. बुद्धेर्हि सन्ततिः काचिद्ध्यानमित्यभिधीयते ।। वही, ७, २, ३९, ५।
३९. तेन निर्विषया बुद्धिः केवलेह प्रवर्तते। वही, ७, २, ३९, ६।

और शिव सम्बन्धी विचार मुहुर्मुहुः इसमें तरंगित होने लगते हैं। जैसा पहले भी कहा गया है कि 'ध्यान' अन्य कुछ न होकर केवल बुद्धिप्रवाह रूप ही है। उक्त ध्यान के एकमात्र अवलम्बन ध्येय, स्वयं शम्भु शिव ही, विद्वानों के द्वारा कहे गये हैं[४०]। ध्यान के द्वारा प्रसन्नता और मोक्ष दोनों ही प्राप्त होते हैं। अतः कल्याणार्थी को अवश्य ही ध्यान के अवलम्बन का प्रयत्न करना चाहिये। इस संसार में ध्यान से अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरी वस्तु नहीं है। ध्यान करने वाले साधक परमात्म-शिव को बहुत अधिक प्रिय हैं अपेक्षा उनके जो कि केवल धार्मिक कृत्य का ही संपादन करते हैं अर्थात् अन्य धार्मिक कृत्यों की अपेक्षा-ध्यान बहुत श्रेष्ठ है। अतः शिव महापुराण का मत है कि निःश्रेयस्-सिद्धि के लिये प्राणी अवश्य ध्यान करे[४१]।

८. समाधि

योग साधन की अन्तिम सीढ़ी है समाधि। समाधि से सर्वत्र प्रज्ञालोक (Intuitive wisdom) प्रवर्तित होता है[४२]। समाधि में अर्थमात्र (ध्येय-मात्र) का अभास होता है। उस समय अपने स्वरूप का बिलकुल ही भान नहीं होता तथा योगी की स्थिति एकदम स्तिमित उदधि के समान होती है[४३]। समाधिस्थ योगी न कुछ सुनता है, न किसी वस्तु का आघ्राण करता है। वह न तो बोलता और न देखता ही है। उसे किसी भी स्पर्श का ज्ञान भी नहीं होता और न तो उसका मन संकल्प एवं विकल्प ही करता है। वह अभिमान भी नहीं करता। उसकी स्थिति पूर्णरूप से काष्ठवत् होती है। इस प्रकार से परमात्म-शिव में आत्मा का विलीनीकरण ही समाधिस्थ होना है[४४]।

जिस प्रकार निर्वात् स्थान में स्थापित दीपक कभी भी स्पन्दित नहीं होता उसी प्रकार समाधिनिष्ठ व्यक्ति भी उससे विचलित नहीं होता। इस प्रकार से उत्तम योग का अभ्यास करने वाले योगी के सम्पूर्ण विघ्न शनैः-शनैः विनष्ट हो जाते हैं।

---

४०. बुद्धिप्रवाहरूपस्य ध्यानस्यास्यावलम्बनम्।
ध्येयमित्युच्यते सद्भिस्तच्च शम्भुः स्वयं शिवः। शिव०, ७, २, ३९, १९।

४१. नास्ति ध्यानसमं तीर्थं नास्ति ध्यानसमं तपः।
नास्ति ध्यानसमो यज्ञस्तस्माद्ध्यानं समाचरेत्॥ वही, ७, २, ३९, २८।

४२. समाधिर्नाम योगांगमन्तिमं परिकीर्तितम्।
समाधिना च सर्वत्र प्रज्ञालोकः प्रवर्तते॥ वही, ७, २, ३७, ६१।

४३. यदर्थमात्रनिर्भासं स्तिमितोदधिवत् स्थितम्।
स्वरूपशून्यवद्भानं समाधिरभिधीयते॥ वही, ७, २, ३७, ६२।

४४. एवं शिवे विलीनात्मा समाधिस्थ इहोच्यते॥ वही, ७, २, ३७, ६५,।

योगगत विघ्नों पर विजय आवश्यक है

यहाँ यह भी ध्यान देना है कि जब योगी योग का अभ्यास प्रारंभ करता है तब उसके मार्ग में बहुत से विघ्न उत्पन्न होकर उसे मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसी अवस्था में उनको विना वश में किये उद्देश्य-सिद्धि असम्भव है। अतः उनपर विजय प्राप्त करना योगी के लिये अनिवार्य है।

सामान्य विघ्न

योग में उत्पन्न होने वाले कुछ विघ्न ये हैं :- आलस्य, तीव्र व्याधियां, प्रमाद स्थानसंशय (ध्येयसन्देह), अनवस्थितचित्तत्व, अश्रद्धा, भ्रान्ति-दर्शन, दुःख, दौर्मनस्य, विषयों की ओर आकर्षण। ये दश योगाभ्यासी के लिए अन्तराय कहे गये हैं। आलस्य दैहिक एवं चित्तसम्बन्धी द्विविध होता है। दोष (सम्भवतः आलस्य) धातु-वात, पित्त, कफ-के वैषम्य से उत्पन्न होता है और व्याधियां कर्मदोष से उत्पन्न होती हैं[४५]।

योग साधना के उपायों का उपयोग न करना ही प्रमाद है। ध्येय के विषय में संशय होना ही स्थानसंशय कहा गया है। मन की अप्रतिष्ठा अनवस्थिति कही गई है। योगमार्ग में, भावरहित वृत्ति ही अश्रद्धा कही गई है। विपर्यस्त मति का ही नाम भ्रान्ति है। अज्ञान से उत्पन्न होने वाला, चित्त सम्बन्धी दुःख, आध्यात्मिक दुःख कहा गया है। पुराकृत कर्मों के परिणामस्वरूप शारीरिक दुःख ही आधिभौतिक दुःख कहा गया है। वज्र, अग्नि एवं विषादि से उत्पन्न होने वाला दुःख आधिदैविक दुःख कहा गया है[४६]।

इच्छा के विघात से उत्पन्न होने वाला क्षोभ ही दौर्मनस्य कहा गया है। विचित्र विषयों में विभ्रम होना ही लोलता है।

सिद्धि-सूचक विघ्न

इन विघ्नों के शान्त होने पर योगासक्त योगी के मार्ग में सिद्धिसूचक दिव्य उपसर्ग प्रवर्तित होते हैं अर्थात् सिद्धिसूचक अन्य विघ्न उपस्थित होते हैं[४७]। ये विघ्न निम्न हैं : -प्रतिभा, श्रवण, वार्ता, दर्शन, आस्वाद, वेदना। ये षड् (छः) उपसर्ग योग के व्यय के लिये हुआ करते हैं।

१ प्रतिभा :—सूक्ष्म, व्यवहित, अतीत, विप्रकृष्ट, अनागत वस्तुओं का यथातथ प्रतिभास (ठीक-ठीक प्रतीति) ही प्रतिभा कही जाती है। एक स्थान

---

४५. धातुवैषम्यजा दोषा व्याधयः कर्मदोषजाः ॥ शिव०, ७, २, ३८, ३।

४६. वही, ७, २, ३८, ७॥

४७. शान्तेष्वेतेषु विघ्नेषु योगासक्तस्य योगिनः।
उपसर्गाः प्रवर्तन्ते दिव्यास्ते सिद्धिसूचकाः॥ वही, ७, २, ३८, ६।

पर बैठा योगी अपनी प्रतिभा के बल पर संसार के किसी भी स्थान पर वर्तमान किसी भी वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

२. श्रवण :- श्रवण के द्वारा बिना प्रयत्न के ही सम्पूर्ण शब्दों का श्रवण होता है।

३. वार्ता :—वार्ता के माध्यम से संसार के सम्पूर्ण प्राणियों के विषय की बातें ज्ञात होती हैं।

४. दर्शन :—दर्शन के द्वारा प्रयत्न के बिना ही दिव्य वस्तुओं का दर्शन होता है।

५. आस्वाद :—आस्वाद के द्वारा, विना प्रयत्न के ही, दिव्य रसों का आस्वाद होता है।

६. वेदना :—संसार के सम्पूर्ण दिव्य गन्ध एवं दिव्य वस्तुओं के स्पर्श का ज्ञान वेदना के द्वारा होता है।

इस प्रकार योगी सम्पूर्ण आश्चर्यजनक शक्तियों को प्राप्त करता है, एवं अपनी इच्छानुसार संसार के सभी पदार्थों पर पूर्ण अधिकार रखता है[४८]।

इस तरह शिव महापुराण में योगियों की बहुत सी दिव्य सिद्धियां वर्णित हैं। उनका वर्णन अत्यधिक विस्तृत एवं अनावश्यक होने के कारण यहां नहीं किया जा रहा है। ये सिद्धियां, जिन्हें शिव महापुराण में उपसर्ग की संज्ञा दी गई है, योगी को योग से, महायोग से, जिसे शिवतादात्म्य कहते हैं, की ओर बढ़ने में बाधक होती हैं। इनके प्रलोभन में पड़कर साधक अपने चरम लक्ष्य से वंचित रह जाता है। यही कारण है कि योगदर्शन (पुराणवर्णित एवं पातंजल योगदर्शन) का कड़ा आदेश है कि साधक इन सिद्धियों के लोभ में कभी भी न पड़े। जो इन सिद्धियों को तृण के समान समझ कर इनका परित्याग कर देता है, उसे ही परायोगसिद्धि की प्राप्ति होती है[४९]। योग का लक्ष्य मुक्ति-प्राप्ति है। साधक को अलौकिक ऐश्वर्यों की चकाचौंध में नहीं पड़ना चाहिये, नहीं तो वह पथभ्रष्ट हो जाता है। साधक को चाहिये कि वह सिद्धियों के फेर में न पड़कर आगे बढ़ता जाय और अन्तिम लक्ष्य (पूर्ण मुक्ति) तक पहुँच जाय।

---

४८. पातंजल योगदर्शन में—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व, यत्रकामावसायित्व—ये अष्ट सिद्धियां योगविघ्नकारिणी बतलाई गई हैं।

४९. तस्माद् गुणांश्च भोगांश्च देवासुरमहीभृताम्।
तृणवद्यस्त्यजेत्तस्य योगसिद्धिः परा भवेत्॥ शिव० ७, २, ३८, ४४।

योग का अधिकारी

जिस व्यक्ति का मन दृष्ट एवं आनुश्रविक (वेदवर्णित) पदार्थों अथवा उपायों से विरक्त हो जाता है उसी का योग में अधिकार होता है, अन्य किसी का नहीं[५०]।

पातंजल योग से उक्त योग की तुलना

शिव महापुराण में वर्णित योगांगों एवं पातंजल योगसूत्र में वर्णित योगांगों की विधियों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। शिव महापुराण योग की अधिकांश बातों के लिए पातंजल योगसूत्र का ऋणी है। इस बात की सूचना स्वयं शिवमहापुराण में ही उपलब्ध है। अन्य तात्त्विक समता के अतिरिक्त पातंजल योगसूत्र का स्पष्ट शब्दों में वहां निर्देश भी किया गया है[५१]।

किन्तु कहीं-कहीं शिवमहापुराण पातंजल योगसूत्र से एक भिन्न दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ शिव महापुराण में बतलाया गया है कि "पर" प्राणायाम के समय साधक को जल्प, भ्रमण एवं मूर्छा आदि होता है। इसी तरह कई शारीरिक विकार भी वहाँ बतलाये गये हैं। किन्तु पातंजल योगसूत्र में ऐसी बातें घटित नहीं होतीं और न इनका वहाँ वर्णन ही है।

शिव महापुराण और पातंजल योगसूत्र में दूसरा वैभिन्न्य वहाँ दृष्टिगोचर होता है, जहाँ पर शिव महापुराण में कहा गया है कि योगी (साधक) जब योग की मुद्रा में बैठे तो वह अपनी दृष्टि को नासिकाग्र पर एकत्रित (Fixed) करे और इतस्ततः दिशाओं की ओर अपनी दृष्टि न ले जाय। पातंजलयोगसूत्र में योग की इस मुद्रा का वर्णन नहीं किया गया है।

इसके अतिरिक्त सर्वाधिक उल्लेख्य अन्तर यह है कि पतंजलि का योगसूत्र, सर्वप्रथम, मन को स्थूल जागतिक पदार्थों पर केन्द्रित होने को कह कर, पुनः तन्मात्राओं, इन्द्रियों एवं अहङ्कार पर, क्रमशः बढ़ने (केन्द्रित होने) की सम्मति देता है तब शिव महापुराण के शैवयोग का योगी शिवस्वभाव का ही

---

५०. दृष्टे तथानुश्रविके विरक्तं विषये मनः।
यस्य तस्याधिकारोऽस्ति योगे नान्यस्य कस्यचित् ॥ शिव० ७, २, ३७, १२।

५१. योगशास्त्रेष्वपि तथा पुराणेष्वपि केषु च। वही, ७, २, ३७, १८।
स्वेच्छोत्क्रमणपर्यन्तः प्रोक्तो योगानुशासने ॥ वही, ७, २, ३७, २६।

ध्यान करता है[५१]। योगशास्त्र में भी यह कहा गया है कि कोई योगी, इस क्रम से न बढ़कर, ईश्वर का ही ध्यान कर सकता है। और इस ईश्वर के ध्यान से ही कोई योगी मोक्ष लाभ कर सकता है। योगशास्त्र के अनुसार योगी का ध्यानाभ्यास द्विधा होता है। प्रथम तो यह कि वह सीधे ईश्वर का ध्यान कर सकता है और दूसरी पद्धति यह है कि योगी ध्यान की क्रमिक सीढ़ियों (श्रेणियों) से सूक्ष्म से सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम की ओर बढ़ता हुआ अन्त में अपने को पूर्णरूप से प्रकृति में विलीन कर देता है जिससे कि पुनः इस संसार में उसका आगमन न हो। मन के उक्त क्रमिक विकसित होते हुए ध्यान का परिणाम यह होता है कि मन पर पड़े सांसारिक प्रभाव शनैः शनैः समाप्त हो जाते हैं। इससे ईश्वर साक्षात्कार करने में सारल्य होता है।

विषय को समाप्त करते हुये यहाँ यह लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है कि शिव महापुराण की पूर्ववायवीय संहिता के ३२ वें अध्याय के ४५ वें श्लोक से ५६ श्लोक तक एक निश्चित एवं अस्पष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण का वर्णन प्रस्तुत किया गया है (जो योग की एक पद्धति ज्ञात होती है) जिसके अनुसार आचरण करने से प्राणी पाशुपतज्ञान को प्राप्त कर मुक्तिलाभ करता है अर्थात् शिव के स्वाभाविक अमरत्व को प्राप्त करता है।

नादानुसन्धान

उमासंहिता के षड्विंशति अध्याय में कालवंचन (कालविजय) के प्रसंग से नादानुसन्धान का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया गया है। यतः नादानुसन्धान-प्रक्रिया योग का एक अंग है, अतः यहाँ उसका वर्णन कर देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

योग के जानकार मनुष्य को चाहिये कि वह सम्पूर्ण प्रजा के सो जाने पर दीपकरहित अतः अन्धकाराच्छन्न, स्थान में, सुन्दर आसन पर आसीन हो, श्वास रोककर योग का अभ्यास करे[५३]। इस प्रसंग में योगी को चाहिये

---

५२. (क) समाधिपाद के सप्तदश सूत्र की व्याख्या।

(ख) चट्टोपाध्याय एवं दत्तकृत "भारतीयदर्शन" में 'योगदर्शन" (पृ० १९७), पुस्तक भण्डार पटना से प्रकाशित २ य संस्करण।

(ग) दासगुप्ताकृत—"भारतीयदर्शन का इतिहास" पंचम भाग।

श्लोक—(घ) शिवस्वभाव एवैकश्चिन्त्यते निरुपाधिकः।
यथा शैवमनोवृत्तिर्महायोग इहोच्यते॥ शिव० ७, २, ३७, ११।

५३. (क) सुखासेन सुशय्यायां योगं युञ्जीत योगवित्।
दीपं विनान्धकारे तु प्रजाः सुप्तेषु धारयेत्॥ वही, ५, २६, २४।

(ख) हठयोग० में मुक्तासन (सिद्धासन) से स्थित होने की बात कही गई है। देखिये—हठयोग० उपदेश ४, श्लोक ६७।

कि वह सर्वप्रथम एक मुहूर्त तक, तर्जनी नामक अंगुली से अपने कानों को खूब ढक कर रक्खे। ऐसा करने से वह्नि समुद्भव शब्द सुनाई पड़ता है[५४]। शास्त्रकारों के अनुसार यह अनाहत ध्वनि सुषुम्णा नाडी में सुनी जाती है। कहीं-कहीं तो अंगुष्ठ से कर्ण का, तर्जनी से नेत्र का, अन्य अवशिष्ट अंगुलियों से नासापुट एवं मुख के भी आच्छादन की बात कही गई है[५५]।

जो साधक नित्य इसी प्रकार दो घड़ी तक उक्त शब्द को सुनता है वह इच्छा और मृत्यु को जीतकर जगत् में मुक्त पर्यटन करता है। वह सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होकर सम्पूर्ण सिद्धियों को प्राप्त करता है।

उक्त वह्नि समुद्भव शब्द, वर्षाकालीन जल से परिपूर्ण, आकाश में विचरण करने वाले, मेघ के निनाद की भाँति बतलाया गया है। इस ध्वनि को सुनकर योगी शीघ्र ही संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है। जैसे जैसे योगी का अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे यह ध्वनि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम होकर, उसके द्वारा, सुनी जाती है[५६]। यह ध्वनि ही शब्दब्रह्म कही जाती है। इसके जान लेने पर प्राणी संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है[५७]।

प्राणज्ञ मनीषियों के द्वारा उक्त वह्नि-समुद्भव शब्द नव प्रकार का कहा गया है, अर्थात् वह नव प्रकार से सुना जाता है। सर्वप्रथम वह शब्द घोष की भांति सुनाई पड़ता है। यह नाद आत्मशुद्धिकारक, सम्पूर्ण व्याधियों का हरण करने वाला, साधक को अपनी ओर आकृष्ट करने वाला कहा गया है। इसके बाद क्रमशः वह शब्द कांस्य, शृङ्ग, घण्टा, वीणा, वांशिक, दुन्दुभि, शंख, एवं मेघ की ध्वनि की भांति सुनाई पड़ता है[५८]।

किन्तु शिवमहापुराण का कहना है कि साधक को चाहिये कि वह इन नवविध शब्दों का परित्याग कर इनसे भी श्रेष्ठ एवं उद्ध्र्वास्थित "तुङ्कार"

---

५४. यथा नदति खेऽब्दो हि प्रावृडद्भिः सुसंयतः ॥ शिव० ५, २६, २८।

५५. हठयोग० उपदेश ४, श्लोक ६८।

५६. ततः स योगिभिर्नित्यं सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरो भवेत्। शिव० ५, २६, २९।

तुलना कीजिये—श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥ हठयोग० उ० ४, श्लो० ८४।

५७. एष ते कथितो देवि शब्दब्रह्मविधिक्रमः। शिव० ५, २६, ३०।

५८. घोषं १ कांस्यं २ तथा शृगं ३ घण्टां ४ वीणा ५ दिवंशजान् ६।
दुन्दुभि ७ शंख ८ शब्दं तु नवमं मेघगर्जितम् ॥ वही, ५, २६, ४०।

तुलना कीजिये—आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः।
मध्ये मर्दलशंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा ॥ हठयोग०, उप० ४, श्लोक ८५।
अन्ते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ॥ वही, ४, ८६।

नाद का अभ्यास करे। जो साधक अनन्य मन से नित्य ही ब्रह्मरूप "तुङ्कार" का अभ्यास करता है उसके लिए कुछ भी असाध्य नहीं है[५९]।

शास्त्रान्तर से ज्ञात होता है कि जब साधक अपने हाथों से कानों को ढककर, श्वास का अवरोधन कर, अनाहत ध्वनि को सुनने का अभ्यास करता है, तब जैसे-जैसे प्राणवायु क्रमशः ऊपर की ओर स्थित ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि (यह कण्ठ में वर्तमान है), भ्रूमध्याकाश, रुद्रग्रन्थि (यह ग्रन्थि) आज्ञाचक्र में वर्तमान है) आदि स्थानों का भेदन कर ऊपर की ओर उठता है वैसे-वैसे सूक्ष्म-सूक्ष्म ध्वनियों का श्रवण होता है। सर्वप्रथम यह ध्वनि स्थूल रूप से सुनाई पड़ती है किन्तु साधक का जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसे सूक्ष्मध्वनि का श्रवण होने लगता है[६०]। एक एक ध्वनि के श्रवण से साधक योगी को एक एक सिद्धियां प्राप्त होती चलती हैं। जैसे दुन्दुभिशब्द के ध्यान से साधक जरा मृत्यु को जीत लेता है। शंखशब्द से वह कामरूप हो जाता है, आदि-आदि[६१]। किन्तु 'तुङ्कार' के अभ्यास से साधक सब कुछ कर सकता है। वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, कामरूपी हो जाता है। उसे कभी किसी प्रकार का विकार नहीं होता और वह अन्त में साक्षात् शिव ही हो जाता है[६२]।

यह अनाहत ध्वनि ही शब्द ब्रह्म एवं परमतत्व के नाम से भी जानी जाती है। यही परम ब्रह्म भी है। व्यक्ति इस परमतत्त्व को जान लेने के अनन्तर जन्म एवं पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

यदि कोई सैकड़ों वर्ष का वृद्ध भी निद्रा एवं आलस्य रूप महाविघ्न को प्रयत्नपूर्वक जीतकर नित्य ही सुखासन पर स्थित हो शब्दब्रह्म का आयुपर्यन्त अभ्यास करता है तो वह भी रोगरहित, वीर्यशाली एवं मृत्युंजय होता है। जब वृद्धों के ऊपर अनाहत शब्द के अभ्यास का यह परिणाम है तो तरुणजनों के विषय में क्या कहना।

---

५९. नव शब्दान् परित्यज्य तुङ्कारं तु समभ्यसेत्। शिव० ५, २६, ४१।
यश्चैकमनसा नित्यं तुङ्कारं ब्रह्मरूपिणम्॥ वही, ५, २६, ५२

६०. देखिये—हठयोग० उप० ४, श्लो० ७०–७६।

६१. शिव० ५, २६, ४४–५३।

६२. यश्चैकमनसा नित्यं तुङ्कारं ब्रह्मरूपिणम्।
किमसाध्यं न तस्यास्ति यथामति वरानने॥ वही, ५, २६, ५२।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च कामरूपी व्रजत्यसौ।
न विकारैः प्रयुज्येत शिव एव न संशयः॥ वही, ५, २६, ५३।

बुद्धिमान् प्राणी ओंकार, मन्त्रविशेष, बीज आदि के अभ्यास पर बल न देकर अनुच्चार्य शब्दब्रह्म परमशिव रूप अनाहत का ही ध्यान करते हैं[६३]।

जिस प्रकार मकरन्द का पान करने वाला भृङ्ग गन्ध की अपेक्षा नहीं करता उसी प्रकार नाद में आसक्तचित्त भी स्रक्, चन्दन एवं वनिता आदि विषयों की आकांक्षा नहीं करता। नादरूपबन्धन से बद्ध अतएव चापल्यशून्य मन उसी प्रकार से सुतरां स्थैर्य को प्राप्त करता है जैसे छिन्न पक्ष खग। अतः योग को चाहने वाले साधक को चाहिये कि वह सम्पूर्ण चिन्ताओं का परित्याग कर सावधान मन से नाद का ही अनुसन्धान करे।

जिस प्रकार काष्ठ में जलाई हुई अग्नि काष्ठ के ही साथ शान्त होती है उसी प्रकार नाद में प्रवर्तित चित्त भी नाद के ही साथ लीन हो जाता है[६४]। अतः अभ्युन्नति के अभीप्सु साधक का परम कर्त्तव्य है कि वह एकाग्र मन से नाद का ही सेवन करे।

कालवंचन-योग

१. तेज-ध्यान

साधक को चाहिये कि वह आलस्य का परित्याग कर निर्जन स्थान में, सुखासन पर स्थित हो, शरीर के मध्यम देश में शशि एवं रवि के सम्मिलित तेज को प्रकाशित करते हुये भ्रू के मध्य में वह्निगत तेजको प्रकाशित करे। यह क्रिया दीपक के प्रकाश से अन्धकार रहित स्थान में करनी चाहिये। योगी को चाहिये कि वह हाथ की अंगुलियों से, प्रयत्नपूर्वक, दोनों नेत्रों को कुछ (हलके रूप से) ढंक कर कनीनिका को देखते हुये एकाग्र मन से अर्द्ध मुहूर्त तक भ्रूगत तेज का ध्यान करे[६५]।

इसके बाद अन्धकार में ध्यान करने का विधान है। इस अवस्था में योगी ऐश्वर ज्योति को (भ्रूगत ज्योति को) श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण एवं इन्द्र-

६३. अनाहतमनुच्चार्यं शब्दब्रह्म शिवं परम्।
ध्यायन्ते देवि सततं सुधियो यत्नतः प्रिये॥ शिव० ५, २६, ३८।

६४. काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति।
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते॥ हठयोग० उप० ४, श्लो० ९८।

तुलना कीजिये—यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति॥
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति॥ मैत्राय० उक्त श्लोक की टीका से उद्धृत।

६५. नेत्रे करशाखाभिः किंचित्संपीड्य यत्नतो योगी।
तारं पश्यन्ध्यायेन्मुहूर्तमर्द्धं तमेक (तदेक) भावोऽपि॥ शिव० ५, २७, १८।

धनुष की कान्ति के तुल्य देखता है। इसके भी ऊपर जो साधक भ्रुकुटियों के मध्य ललाट में बालार्क की कान्ति वाले परम शिव का ध्यान कर उन्हें जानता है वह इस संसार में सब कुछ कर सकता है[६६]। परकायप्रवेशन, अणिमादि गुणोंकी प्राप्ति, मन से अवलोकन, दूर श्रवण आदि सिद्धियां उसे सहज में ही उपलब्ध हो जाती हैं। वह जब चाहे अदृश्य भी हो सकता है। वह इच्छानुसार बहुत से रूपों को भी धारण कर सकता है। उसमें आकाश गमन की भी शक्ति आजाती है। यही तेज की उत्तम विधि है। इसके अभ्यास से प्राणी काल को जीतकर अमरत्व को प्राप्त करता है।

२. वायु-पान

नियतमानस योगी यथास्थान सुखासन पर स्थित हो अपनी शरीर को समुन्नत करे। इसके अनन्तर करसम्पुट को बाँधकर अपने मुख को पक्षी के चंचुकी भांति लम्बायमान कर उससे शनैः शनैः वायु को पिये। ऐसा करने से, एक क्षण के अनन्तर, तालु से जीवनदायी जल टपकने लगता है। योगी को चाहिये कि वह उक्त अमृततुल्य, शीतल जल का पान करे और नासिका के द्वारा निकलने वाले पूर्वपीत वायु से उसका आघ्राण भी करे[६७]।

प्रतिदिन ऐसा करने से योगी कभी भी मृत्यु के वश में नहीं होता। उसका शरीर दिव्य हो जाता है। वह महातेजस्वी एवं क्षुधा तथा तृषा विजयी हो जाता है। वह बल में हाथी के समान, वेग में तुरग के समान, दृष्टि में गरुड के समान बन जाता है। उसकी श्रवणेन्द्रिय भी दिव्य हो जाती है। वर्ण में वह गन्धर्व एवं विद्याधरों के समान हो जाता है। उसकी बुद्धि बृहस्पति के समान हो जाती है। वह अपनी इच्छानुसार सुख पूर्वक आकाश भ्रमण भी करता है। इस प्रकार योगी को बहुत सा आश्चर्यजनक सिद्धियां उपलब्ध हो जाती हैं।

---

६६. भ्रुवोर्मध्ये ललाटस्थं बालार्कसमतेजसम्।
तं विदित्वा तु कामांगी क्रीडते कामरूधृक्॥ शिव० ५, २७, २०।

६७. समुन्नतशरीरोऽपि स बद्ध्वा करसम्पुटम्।
चंच्वाकारेण वक्त्रेण पिबन्वायुं शनैः शनैः॥ वही, ५, २७, २९।
प्रस्रवन्ति क्षणादापस्तालुस्था जीवदायिकाः।
ता जिघ्रेद्वायुनादायामृतं तच्छीतलं जलम्॥ वही, ५, २७, ३०।

तुलना कीजिये—काकचंचुवदास्येन शीतलं शीतलं पिबेत्।
प्राणं प्राणविधानज्ञो योगी भवति निर्जरः॥ काशी० ४१, १०५।

३. सुधापान

इस प्रक्रिया के अन्तर्गत योगी अपनी रसना को समाकुंचित कर तालु में लगाता है। ऐसा करने से कुछ समय के अनन्तर रसना लम्बी हो जाती है। उसके बाद जब वह तालु से संस्पृष्ट होती है तब शीतल सुधा को टपकाती है। इस सुधा के पान से योगी अमरत्व को प्राप्त करता है[६८]। उसे क्षुधा एवं तृषा का भी कभी भान नहीं होता।

भक्तियोग

पौराणिक भक्ति का वैदिक उद्गम

भक्तिरस की मधुरधारा अति प्राचीन काल से ही भारत के जनमानस को सरस बनाती आ रही है। इस देश का प्रत्येक प्रान्त भक्ति-सुधा-धारा से पूर्ण आप्यायित रहा है। सर्वप्रथम यहां विचारणीय विषय यह है कि भारत में भक्ति का प्रादुर्भाव कब और कहां हुआ था? भारतीय वाङ्मय का अनुशीलन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में बहुतों का यह मत रहा कि – भारत में भक्ति का प्रचार ईसाई धर्म की देन है। ईसाई मत का मूल सिद्धांत है—भगवान् का अटूट प्रेम अथवा भगवान् की भक्ति। ये लोग यह भी कहते हैं कि संसार के इतिहास में सर्वप्रथम ईसाई मत में ही भक्ति का उदय हुआ था और वहीं से यह भारत में गई और चतुर्दिक् प्रसरित हुई। इस प्रकार भक्ति की कल्पना के लिये भारत ईसाई मत का ऋणी बतलाया जाता है। परन्तु तथ्य का अन्वेषण करने पर पाश्चात्यमत पूर्णतया निराधार एवं अप्रमाणिक प्रतीत होता है।

वैदिक वाङ्मय के सूक्ष्म अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक साहित्य जिस प्रकार कर्म तथा ज्ञान का उत्पत्ति-स्थल है उसी प्रकार वह भक्ति अंकुर का भी औत्पत्तिक आधार है।

यद्यपि संहिताओं में कर्मकाण्ड की ही प्रबलता है; वैदिक यज्ञ का विधान एवं विचार प्रस्तुत किया गया है तथापि यह मानना कथमपि न्याय-संगत न होगा कि उसमें भक्ति-भाव का पूर्णतया अभाव ही है। मन्त्रों में तत्तद्देवों की

---

६८. समाकुंच्याभ्यसेद्योगी रसानां तालुकं प्रति।
किंचित्कालान्तरेणैव क्रमात्प्राप्नाति लम्बिकाम् ॥ शिव० ५, २७, ३५।
ततः प्रस्रवते सा तु संस्पृष्टा शीतलां सुधाम्।
पिबन्नेव सदा योगी सोऽमरत्वं हि गच्छति ॥ वही, ५, २७, ३६।
तुलना कीजिये—रसाना तालुविवरे निधायोर्ध्वमुखोऽमृतम्।
पिबन्निर्जरतां गच्छेदर्धमासान्न संशयः ॥ गोरा० ४७, १०६।

सरस तथा भावपूर्णस्तुतियां की गई हैं। उनकी स्तुति करते समय साधक उनके साथ पिता, माता, स्निग्धबन्धु आदि का पूर्ण मनोरम एवं भावपूर्ण संबन्ध स्थापित करता है। क्या ऐसी भावपूर्ण स्तुतियां स्तोता के हृदय में देवताओं के प्रति प्रेम तथा अनुराग की सूचना नहीं देतीं। क्या इन काव्यमयी स्तुतियों में भक्ति की अलौकिक छटा का पूर्वाभास नहीं दृष्टिगोचर होता है? हाँ इतना अवश्य है कि उक्त स्थलों में अप्रत्यक्ष रूप से भक्ति की स्थिति होने पर भी 'भक्ति' शब्द से उसका अभिधान कहीं नहीं किया गया है। परन्तु इसके यह माने नहीं होते कि उस समय भक्ति का अभाव ही था।

यहाँ कतिपय देवताओं की स्तुतियों का उद्धरण एवं अध्ययन कर उक्त सिद्धान्त का समर्थन किया जा रहा है। सर्वप्रथम अग्निविषयक स्तुतियों की ही परीक्षा की जाय। अग्नि वैदिक कर्मकाण्ड के प्रधान देवता हैं। उन्हीं के माध्यम से यज्ञ का सम्पादन होता है। अतः अग्निपरक स्तुतियों में अनुरागाभाव की कल्पना स्वाभाविक है। किन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। वे विपत्तियों के पार ले जाने वाले त्राता के तटस्थ रूप में ही वर्णित नहीं किये गये हैं, अपितु पिता तथा माता जैसे रागात्मक सम्बन्धों के आधार भी कल्पित किये गये हैं :—

त्वां वर्धयन्ति क्षितयः पृथिव्यां त्वां राय उभयासो जनानाम्।
त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मनुष्याणाम्॥
(ऋग्० ६, १, ५)

यह एक अस्वाभाविक बात होगी कि अग्नि को माता-पिता कहने वाले स्तोता के हृदय में अनुराग का संचार न हो, प्रेम का आविर्भाव न हो।

ठीक इसी प्रकार का मातृ-पितृ भाव सम्बन्ध इन्द्र के साथ भी स्थापित किया गया है :—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे। (ऋग्० ८, ९८, ११)॥

इसी प्रकार अन्य इन्द्र तथा वरुण विषयक सूक्त भक्त-हृदय के मधुर उद्गारों से भरे पड़े हैं, जिन्हें सख्य भक्ति का सुन्दर दृष्टान्त माना जा सकता है।

उक्त मन्त्रों एवं सूक्तों में तो परोक्षरूप से भक्ति की सत्ता है ही किन्तु प्राचीन आचार्यों की सम्मति में वैदिक मन्त्रों में प्रकट रूप से भक्तितत्त्व का समर्थन उपलब्ध होता है। शाण्डिल्य ने अपने भक्तिसूत्र में कहा है—"भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः" (१, २, ९) = भक्ति श्रुतियों के द्वारा जानी जा सकती है।

इसकी व्याख्या में नारायण तीर्थ ने भक्ति एवं उसके नवधा प्रकारों के प्रदर्शक मन्त्रों का सव्याख्यान उद्धरण दिया है[६६]। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं :—

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद
ऋतस्य गर्भंजनुषा पिपर्तन ।
आस्य जानन्तो नाम चिद् विविक्तन
महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॥ ऋ० १, १५६, ३ ॥

इस मन्त्र का भाव है—"इस संसार के कारणरूप (पूर्व्यं) उस विष्णु की अपनी मति के अनुरूप स्तुति करो। वह वेदान्त वाक्यों (ऋत) का प्रतिपाद्य है। उसकी स्तुति करने से जन्म की प्राप्ति नहीं होती। स्तुति असम्भव होने पर उस विष्णु के नाम का ही कथन करो (अर्थात् नाम स्मरण करो)। हमलोग विष्णु के तेज तथा सर्वसाक्षी गुणातीत रूप की प्रेम लक्षण सेवा करते हैं।' इस मन्त्र में भगवान् की स्तुति तथा नामस्मरण का स्पष्ट निर्देश है।

यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे
सुमज्जानये विष्णवे ददाशति ।
यो जातमस्य महतो महि ब्रवत्
सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिदभ्यसत् ॥ ऋ० १, १५६, २ ।

'अर्थात् जो पुरुष सबसे प्राचीन तथा नित्य नूतन, जगत् के स्रष्टा (वेधसे), स्वयं उत्पन्न होने वाले अथवा समस्त संसार में मद उत्पन्न करने वाली लक्ष्मी के पति (सुमज्जानये) विष्णु के लिये अपने द्रव्य को तथा स्वयं अपने आपको समर्पण करता है, जो महनीय विष्णु के पूजनीय जन्म तथा उपलक्षणात् कर्म को कहता है—कीर्तन करता है, वह दाता तथा स्तोता कीर्ति अथवा अन्न से सम्पन्न हो कर सबके गन्तव्य परमपद को अनुकूलता से प्राप्त कर लेता है।"

स्पष्ट ही यह श्रुति भगवान् के श्रवण, कीर्तन तथा भगवदर्पण का प्रतिपादन करती है।

भक्तिभाव का उक्त वैदिक अंकुर ब्राह्मण एवं आरण्यक युग में भी शनैः शनैः वृद्धि को ही प्राप्त होता रहा और औपनिषदिक युग में तो प्रत्यक्षरूप से

---

६६. द्रष्टव्य भक्तिचन्द्रिका पृ० ७७-८२ (सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, संख्या ६, काशी (१९२४)।

भक्ति का अभिधान किया जाने लगा था। निम्न मन्त्र में 'प्रसाद' अर्थात् अनुग्रह का सिद्धान्त स्पष्टरूप से निर्दिष्ट किया गया है:—

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको ।
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ।। कठ० १, २, २० ।

'अर्थात् निष्काम पुरुष जगत्कर्त्ता के प्रसाद से अपने आत्मा की महिमा है और शोकरहित हो जाता है।' यह मन्त्र श्वेताश्वतर उपनिषद (३, २०) तथा महानारायणोपनिषद् में भी आया है। श्वेताश्वतर के अन्य मन्त्र में तपस्या के प्रभाव के अतिरिक्त देवता के प्रसाद से श्वेताश्वतर ऋषि को सिद्धि मिलने का उल्लेख किया गया है (६, ११)। इस उपनिषद् में भक्ति शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है:—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।। श्वेता० ६, २३ ।

अर्थः—जिस पुरुष की देवता में उत्कृष्ट भक्ति होती है तथा देव के समान गुरु में भी जिसकी भक्ति होती है, उसीं महात्मा को ये कहे गये अर्थ स्वतः प्रकाशित होते हैं।*

इसके अनन्तर तो भक्ति की जो प्रबल धारा प्रवाहित हुई उससे रामायण, महाभारत तथा पुराण ग्रन्थ पूर्णरूप से आप्लावित हैं। भक्ति का पूर्ण परिपाक पुराणों में ही हुआ है। यहाँ शिवमहापुराण के अनुसार भक्ति योग का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

शिवमहापुराण में भक्तियोग

शिवमहापुराण के अनुसार सर्वज्ञ जगत् के ईश्वर परमात्म शिव परम भक्ति से ही दृष्टिगोचर होते हैं, अन्यथा इनका दर्शन नहीं होता। रुद्र, हरि, हर तथा और भी देवेश्वर परम भक्ति से ही उनके दर्शन की इच्छा करते हैं। मानव परमात्म-शिव में भक्ति करने मात्र से ही मुक्त हो जाता है"[७०]।

---

* पुराण—विमर्श, लेखक— बलदेव उपाध्याय।

७०. एष देवो महादेवः सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।
अयं तु परया भक्त्या दृश्यते नान्यथा क्वचित् ।।
रुद्रो हरिर्हरश्चैव तथाऽन्ये च सुरेश्वराः ।
भक्त्या परमया तस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ।।
बहुनात्र किमुक्तेन शिवे भक्त्या विमुच्यते । शिव० १, ३, १२-१४ ।

किन्तु परमात्म-शिव की यह भक्ति भी परम दुर्लभ है। उनके प्रसाद के बिना किसी भी प्राणी के हृदय में इसका प्रादुर्भाव असम्भव है। परन्तु जिस भाँति बीज से अंकुर और अंकुर से बीज उत्पन्न होता है, उसी प्रकार ईश्वर भक्ति और प्रसाद में भी अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। परमात्म-शिव के प्रसाद से उनकी भक्ति एवं उनकी भक्ति से प्रसाद की प्राप्ति होती है।

भक्ति के द्विधा प्रकार

भक्ति दो प्रकार की होती है—सगुणा और निर्गुणा। जो वैधी (शास्त्र विधि से प्रेरित) और स्वाभाविकी (हृदय के सहज अनुराग से प्रेरित) भक्ति होती है, वह श्रेष्ठ है तथा इससे भिन्न जो कामना मूलक भक्ति होती है, वह निम्नकोटि की मानी गई है। पूर्वोक्त सगुणा और निर्गुणा ये दोनों प्रकार की भक्तियाँ नैष्ठिकी और अनैष्ठिकी के भेद से दो प्रकार की हो जाती हैं[७१]। नैष्ठिकी भक्ति षट्प्रकार की और अनैष्ठिकी एक प्रकार की कही गई है। विद्वान् पुरुष विहिता और अविहिता आदि भेद से उसे (भक्ति को) अनेक प्रकार की मानते हैं। इन द्विविध भक्तियों के और भी बहुत से भेद-प्रभेद होते हैं, जिनका वर्णन शिवपुराण में नहीं किया गया है। सगुणा और निर्गुणा इन दोनों भक्तियों के नव अंग बतलाये गये हैं[७२]। ये नवविध अंग हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवन, दास्य, अर्चन, वन्दन, सख्य और आत्मसमर्पण[७३]। इनके अतिरिक्त भक्ति के उपांग भी बहुत से बतलाये गये हैं।

भक्ति के अंगों के लक्षण

भक्ति के नवविध अंगों के पृथक्-पृथक् लक्षण इस प्रकार हैं—जो स्थिर आसन से बैठकर तन-मन आदि से परमात्म-शिव के कथा-कीर्तन आदि का नित्य सम्मान करता हुआ प्रसन्नतापूर्वक अपने श्रवणपुटों से उसके अमृतोपम रस का पान करता है, उसके इस साधन को 'श्रवण' कहते हैं। जो हृदयाकाश के द्वारा परमात्म-शिव के दिव्य जन्म-कर्मों का चिन्तन करता हुआ प्रेम से वाणी द्वारा उनका उच्च स्वर से उच्चारण करता है, उसके इस भजन-

७१. सा भक्तिर्द्विविधा देवि सगुणा निर्गुणा मता।
वैधी स्वाभाविकी या वरा सा त्ववरा स्मृता॥
नैष्ठिक्यनैष्ठिकी भेदाद् द्विविधे द्विविधे हि ते। शिव० २, २, २३, १८-१९।

७२. ते नवांगे उभे ज्ञेये वर्णिते मुनिभिः प्रिये। वही, २, २, २३, २१।

७३. श्रवणं कीर्तनं चैव स्मरणं सेवनं तथा।
दास्यं तथार्चनं देवि वन्दनं मम सर्वदा॥
सख्यमात्मार्पणं चेति नवाङ्गानि विदुर्बुधाः। वही, २, २, २३, २२-२३।

साधन को 'कीर्तन' कहते हैं। परमात्म-शिव को सदा और सर्वत्र व्यापक जान कर संसार में निरन्तर निर्भय रहना ही 'स्मरण' कहा गया है। अरुणोदय से लेकर हर समय सेव्य की अनुकूलता का ध्यान रखते हुये हृदय और इन्द्रियों से जो निरन्तर सेवा की जाती है, वही 'सेवन' नामक भक्ति है। अपने को प्रभु का किंकर समझ कर हृदयामृत के भोग से स्वामी का सदा प्रिय सम्पादन करना 'दास्य' कहा गया है। अपने धन-वैभव के अनुसार शास्त्रीय विधि से परमात्म-शिव को सदा पाद्य आदि षोडश उपचारों का समर्पण करना ही 'अर्चन' कहा गया है। मन से ध्यान और वाणी से वन्दनात्मक मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक अष्टांग से भूतल का स्पर्श करते हुये इष्टदेव को नमस्कार करना ही 'वन्दन' कहा गया है। ईश्वर मंगल अथवा अमंगल जो कुछ भी करता है, वह सब मेरे मंगल के लिये ही है, ऐसा दृढ़ विश्वास रखना 'सख्य' भक्ति का लक्षण है[७४]। देह आदि जो कुछ भी अपनी कही जाने वाली वस्तु है, वह सब भगवान् की प्रसन्नता के लिये उन्हीं को समर्पित करके अपने निर्वाह के लिये कुछ बचाकर न रखना अथवा निर्वाह की चिंता से भी रहित हो जाना 'आत्म-समर्पण' कहा गया है[७५]। ये ही ईश्वर की भक्ति के नव अंग हैं, जिनके साधन से भोग और मोक्ष दोनों का लाभ होता है। इन में ज्ञान का प्राकट्य होता है तथा ये सब साधन परमात्म-शिव को अत्यन्त प्रिय बतलाये गये हैं। इनके अतिरिक्त भक्ति के बहुत से उपांग भी कहे गये हैं, जैसे बिल्व आदि का सेवन आदि। शिव महापुराण इनको विचार से समझने की सम्मति देता है[७६]।

भक्ति का महत्त्व

इस प्रकार परमात्म-शिव की सांगोपांग भक्ति सबसे उत्तम कही गई है। यह ज्ञान-वैराग्य की जननी है। वैराग्य इसकी दासी बतलाई गई है। यह सम्पूर्ण साधनों में उत्तमोत्तम है। इसके द्वारा सम्पूर्ण कर्मों के फल की प्राप्ति होती है। जिसके चित्त में नित्य निरन्तर यह भक्ति निवास करती है, वह साधक परमात्म-शिव को अत्यन्त प्रिय है[७७]। शिवमहापुराण में कहा गया है

---

७४. मंगलामंगलं यद् यत् करोतीतीश्वरो हि मे।
सर्वं तन्मंगलायेति विश्वासः सख्यलक्षणम् ॥ शिव० २, २, २३, ३२।

७५. तुलना :—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ श्रीमद्भाग०, स्क० ७, अ० ५, श्लो० २३।

७६. उपांगानि च मद्भक्तेर्बहूनि कथितानि वै।
बिल्वादिसेवनादीनि समूह्यानि विचारतः ॥ शिव० २, २, २३, ३५।

७७. यच्चित्ते सा स्थिता नित्यं सर्वदा सोऽति मत्प्रियः। वही, २, २, २३, ३७।

कि तीनों लोकों और चारों युगों में भक्ति के समान दूसरा कोई सुखदायक मार्ग नहीं है। कलियुग में तो यह विशेष सुखद एवं सुविधाजनक कही गई है। जब ज्ञान और वैराग्य उत्साहशून्य और जर्जर हो जाते हैं तब प्राणियों को एकमात्र भक्ति का ही सहारा रहता है।

परमात्म-शिव का भक्त मुक्ति का अवश्य ही भाजन होता है। उसके लिये परम पुरुषार्थ (मोक्ष) के हेतु किसी तीर्थ की अपेक्षा नहीं है। शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट विहित, अविहित कर्म उसके लिये समान हैं। वह जीवनन्मुक्त है। उसकी मृत्यु चाहे जहाँ हो वह अवश्य ही मुक्ति का भागी होता है[७८]।

अवश्य ही परमात्म शिव की भक्ति मुक्तिदात्री है; किन्तु भक्ति की साधना से मुक्ति जितनी सुगम है; उतना ही प्राणी के हृदय में भक्ति का अंकुर उत्पन्न होना कठिन है। परमात्म-शिव के प्रसाद एवं भक्ति को प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि प्राणी तपस्या से विविध शैवधर्मों से संयुक्त हो। तदनन्तर शनैः शनैः उसके प्रयोग एवं अभ्यास से हृदय में परमात्म-शिव की परा भक्ति उत्पन्न होती है। पुनः उस परम भक्ति से परम प्रसाद की उपलब्धि होती है और परमात्म-शिव के प्रसाद से ही सम्पूर्ण पाशों (मलों) से मुक्ति मिल जाती है। मुक्त को निर्वृति होती है[७९]।

इस प्रकार भक्ति और प्रसाद की प्राप्ति के लिये शैव-सिद्धांतों एवं मार्गों का अनुसरण परमावश्यक है। हां, इन दोनों की प्राप्ति के अनन्तर भक्त को भले ही कर्मों (कर्त्तव्यों) का विशेष या स्वल्प महत्त्व न हो, किन्तु प्रारम्भावस्था में तो प्राणी को निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करना ही होगा।

ज्ञान और भक्ति की परस्परापेक्षा

कुछ लोग भक्ति की अपेक्षा ज्ञान को ही श्रेष्ठ बतलाते हैं, किन्तु शिवमहापुराण के अनुसार भक्ति और ज्ञान परस्पर भिन्न नहीं हैं। अतः उनमें भेद नहीं करना चाहिये। भक्ति के विरोधी को ज्ञान कभी नहीं होता, बल्कि इससे विपरीत शम्भु की भक्ति करने वाले को ज्ञानोदय भी शीघ्र ही होता है। अतः ज्ञान की प्राप्ति के लिये भी भगवान् शंकर की भक्ति सप्रयत्न करनी चाहिये।

---

७८. यो मे भक्तश्च विज्ञानी तावुभौ मुक्तिभागिनौ।
तीर्थापेक्षा च न तयोर्विहिताविहिते समौ॥
जीवन्मुक्तौ तु तौ ज्ञेयौ यत्र कुत्रापि वै मृतौ।
प्राप्नुतो मोक्षमाश्वेव मयोक्तं निश्चितं वचः॥ शिव० ४, २३, ११-१२।

ज्ञान की विरोधिनी होने के स्थान पर भक्ति उसकी जन्मदात्री ही है; क्योंकि अध्यात्म, ज्ञानमूलक कहा गया है और ज्ञान का मूल परमात्म-शिव की भक्ति ही है। भक्ति के मूल में प्रेम और प्रेम के मूल में श्रवण कहा गया है। इस प्रकार देखा जाय तो भक्ति के बिना ज्ञान का प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता। अतः ज्ञानोद्रेक की दृष्टि से भी भक्ति का महत्त्व बढ़ जाता है।

परमात्म-शिव के प्रसाद और भक्ति की परस्परापेक्षा

भक्ति का प्रादुर्भाव भगवान् की कृपा से ही होता है और भक्ति से ही उनकी कृपा भी होती है। अवस्थाभेद का विचार करके विद्वान् पुरुष इस विषय में मोहित नहीं होते। कृपाप्रसादपूर्वक जो यह भक्ति होती है, वह भोग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति कराने वाली है। उसे मनुष्य एक जन्म में नहीं प्राप्त कर पाता। अनेक जन्मों तक श्रौत-स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान करके सिद्ध हुये विरक्त एवं ज्ञानसम्पन्न पुरुषों पर परमात्म-शिव प्रसन्न होते और कृपा करते हैं। परमात्म-शिव के प्रसन्न होने पर उस पशु (जीव) में बुद्धिपूर्वक थोड़ी-सी भक्ति का उदय होता है। तब वह यह अनुभव करने लगता है कि परमात्म-शिव मेरे स्वामी हैं। फिर तपस्यापूर्वक वह नाना प्रकार के शैवधर्मों के पालन में संलग्न होता है। उन धर्मों के पालन में बारम्बार लगे रहने से उसके हृदय में परा भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। उस पराभक्ति से परमात्म-शिव का परम प्रसाद उपलब्ध होता है। प्रसाद से सम्पूर्ण पापों से मुक्ति मिलती है और उसके बाद परमानन्द की प्राप्ति होती है; जिस मनुष्य का परमात्म-शिव में स्वल्प भी भक्तिभाव होता है, वह तीन जन्मों के बाद अवश्य मुक्त हो जाता है।

भक्ति की परिभाषा

साङ्गा (अंगसहित) और अनङ्गा (अंगरहित) जो सेवा है; उसी को भक्ति कहते हैं। उसके पुनः तीन भेद होते हैं—मानसिक, वाचिक और शारीरिक। शिव के रूप आदि का जो चिन्तन है, उसे मानसिक सेवा कहते हैं। जप आदि वाचिक सेवा है और पूजन आदि कर्म शारीरिक सेवा है। इन त्रिविध साधनों से सम्पन्न होने वाली जो यह सेवा है, इसे "शिवधर्म" भी

७६. तपसा विविधैः शैवैर्धर्मैः संयुज्यते नरः।
तत्प्रयोगे तदभ्यासस्ततो भक्तिः परा भवेत् ॥
परया च तया भक्त्या प्रसादो लभ्यते परः।
प्रसादात्सर्वपाशेभ्यो मुक्तिर्मुक्तस्य निर्वृतिः ॥ शिव० ७, २, ७, ३१-३२।

कहते हैं[८०]। परमात्म-शिव ने पांच प्रकार का शिवधर्म बतलाया है—तप, कर्म, जप, ध्यान, और ज्ञान। लिङ्गपूजन आदि को "कर्म" कहते हैं। चान्द्रायण आदि व्रत का नाम "तप" है। वाचिक, उपांशु और मानस—तीन प्रकार का जो शिवमन्त्र का अभ्यास (आवृत्ति) है, उसी को "जप" कहते हैं। शिव का चिन्तन ही "ध्यान" कहलाता है तथा शैव आगमों में जिस ज्ञान का वर्णन है, उसी को यहाँ 'ज्ञान' शब्द से कहा गया है। श्रीकण्ठशिव ने शिवा के प्रति जिस ज्ञान का उपदेश किया है, वही शिवागम है। शिव के आश्रित भक्तजनों पर कृपा करके कल्याण के एकमात्र साधक इस ज्ञान का शिव महापुराण में उपदेश किया गया है। अतः कल्याणकामी बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह परमात्म-शिव में भक्ति को बढ़ाये तथा विषयासक्ति का त्याग करे[८१]।

---

८०. सेयं त्रिसाधना सेवा शिवधर्मश्च कथ्यते। शिव० ७, २, ७, ३६।

८१. शिव० ७, २, ७, ४०।

टिप्पणी :—शिवचरित्र वर्णन की ही भांति तुलसी के "मानस" में ज्ञान और भक्ति के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध के प्रतिपादक स्थलों का आधार शिवमहापुराण ही है।

अष्टम अध्याय

सर्ग-प्रतिसर्ग

सृष्टि-तत्त्व

पुराण के पंचलक्षण—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित में सर्ग (सृष्टि) प्रथम तथा मुख्य लक्षण है। शिवमहापुराण में सृष्टि विद्या का वर्णन बड़े ही वैशद्य के साथ किया गया है। यद्यपि पौराणिक सृष्टि वर्णन पर सांख्य दर्शन के द्वारा वर्णित सृष्टि-विद्या का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है, तथापि शिवमहापुराण (यहां तक की पुराणमात्र) का सृष्टिवर्णन सांख्य की सृष्टि-विद्या का अक्षरशः अनुकरण मात्र न होकर अपनी भी विशिष्टता रखता है।

नवसर्ग

शिवमहापुराण (यहां तक कि पुराण मात्र) में सर्ग (सृष्टि) के नव प्रकार वर्णित किये गये हैं। इन्हीं नवविध सर्गों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है :—

सर्ग मुख्यतया त्रिधा होता है—(१) प्राकृत सर्ग, (२) वैकृत सर्ग तथा (३) प्राकृत-वैकृत सर्ग। प्राकृत तथा वैकृत सर्ग की भिन्नता के विषय में शिव-महापुराण का कथन है कि प्राकृत सर्ग अबुद्धिपूर्वक होता है अर्थात् उसकी सृष्टि नैसर्गिक रूप से होती है। उसके निमित्त सृष्टिकर्ता का अपनी बुद्धि लगाने की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत वैकृत सर्ग बुद्धिपूर्वक होता है अर्थात् पर्याप्त सोच-समझ कर ब्रह्मा ने इस प्रकार की सृष्टि का निर्माण किया है :—

श्लोक :—प्राकृताश्च त्रयः पूर्वे सर्गास्तेऽबुद्धिपूर्वकाः।
बुद्धिपूर्वं प्रवर्तन्ते मुख्याद्याः पंच वैकृताः ॥ शिव० ७, १, १२, १८।

प्राकृत सर्ग की संख्या तीन है तथा वैकृत एवं प्राकृत-वैकृत सर्ग की संख्या

क्रमशः पाँच तथा एक है। इस प्रकार सब मिलाकर सर्गों की संख्या नव होती है[1]।

(१) प्राकृत-सर्ग

प्राकृत सर्ग तीन प्रकार का होता है :—(१) ब्रह्मसर्ग, (२) भूतसर्ग, तथा (३) वैकारिक सर्ग। इनकी व्याख्या इस प्रकार है :—

(१) ब्रह्मसर्ग :—महत्तत्व के सर्ग को ब्रह्मा का प्रथम सर्ग कहते हैं :—
श्लोक—प्रथमो महतः सर्गो ब्रह्मणः परमेष्ठिनः[2] ॥ शिव० ७,१,१२, १३।

(२) भूत-सर्गः—पंचतन्मात्राओं की सृष्टि को भूतसर्ग कहते हैं :—
श्लोक—तन्मात्राणां द्वितीयस्तु भूतसर्गः स उच्यते। शिव० ७,१,१२,१४।
पंचमहाभूतों को अत्यन्त सूक्ष्मावस्था ही तन्मात्र के नाम से अभिहित होती है[3]।

(३) वैकारिक सर्ग :—इन्द्रिय सम्बन्धी सृष्टि को वैकारिक सर्ग कहते हैं :—
श्लोक—वैकारकस्तृतीयस्तु सर्ग ऐन्द्रियकः स्मृतः। शिव० ७,१,१२,१४।

(२) वैकृत-सर्गः—(संख्या में पांच) :—

(१) मुख्यसर्ग :—पूर्ववायवीय संहिता के द्वादश अध्याय के अनुसार सर्ग के आदि में ब्रह्माजी के बुद्धिपूर्वक सृष्टि का चिन्तन करने पर, उनके ध्यान-

१. नव सर्ग सम्बन्धी श्लोक विष्णुपुराण, अ० ५, १–२५ में तथा मार्कण्डेय, अ० ४७ में भी एक समान ही है। दोनों में अन्तर बहुत ही स्वल्प है। विष्णु० ५, २१ का पाठ है 'इत्येष प्राकृतः सर्गः सम्भूतो बुद्धिपूर्वकः' जो मारकण्डेय तथा शि०,महा० के पूर्वोक्त श्लोक पाठ के अनुसार 'अबुद्धिपूर्वक' ही होना चाहिये।
अधिकांश पुराणों को सर्गविषयक नव संख्या ही मान्य है, किन्तु श्रीमद्भागवत ने इसमें एक संख्या और बढ़ाकर इसकी संख्या दश बतलाई है। (द्रष्टव्य भाग० ३, १०, २८।

२. गीता के अनुसार 'ब्रह्मसर्ग' में स्थित ब्रह्मन् शब्द महत्–ब्रह्म अर्थात् बुद्धितत्त्व का बोधक है:—
श्लोक—मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ गीता, १४, ३।
सांख्यदर्शन भी पुरुष एवं प्रकृति के संयोग का प्रथम परिणाम बुद्धि अथवा महत्तत्त्व को ही मानता है। यही मत यहां भी प्रतिपादित किया गया है।

३. सांख्य में तन्मात्र को ही 'अविशेष' के नाम से भी कहा गया है। (सांख्य० ३४, एवं गौडपादभाष्य)।

काल में उन्हीं से तमोमय मोह (अज्ञान), महामोह (भोगेच्छा), तामिस्र (क्रोध), अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) तथा अविद्या प्रादुर्भूत हुई[4]। इसके अतिरिक्त उनके पुनः ध्यानकाल में जो सृष्टि हुई वह ज्ञानशून्य, भीतर बाहर से तमोमय तथा जड नगादि (वृक्ष, गुल्म, लता, तृण, वीरुध्) रूप पंचविध जडपदार्थों की थी। यह जड-सृष्टि भूतल पर अपनी चिरस्थायिता के कारण ही मुख्यसृष्टि कही गई है--'मुख्या वै स्थावराः स्मृताः' (शिवमहा०७,१,१२ १५)[5]।

शिवमहापुराण, चेतन पदार्थों की भाँति उक्त पंचविध जडसृष्टि में भी बुद्धि एवं इन्द्रियों की सत्ता बतलाता है। किन्तु इन दोनों में अन्तर यह है कि जहां पर चेतन प्राणियों की बुद्धि एवं इन्द्रियाँ उन्मुक्त रहती हैं वहीं पर जडपदार्थों की बुद्धि तथा इन्द्रियाँ चारों ओर से तम से आवृत रहती हैं[6]।

(२) तिर्यक् सर्ग - ब्रह्मा ने इस प्रथम सृष्टि को पुरुषार्थ के लिए असाधिका जानकर अप्रसन्न मन हो दूसरी सृष्टि का निश्चय कर पुनः ध्यान किया, उसी समय तिर्यक् योनि के जीवों का उदय हुआ[7]। इस सर्ग में पशु तथा पक्षियों की गणना होती है। ये सब जीव अन्तःप्रकाश तथा बाहर से अज्ञानावृत एवं अनुचित मार्ग का अवलम्बन करने वाले (उत्पथ-ग्राहिणः) होते हैं। स्थावर सृष्टि के बाद जंगम सृष्टि का यह प्रथम उदय हुआ।

(३) देवसर्ग – इस सृष्टि को भी परम पुरुषार्थ का असाधक जानकर खिन्न मन वाले ब्रह्मा ने अन्य सृष्टि का निश्चय कर उद्र्ध्वस्रोतस्, सात्त्विकवृत्ति देवों की सृष्टि की। इस सृष्टि के प्राणी सुखप्रधान (सुखप्रीतिबहुलाः) बाहर एवं भीतर प्रकाश से संयुक्त होते हैं।

(४) मनुष्यसर्ग देवसर्ग भी ब्रह्मा जी की दृष्टि में मोक्ष का असाधक ही निकला। अतः ब्रह्मा जी ने पुनः अपने ध्यान से एक नवीन प्राणिवर्ग का

---

४. सर्गं चिन्तयतस्तस्य तदा वै बुद्धिपूर्वकम्।
प्रध्यानकाले महस्तु प्रादुर्भूतस्तमोमयः। शिव०, ७, १, १२, १।
तमो मोहो महामोहस्तामिस्रश्चान्धसंज्ञितः।
अविद्या पंचमी चैषा प्रादुर्भूता महात्मनः ॥ वही, ७, १, १२, २।

५. तुलना कीजिए–'मुख्या वै स्थावराः स्मृता.' (विष्णुपु , १, ५, २१)।

६. बहिश्चान्तश्चाप्रकाशः स्तब्धा निःसंज्ञ एव च।
तस्मात्तेषां वृता बुद्धिर्मुखानि करणानि च ॥ शिव०, ७, १, १२, ४।

७. तं दृष्ट्वाऽसाधकं ब्रह्मा प्रथमं सर्गमीदृशम्। वही, ७, १, १२, ५।
अप्रसन्नमना भूत्वा द्वितीयं साऽभ्यमन्यत।
तस्याभिध्यायतः सर्गं तिर्यक्स्रोतोऽभ्यवर्तत ॥ वही, ७, १, १२, ६।

निर्माण किया जो पृथिवी पर ही भ्रमण करने वाले जीव थे (अर्वाक्स्रोतसः)। ये दुःखप्रधान (दुःखसमुत्कटाः) बाहर तथा भीतर प्रकाशशील होते हैं। इनमें सत्त्वगुण की न्यूनता तथा रजोगुण की अधिकता एवं तम का उद्रेक रहता है। यही वर्ग परम पुरुषार्थं का साधक माना गया है[८]।

(५) अनुग्रहसर्ग—अनुग्रह सर्ग चार प्रकार का बतलाया गया है—विपर्यय, सिद्धि, शक्ति तथा तुष्टि[९]।

३ कौमार सर्ग

कौमार सर्ग नवम सर्ग कहा गया है। पूर्वकाल में ब्रह्मा जी ने सनक आदि की मानसी सृष्टि की थी। ये मानसपुत्र ब्रह्मा जी के ही समान शक्ति-सम्पन्न तथा अध्यात्मविद्या में निपुण थे[१०]। कौमार सर्ग प्राकृत-वैकृत उभयात्मक माना गया है–'कौमारो नवमः प्रोक्तः प्राकृतो वैकृतश्च सः।' (२, १, १५,४७)। इसके अतिरिक्त इस सृष्टि के विषय में, शिव महापुराण में, विशेष विवरण नहीं प्राप्त होता[११]।

---

८. विष्णुपुराण (१, ५, १५, १८) के अनुसार मनुष्यों में सत्त्व, रज तथा तम—इन तीनों गुणों की अधिकता रहती है। तमाद्रेक के कारण वे दुःखबहुल, रजोद्रेक के कारण सदा कार्य संलग्न एवं सत्त्वोद्रेक के कारण बाह्य तथा आभ्यन्तर ज्ञान से सम्पन्न होते हैं।

९. पंचमोऽनुग्रहः सर्गश्चतुर्धा संव्यवस्थितः।
विपर्ययेण शक्त्या च तुष्ट्या द्विधा तथैव च ॥ शिव० ७, १, १२, १२।
तुलना कीजिये—पंचमोऽनुग्रहः सर्गश्चतुर्धा स व्यवस्थितः।
विपर्ययेण शक्त्या च तुष्ट्या सिद्धया तथैव च ॥ मार्क०, ४७, २८।
वायु० ६, ५७।

टिप्पणी (क) विष्णुपुराण ने अनुग्रह सर्ग को सात्विक तामस कह कर सामान्य संकेत मात्र कर दिया है। वायु० (६, ६७, ६८) में इन चारों की व्यवस्था भी की गई है–स्थावरों में रहता है विपर्यास, तिर्यग्योनि में शक्ति, मनुष्यों में तुष्टि तथा देवों में सिद्धि।

(ख) यहां भावों की सृष्टि अभिप्रेत है। सांख्य में यह प्रत्यय सर्ग कहा गया है जिसके चार भेद–विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि तथा सिद्धि नाम से बतलाये गये हैं (द्रष्टव्य सांख्यकारिका, कारिका ४६)।

१०. अग्रे ससर्ज वै ब्रह्मा मानसानात्मनः समान् । शिव० ७, १, १२, १६।

११. यहां यह स्मरणीय है कि इस नवविध सृष्टि के विषय में शिवमहापुराण एवं विष्णुपुराण में, अन्यपुराणों की अपेक्षा, बहुलांश में साम्य है। कहीं-कहीं तो दोनों में श्लोक के श्लोक समानरूप से उपलब्ध होते हैं।

शिवमहापुराण में उक्त नवविध सर्ग के अतिरिक्त दो प्रकार के सर्गों का नाम और मिलता है। इनके नाम हैं—रौद्री सृष्टि एवं ब्राह्मी सृष्टि।

१. रौद्रीसृष्टि –

ब्रह्मा जी ने सृष्टि की वृद्धि के लिए सनत्कुमार सनक आदि को मानसी सृष्टि की थी, किन्तु संसार तथा सन्तान के प्रति वे (सनकादि) उदासीन ही रहे। अतः सृष्टि की कामना से ब्रह्मा जी ने पुनः परम तप किया। किन्तु उनकी तपस्या का जब कोई फल न निकला तब उन्हें बड़ा क्रोध हुआ। उसी समय क्रुद्ध ब्रह्मा के नेत्रों से अश्रु के बिन्दु भूतल पर टपक पड़े। इन्हीं अश्रु-बिन्दुओं से भूतों एवं प्रेतों की उत्पत्ति हुई[१२]। इनके प्रादुर्भाव को देखकर ब्रह्मा जी मूर्छित हो अपने प्राणों का परित्याग कर दिये[१३]। उसी समय वहां भगवान् नील-लोहित रुद्र (परमात्म-शिव) का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने अपने आपको एकादश रूपों में विभक्त कर ब्रह्मा को जीवनदान दिया। आगे ये ही एकादश रुद्र के नाम से संसार में विख्यात हुए। इन रुद्रों का प्रादुर्भाव संसारके कल्याण एवं प्रजा की सन्तान-वृद्धि के लिए हुआ था[१४]।

ब्राह्मी सृष्टि

भगवान् रुद्र (परमात्म-शिव) के द्वारा जीवन एवं सृष्टि के लिये आज्ञा प्राप्त कर ब्रह्मा जी ने मरीचि, भृगु, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, दक्ष, अत्रि, वशिष्ठ, धर्म, संकल्प[१५] नामक द्वादश मानसपुत्रों की सृष्टि की। ब्रह्मा के

---

१२. तस्यैवं तप्यमानस्य न किंचित्समवर्तत ।। शिव० ७, १, १२, २२।
तती दीर्घेण कालेन दुःखात् क्रोधो व्यजायत।
क्रोधाविष्टस्य नेत्राभ्यां प्रापतन्नश्रुबिन्दवः ।। वही, ७, १, १२, २३।
ततस्तेभ्योऽश्रुबिन्दुभ्यो भूताः प्रेतास्तदाभवन्। वही, ७, १, १२, २४।

१३. सर्वांस्तानश्रुजान् दृष्ट्वा ब्रह्मात्मानमनिन्दत ।।
तस्य तीव्राऽभवन्मूर्छा क्रोधामर्षसमुद्भवा।
मूर्छितस्तु जहौ प्राणान् क्रोधाविष्टः प्रजापतिः ।। वही, ७, १, १२, २४-२५।

१४. विष्णु, १, ७, ११-१५, मार्क० ५२ अ० २-१० श्लो० में यह कथा किंचिद् भिन्न है। वहाँ इन रुद्रों का आविर्भाव अर्द्धनारीश्वर के पुरुष भाग से बतलाया गया है। शिव महापुराण की रुद्रसंहिता के सृष्टिखण्ड के पंचदश अध्याय में भी नवविध सृष्टि का वर्णन है। वहाँ वर्णित रुद्रसर्ग विष्णु० एवं मार्क० पुराण में कथित रुद्र-सर्ग से कुछ अधिक साम्य रखता है।

१५. शिवमहापुराण की पूर्ववायवीयसंहिता के द्वादश अध्याय में, जहाँ कि ब्रह्मा के इन मानसपुत्रों का नामोल्लेख है, ब्रह्मा के उक्त पुत्रों की संख्या द्वादश बतलाई जाने पर भी नामोल्लेख एकादश का ही हुआ है। एक नाम की वहाँ कमी है।

इन पुत्रों ने सनकादि का अनुकरण न कर विवाह कर गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत किया[16]। आगे चलकर इनके द्वादश वंश विस्तार एवं ख्याति को प्राप्त हुये[17]। इन्हीं से सृष्टि का विस्तार हुआ।

प्रतिसर्ग

शिवमहापुराण के अनुसार परार्द्ध की समाप्ति पर प्रतिसर्ग हुआ करता है[18]। ब्रह्मा के एक दिन का नाम कल्प एवं परार्द्ध है। इस एक दिन में ही चतुर्दश मनुओं का काल बीतता है। प्रचलित कल्प में अनेक संक्षिप्त सृष्टियाँ एवं प्रतिसृष्टियाँ बतलाई गई हैं[19]। प्रत्येक मन्वन्तर में भी सर्ग एवं संहार समान रूप से चला करता है। कल्प की समाप्ति पर अत्यन्त प्रचण्ड काल मारुत सम्पूर्ण वृक्षों एवं वनों को उन्मूलित कर देता है। पावक त्रिलोकी को तृण की भाँति भस्म कर देता है। सागर अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर बैठता है। सम्पूर्ण पृथिवी मूसलाधार वृष्टि के कारण जलमग्न हो जाती है। पुनः निद्रा की समाप्ति पर ब्रह्मा जी सूकर का रूप धारण कर पृथिवी का उद्धार करते हैं और पुनः सृष्टि का क्रम आगे की ओर बढ़ता है। यही है शिवमहापुराण में वर्णित संक्षिप्त, प्रतिसर्ग का स्वरूप[20]। प्रतिसर्ग के लिये

---

१६ सह रुद्रेण सम्भूताः पुराणाः गृहमेधिनः ॥ शिव० ७, १, १२, ५० ।

१७. तेषां द्वादशवंशाः स्युर्दिव्या देवगणान्विताः । वही, ७, १, १२, ५१ ।

१८. कालसंख्याविवृत्तस्य परार्द्धो ब्रह्मणः स्मृतः ।
तावांश्चैवास्य कालोऽन्यस्तस्यान्ते प्रतिसृज्यते ॥ वही, ७, १, ११, २ ॥

१९. य एष खलु कल्पेषु कल्पः सम्प्रति वर्तते ।
तत्र संक्षिप्य वर्तन्ते सृष्टयः प्रतिसृष्टयः ॥ वही, ७, १, ११, ६ ।

२०. तुलना—श्रीमद्भागवत् में प्रलय के चार भेद बतलाये गये हैं :—(१) नैमित्तिक प्रलय—यह प्रलय कल्प की समाप्ति पर अर्थात् ब्रह्मा जी के एक दिन व्यतीत होने पर होता है। (२) प्राकृत प्रलय :—यह प्रलय ब्रह्मा जी की आयु की समाप्ति पर सम्पन्न होता है। (३) आत्यन्तिक प्रलय:—इस प्रकार के प्रलय का काल की परिधि अथवा सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। यह कभी भी घटित हो सकता है। (४) नित्यप्रलय:—इस प्रकार का प्रलय काल के प्रभाव के कारण प्रतिक्षण होता रहता है अर्थात् पदार्थों के प्रतिक्षण के परिवर्तन को नित्य प्रलय की संज्ञा दी गई है।

विभिन्न पुराणों में विभिन्न शब्द प्रयुक्त हुये हैं[२१]। प्रतिसर्ग का उल्लेख कतिपय पुराणों में हुआ है[२२]।

---

२१. 'अन्तरसर्ग' 'प्रतिसर्ग' (शिव० ७, १, ११, १-२)। अन्तर प्रलय (ब्रह्म० २३२,११) अन्तगाला उपसंहृति (वष्णु० ६, २, ४०); आभूतसंप्लव, उदाप्लुत (भाग० ३, ८, १०); निरोध, संस्था (भाग० १२, ७, १७) प्रतिसंक्रम, प्रतिसंचर, प्रतिसंसर्ग, संप्लव (भाग०, १२, ४, ६४); उपसंहृति, एकार्णवावस्था, तत्त्वप्रतिसंयम (वायु० १०२, ४७) आदि।

२२. ब्रह्म० २३१,१-२३३, ७५; विष्णु० ६. ३, १-७, १०, ४; वायु० १००,१३२-१०२, १३५; भागवत०, १२ स्क०; ४ अ०; मार्क० ४६, १-४४; कूर्म्म० २, ४५, ४-४६, ६५; गरुड०, १, २१५, ४-२१७, १७; ब्रह्माण्ड० ३,१, १२८-३, ११३।

उत्तरार्द्ध

[illegible]

प्रथम अध्याय

शिव के अवतार

अवतार शब्द की व्याख्या

'अवतार' शब्द की व्युत्पत्ति 'अव' उपसर्गपूर्वक 'तृ' धातु से 'घत्र्' प्रत्यय से निष्पन्न होती है। इसके लिये पाणिनि का एक विशिष्ट सूत्र है—'अवे तृस्त्रोर्घत्र' (३, ३, १२०)। इस सूत्र से निष्पन्न "अवतार" शब्द का अर्थ है किसी उच्च स्थान से नीचे के स्थल पर उतरने की क्रिया अथवा उतने का स्थान। इस सामान्य अर्थ के अतिरिक्त इसका एक विशिष्ट अर्थ भी है—किसी लोकातिशायी ऐश्वर्य सम्पन्न भगवत्पदाभिधेय सत्ता अथवा देवता का ऊपर के लोक से भूतल पर उतरना तथा अपनी इच्छानुसार मानव अथवा अमानव के रूप को धारण करना। विशेष रूप से अवतार शब्द का यही अर्थ लोकमानस में प्रतिष्ठित है। इसी अर्थ में पुराणों में भी 'आविर्भाव' शब्द का बहुधा प्रयोग किया जाता है। अवतार की प्रक्रिया तीन रूपों में सम्पन्न होती है—एक तो कार्यवश (विशेषतया भक्त की रक्षा के हेतु) अपने मूल रूप (अपरिवर्तित रूप) में प्रकट होकर उद्देश्य की पूर्ति करना; दूसरा है रूप का परिवर्तन (अपने रूप का परित्याग कर कार्यवश नूतन स्वरूप का ग्रहण करना); तीसरा है नवीन जन्मधारण कर तत्तद्रूपों में आना। तृतीय अवस्था में सामान्य प्राणी की भाँति माता की कुक्षि में उचित कालतक निवास करना भी सम्मिलित है। भगवान् के लिये उपर्युक्त तीनों ही अवस्थायें उपयुक्त तथा सुलभ हैं। 'अवतार' की बात किसी अलौकिक शक्ति से सम्पन्न सत्ता शंकर विष्णु तथा इन्द्रादि के लिये ही उपयुक्त मानी गई है। कार्यवश भगवान् का विना रूप परिवर्तन किये ही आविर्भूत होना 'अवतार' के ही अन्तर्गत माना गया है। शिवमहापुराण में भगवान् शिव के विभिन्न अवसरों पर प्रायः इसी प्रकार के अवतार वर्णित हैं। वैष्णव अवतारों में भी प्रह्लाद का विपत्ति से उद्धार के लिये विष्णु का अपने ही रूप में आविर्भाव विष्णुपुराण[1] में तथा

---

१. तस्य तच्चेतसो देवः स्तुतिमित्थं प्रकुर्वतः।
आविर्बभूव भगवान् पीताम्बरधरो हरिः॥ विष्णु० १, २०, १४।

गजेन्द्रमोक्ष के लिये विष्णु का स्वरूपतः प्रादुर्भाव भागवत महापुराण (१, ३) में वर्णित है। इन अवतारों में रूप-परिवर्तन की बात नहीं है।

अवतार का प्रयोजन और समय

भगवान् शिव के अवतारों का वर्णन शिव महापुराण में उसी प्रकार प्रधानता के साथ किया गया है जिस प्रकार वैष्णव पुराणों में विष्णु के अवतारों का। अवतार तत्त्व पुराण के विषयों में अन्यतम है। अवतार का धर्म-नियमन ही प्रधान प्रयोजन माना गया है। धर्मनियमन अथवा संस्थापन एवं भक्त-रक्षण भगवान् शिव के अवतारों का प्रधान कारण है। सम्पूर्ण शिव महापुराण को देखने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् शिव का प्रादुर्भाव अधिकतर भक्त की रक्षा एवं कल्याण के लिये ही हुआ करता है। धर्म एवं भक्त का सरक्षण सर्वशक्तिमान् शिव की एक विशिष्ट शक्ति का विलास है। जब जब धर्म की ग्लानि एवं अधर्म का अभ्युत्थान होता है तथा भक्त पर विपत्ति के मेघ गर्जन करते हैं तब-तब भगवान् अपने को इस विश्व में उत्पन्न करते हैं। दिव्य लोक से, जिसकी स्थिति सर्वोच्च बतलाई जाती है, इस भूतल पर भगवान् का अवतरित होना (उतरना) ही 'अवतार' पद-वाच्य होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अवतार के जो तत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा गीता में सर्वप्रथम बतलाये गये हैं[२]। उन्हीं का प्रभाव पुराणों पर भी पड़ा है।

ऋक्संहिता में अवतार के बीज :—

अवतार के बीज स्पष्ट रूप से वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। ऋग्-वेद के अनुशीलन से इसके अनेक मन्त्रों में अवतार के संकेत प्राप्त होते हैं। अवतार का सम्बन्ध पुनर्जन्मवाद के साथ घनिष्ठ रूप से माना जाता है और विद्वानों की दृष्टि में पुनर्जन्म अथवा आत्मा के संसरण के सिद्धान्त ऋग्वेद के मन्त्रों में यत्र-तत्र पाये जाते हैं। ऋग्वेद के इन मन्त्रों में इन्द्र को अपनी माया के द्वारा नाना रूपों के धारण करने का तत्त्व प्रतिपादित किया गया है—

(क) रूपं रूपं मघवा बोभवीति
मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।

२. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ गीता० ४, ३-४।

त्रिर्यद् दिवः परिमुहूर्तमागात्
स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥ ३, ५३, ८ ।
(ख) रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते
युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशः ॥ ६, ४७, १८ ।

इन मन्त्रों में इन्द्र मायाओं के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप धारण करने वाले बतलाये गये हैं। 'माया' का वैदिक अर्थ अवान्तर लोक-प्रचलित अर्थ से भिन्न माना जाता है। अतः आचार्य सायण ने इसका अर्थ ज्ञान, शक्ति अथवा आत्मीय संकल्प किया है। परन्तु महाभारत के काल में इसका व्यवहार प्रचलित अर्थ में हो गया था। यही कारण है कि पूर्वोक्त मन्त्रों के आधार पर ही वहाँ इन्द्र को 'बहुमायः' बतलाया गया है[३]। यह प्रयोग नवीन अर्थ में ही किया गया है।

ऋग्वेद[४] (१, ५१, १३) में इन्द्र वृषणश्व की मेना नाम्नी दुहिता का रूप धारण करने वाले कहे गये हैं। सायण के इस मन्त्र के अर्थ का आधार शाट्यायन तथा ताण्डय ब्राह्मण के तत्तत् स्थल हैं[५] जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्राह्मण युग में यह आख्यायिका पर्याप्त प्रचलित हो गई थी। ऋग्वेद[६]

३. स (इन्द्रः) हि रूपाणि कुरुते विविधानि भृगूत्तम ।
बहुमायः स विप्रर्षे बलहा पाकशासनः ॥ महाभा० अनु० ७५, २५ ।

४. 'अददा अर्भां महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते ।
मेनाऽभवो वृषणश्वस्य सुक्रतो विश्वेत्ता ते सवनेषु प्रवाच्या ॥'

५. उक्त ऋचा पर आचार्य सायण का भाष्य :–
'वृषणश्वस्य एतदाख्यस्य राज्ञः··· ···मेना नाम कन्यका अभूः। तथा च शाट्यायनिभिः सुब्रह्मण्यामन्त्रैकदेशव्याख्यानरूपं ब्राह्मणमेवमाम्नायते-वृषणश्वस्य मेन इति वृषणश्वस्य मेना भूत्वा मघवा कुल उवासेति। तां च प्राप्तयौवनां स्वयमेवेन्द्रश्चकमे। तथा च ताण्डिभिराम्नातं-वृषणश्वस्य मेना नाम दुहितास, तामिन्द्रश्चकम इति। ··· ··· मेनेति स्त्रीनाम मेना ग्ना इति पाठात्। मन ज्ञाने। मन्यते गृहकृत्यं जानातीति मेना। ··· ···मेना मानयन्त्येना इति यास्कः।

६. 'यस्ते शृंगवृषो नपात्प्रणपात्कुण्डपाय्यः। न्यस्मिन्दध्र आ मनः' ॥ इस पर सायण का भाष्य इस प्रकार है —
'······शृंगवृषो नाम कश्चिदृषिस्तस्य चेन्द्रः स्वयमेवपुत्रतया जज्ञे इत्याख्यायिका यद्वा आदित्यस्य रक्षितः।'

(८.१.१३) में इन्द्र 'शृङ्गवृष' के पुत्र का रूप धारण करने वाले कहे गये हैं। इन दोनों स्थलों पर इन्द्र के अवतार का स्पष्ट प्रमाण मिलता है।

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद संहिता में इसी प्रकार के और बहुत से वाक्य हैं जिनमें अवान्तरकालीन अवतारवाद के बीज स्पष्ट रूप से निहित हैं। किन्तु आवश्यक न होने से यहाँ उनका निर्देश नहीं किया जा रहा है।

ऋग्वेद के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अवतारवाद के समर्थन की बात उपलब्ध होती है। यहाँ ऋग्वेद के अवतारवाद के आभासक बीज विशेष रूप से विकसित दिखलाई पड़ते हैं। इस भावना का स्पष्ट रूप हमें शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। प्रजापति ने ही मत्स्य (१, ८, १, १,) का, कूर्म का (७, ५, १, ५; १४, १, २-११) तथा वाराह का (१४, १, २, ११) अवतार लिया था, ऐसा शतपथ ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है।

अवतार की यह भावना रामायण एवं महाभारत काल तक पूर्ण विकसित हो चुकी थी। पुराण तो इन अवतारों के प्रधान वर्णन-स्थल रहे हैं। एक एक अवतार को लेकर एक-एक पुराण की रचना भी पुराण काल में प्रचलित अवतारवाद की प्रचण्ड भावना का ही ज्वलन्त उदाहरण है।

शिव के विभिन्न अवतार

विष्णु की भांति शिव भी एक अनादि एवं मौलिक (original) तथा श्रेष्ठतम देवता माने जाते हैं। वैष्णव पुराणों में जिस प्रकार विष्णु के उत्पादक (जननी-जनक) का संकेत नहीं किया गया है, उसी भांति शिव महापुराण में शिव के भी माता-पिता का निर्देश कभी नहीं किया गया है। इस विषय में शिवमहापुराण में एक बड़ी ही मनोरंजक कथा आती है-जिस समय हिमवान पार्वती एवं शंकर के विवाह के अवसर पर कन्यादानके लिए विवाह मण्डप में आया तब परिहास में ही उसने शंकर से उनका गोत्र, प्रवर, कुल, नाम, वेद तथा शाखा पूछी[७]। उस समय भगवान् शंकर निरुत्तर हो बड़े ही असमंजस में पड़े, क्योंकि आदि अन्त विहीन भगवान् शंकर का भला क्या गोत्र आदि हो सकता है? उनकी इस स्थिति को देखकर नारद ने अपनी वीणा को निनादित करते हुये कहा कि निर्गुण, अनादि, निर्विकारी मायाधीश, शंकर का भला क्या नाम गोत्र आदि हो सकता है? यह तो पार्वती की तपश्चर्या का परिणाम है कि निराकार होते हुये भी भगवान् शंकर रूप धारण

---

७. स्वगोत्रं कथ्यतां शम्भो प्रवरश्च कुलं तथा।
नाम वेदं तथा शाखां माकार्षीः समयात्ययम्॥ २, ३, ४८, ७।

कर तुम्हारे जामाता हुये हैं। किन्तु यदि फिर भी तुम इनके नाम गोत्र आदि को जानना ही चाहते हो तो यह जानो कि अपनी लीला से रूप को धारण करने वाले, सगुण, महेश का गोत्र एवं कुल केवल नाद (जिसकी मैंने वीणा से ध्वनि की है) ही है। शिव नादमय हैं। और नाद शिवमय है। नाद और शिव में कुछ भी अनन्तर नहीं है। सृष्टि में सर्वप्रथम, लीला से सगुण रूप धारण करने वाले शिव से, यह नाद ही उत्पन्न हुआ था, यही कारण है कि यह सर्वोत्कृष्ट है और इसको सूचित करने के लिये ही मैंने वीणा-वादन किया है।'

यह कथा परमात्म-शिव के माता, पिता एवं जन्म के अभाव की ही सूचना देती है। तथापि कभी-कभी वे उत्पन्न हुये कहे जाते हैं। इन अवतारों के कारण और काल ऊपर वर्णित किये गये हैं। वैसे तो शिवमहापुराण की शतरुद्रसंहिता एवं कोटि रुद्रसंहिता में परमात्म-शिव के बहुत से अवतार वर्णित किये गये हैं, किन्तु उन सबका वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है तथापि उनमें से कुछ प्रसिद्ध अवतारों का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है :—

"अर्द्धनारीश्वरावतार"

जब ब्रह्मा जी के द्वारा रची गई प्रजा की वृद्धि न हुई तो उन्हें इसका बड़ा ही दुःख हुआ। वे चिन्ताकुल हो उठे। उनकी अवस्था को देखकर आकाशवाणी हुई 'ब्रह्मन्! मिथुन (स्त्री-पुरुष के संयोग) से उत्पन्न होने वाली सृष्टि कीजिये।' इस नभोवाणी का श्रवण कर ब्रह्मा जी ने मैथुनी सृष्टि करने का संकल्प किया। किन्तु उनके समक्ष एक समस्या थी; पूर्वकाल में परमात्मा ईशान (परमात्म-शिव) से नारियों का कुल निर्गत नहीं हुआ था, अतः वे मैथुनजा सृष्टि करने में समर्थ न थे[८]। उन्होंने सोचा कि शम्भु (परमात्म-शिव) के प्रभाव के बिना ऐसी प्रजा की सृष्टि असम्भव है। अतः सशक्तिक शिव (परमात्म-शिव) को सन्तुष्ट करने के लिये उन्होंने तपस्या प्रारम्भ कर दी। ब्रह्मा की उग्र तपस्या से परमात्म-शिव शीघ्र ही सन्तुष्ट हो 'अर्द्ध नारीश्वर' की मूर्ति को धारण कर उनके समीप गये[९]।

---

८. नारीणां कुलमीशानान्निर्गतं न पुरा यतः।
तती मैथुनजां सृष्टिं कर्तुं शेके न पद्मभूः॥ शिव० ३, ३, ४।

९. शिवाय परया शक्त्या संयुक्तं परमेश्वरम्।
संचिन्त्य हृदये प्रीत्या तताप परमं तपः॥ वही० ३, ३, ६।
अचिरेणैव कालेन तुतोष स शिवो द्रुतम्। वही, ३, ३, ७।
अर्द्धनारीनरो भूत्वा ययौ ब्रह्मान्तिकं हरः॥ वही, ३, ३, ८।

ब्रह्मा जी ने परमा शक्ति से संयुक्त परमात्म-शिव को देखकर प्रणामपूर्वक हाथ जोड़ उनकी अभ्यर्थना की[१०]। परमात्म-शिव ने भी प्रसन्न हो कहा 'पितामह ! मैं आपके अभीप्सित को जानता हूँ। तपश्चर्या से सन्तुष्ट हो आप के मनोरथ को पूर्ण कर रहा हूं।' ऐसा कहकर उन्होंने अपने शरीर में स्थित देवी शिवा (शक्ति) के अंश को पृथक् कर दिया[११]। उस परमा शक्ति को परमात्म-शिव से पृथक् देखकर विधाता ने उसकी स्तुति की और कहा कि 'देवि ! मैं बारम्बार देवों की मानसी सृष्टि करता हूं, किन्तु उनकी अभिवृद्धि नहीं होती। अतः अब मैं मिथुनप्रभवा सृष्टि कर अपनी प्रजा की वृद्धि करना चाहता हूं, किन्तु आजतक आप से नारीकुल नहीं निर्गत हुआ है, अतः उसकी सृष्टि करने में मैं समर्थ नहीं हूँ[१२]। संसार की समग्र शक्तियों का समुद्भव आप से ही हुआ है, अतः आप मुझे नारीकुल की सृष्टि करने के लिये शक्ति प्रदान करें, जिससे इस संसार की वृद्धि हो"[१३]। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा ने उस परमा शक्ति से अपने पुत्र दक्ष की पुत्री होने की भी प्रार्थना की। उनकी इस प्रार्थना में भी चराचर की वृद्धि ही कारण थी[१४]।

ब्रह्मा जी की उक्त प्रार्थना को स्वीकार कर उस परमा शक्ति ने 'तथास्तु' कह कर उन्हें स्त्री-सर्ग-शक्ति प्रदान की और उनकी द्वितीय प्रार्थना को मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने अपनी भ्रुकुटि के मध्य से अपने ही समान कान्ति वाली एक शक्ति की सृष्टि की। परमात्म-शिव के आदेश एवं ब्रह्मा की प्रार्थना से इसी शक्ति ने दक्ष के घर उनकी पुत्री के रूप में जन्म लिया[१५]। शक्ति का यह अवतार आंशिक कहा गया है[१६]।

---

१०. तं दृष्ट्वा शंकरं देवं शक्त्या परमयान्वितम्।
प्रणम्य दण्डवद् ब्रह्मा स तुष्टाव कृतांजलिः॥ शिव० ३, ३, ६।

११. पृथक् चकार वपुषो भागाद्देवीं शिवां शिवः। वही, ३, ३, १३।

१२. न निर्गतं पुरा त्वत्तो नारीणां कुलमव्ययम्।
तेन नारीकुलश्रेष्ठं (स्रष्टुं) मम शक्तिर्न विद्यते॥ वही, ३, ३, १८।

१३. शिवे नारीकुलं स्रष्टुं शक्तिं देहि नमोऽस्तु ते।
चराचरं जगद् विद्धि हेतोर्मातः शिवप्रिये॥ वही, ३, ३, २०।

१४. चराचरविवृद्ध्यमशेनैकेन सर्वगे।
दक्षस्य मम पुत्रस्य पुत्री भव भवाम्बिके॥ वही, ३, ३, २२।

१५. तामाज्ञां परमेशस्य शिरसा प्रतिगृह्य सा।
ब्रह्मणो वचनाद्देवी दक्षस्य दुहिताऽभवत्॥ वही, ३, ३, २७।

१६. देखिये—उदाहरण नम्बर १४।

सृष्टिकर्त्ता के मनोरथ को पूर्ण कर उक्त परमा शक्ति पुनः परमात्म-शिव के शरीर में प्रविष्ट हो गई[१७]। उसी समय से मैथुनी सृष्टि का प्रारम्भ हुआ। तभी से बराबर प्रजा की वृद्धि होने लगी।

स्त्री-पुरुष रूप जगत् की सृष्टि के लिये उसके (जगत् के) मूल में अर्द्धनारीश्वर शिव की कल्पना शैवधर्म एवं मत की अपनी विशिष्टता है। इस प्रकार की कल्पना का अन्य मतों में नितान्त अभाव है। जैसा कि ऊपर के प्रसंगों से अभिव्यक्त है, अर्द्धनारीश्वरावतार दर्शन-क्षेत्र में कल्पित शक्तिमान् शिव (परमात्म-शिव) की स्थूलरूप से अभिव्यक्ति ही है।

नन्दीश्वरावतार

जिस प्रकार परमात्म-शिव का अर्द्धनारीश्वरावतार सृष्टि की विवृद्धि के लिए हुआ था, उसी प्रकार उनके कतिपय अवतार सृष्टि की स्थिति, जिसमें प्रजा का उपकारादि भी सम्मिलित है, के लिये हुआ करते हैं। परमात्म-शिव का नन्दीश्वरावतार इसी प्रकार के अवतारों में अन्यतम है।

शालंकायन[१८] के सुयोग्य पुत्र शिलाद ने अपना विवाह नहीं किया था। अतः वे निःसन्तान थे। जब उनके पितरों ने देखा कि शिलाद के अनन्तर उनके कुल में निवापांजलि का दाता कोई भी न रहेगा तो उन लोगों ने सन्तति के लिये शिलाद को प्रेरित किया। पितरों की आज्ञा को शिरोधार्य कर, उनके उद्धार के लिये शिलाद ने सन्तति की कामना से शक्र को उद्देश्य कर बहुत काल पर्यन्त सुदुःसह तप किया। उनके कठोर व्रत से सन्तुष्ट होकर इन्द्र जब वर देने के लिए आये तो तपस्वी शिलाद ने उनसे इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया 'हे शतक्रतो! यदि आप मुझ से सन्तुष्ट हैं तो मुझे एक अयोनिज एवं मृत्युहीन पुत्र दें[१९]।'

तपस्वी की अभ्यर्थना को सुनकर इन्द्र ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा 'पुत्रार्थिन्! मुझ में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि मैं किसी को अयोनिज एवं मृत्युहीन पुत्र प्रदान कर सकूं। मैं तो योनिज एवं मरणधर्मा ही पुत्र प्रदान कर सकता हूं। और मैं ही क्यों, हरि एवं विधि भी ऐसा नहीं कर सकते;

---

१७. दत्त्वैवमतुलां शक्तिं ब्रह्मणे सा शिवा मुने।
बिवेश देहं शम्भोर्हि शम्भुश्चान्तर्दधे प्रभुः॥ शिव० ३, ३, २८।

१८. शालङ्कायनपुत्रो वै शिलादः पुत्रवत्सलः। वही, ३, ६, ४६।

१९. शतक्रता सुरेशान सन्तुष्टो यद्धि मे प्रभो।
अयोनिजं मृत्युहीनं पुत्रमिच्छामि सुव्रतम्॥ वही, ३, ६, ६।

यतः त्रिपुरारि के अंग से उत्पन्न होने के कारण वे भी मरणान्वित ही हैं। निगम में उनकी भी आयु का मान कहा गया है। अतः आप अयोनिज एवं मृत्युरहित पुत्र की आशा का परित्याग कर आत्मक्षम पुत्र को ही ग्रहण करें। परमात्म-शिव के अतिरिक्त कोई भी ऐसा पुत्र प्रदान करने में नहीं समर्थ हैं; अतः यदि आप ऐसे ही पुत्र की कामना करते हैं तो भगवान् महादेव की आराधना करें।'

असमर्थता प्रकट कर इन्द्र के अपने लोक को चले जाने पर शिलाद ने दिव्य सहस्र वर्ष पर्यन्त बड़ी अद्भुत, विस्मयकारी तपस्या, परमात्म-शिव को सन्तुष्ट करने के लिये की। उनकी तपस्या से सन्तुष्ट हो भगवान् शंकर ने उन्हें दर्शन देकर वर मांगने को प्रेरित किया। उनके इस अनुग्रह से अभिभूत हो अतः हाथ जोड़कर शिलाद ने विनम्र शब्दों में कहा—'आपके समान मृत्युहीन तथा अयोनिज पुत्र चाहता हूँ।'

महामुनि की प्रार्थना को सुनकर उत्तर में भगवान् शंकर बोले—'विप्र! कुछ समय पहले ब्रह्मा एवं अन्य देवों तथा मुनियों ने अवतार के लिये मुझ से प्राथना की थी, आज उसका सुयोग आ गया है। मैं आपका अयोनिज पुत्र होऊंगा। मेरा नाम नन्दी होगा तथा सम्पूर्ण संसार के पिता मेरे भी आप पिता होंगे[२०]।'

कुछ समय के बीतने पर शिलाद ने यज्ञ करने का विचार कर यज्ञाङ्गण का कर्षण कराना प्रारम्भ किया। उसी समय पृथिवी से अति तेजस्वी एक बालक उत्पन्न हुआ। उसकी तीन आंखें एवं चार भुजायें थीं[२१]। वह जटा-मुकुट धारण किये हुये था। उसके हांथों में वे ही आयुध विराजमान थे जो शम्भु के बतलाये गये हैं। उत्पन्न होते ही उस बालक ने प्रणम्य लोगों को प्रणाम किया। शिलाद ने उसका नाम 'नन्दी' रक्खा, यतः उसके प्रादुर्भाव से वे नन्दित हुये थे। 'नन्दी' परमात्म-शिव (महादेव) के अंशावतार थे[२२]।

---

२०. तव पुत्रो भविष्यामि नन्दी नाम्ना त्वयोनिजः।
पिता भविष्यसि मम पितुर्वै जगतां मुने॥ शिव० ३, ६, ३४।

२१. कियता चैव कालेन तदाऽसौ जनकः स मे।
यज्ञाङ्गणं चकर्षाशु यज्ञार्थं यज्ञवित्तमः॥ वही, ३, ६, ३७।
ततः क्षणादहं शम्भास्तनुजस्तस्य चाज्ञया।
स जातः पूर्वमेवाहं युगान्ताग्निसमप्रभः॥ वही, ३, ६, ३८।
त्र्यक्षं चतुर्भुजं बालं जटामुकुटधारिणम्॥ वही, ३ ६, ४३।

२२. 'नन्दी' से 'सनत्कुमार' ने प्रश्न किया—'भगवन्, कथमनुप्राप्तो महादेवांशजः शिवम्।' वही, ३, ६, १।

प्रसन्नता से अति विह्वल शिलाद जब उस नवजात महापुरुष को लेकर अपने उटज में पहुँचे तब उसने अपने अलौकिक रूप का परित्याग कर मानव रूप को धारण कर लिया। अपने पुत्र की इस गति को देखकर शिलाद दुःखी तो अवश्य हुये पर वे करते क्या ? अतः अपने कष्ट को रोककर उन्होंने 'नन्दी' के जातकर्म आदि सम्पूर्ण संस्कारों को किया। शनैः शनैः नन्दी के बढ़ने पर उन्होंने उने सांगोपांग वेदों एवं अन्य शास्त्रों को पढ़ाया।

'नन्दी' को जन्मे सप्त वर्ष व्यतीत हो चुके थे। एक दिन भगवान् शंकर के द्वारा प्रेषित मित्रावरुण नामक दो मुनि शिलाद के आश्रम पर पधारे। मुनि ने अपने अभ्यागतों का यथोचित आतिथ्य सत्कार किया। इसके अनन्तर नन्दी को देखकर अभ्यागत महर्षियों ने शिलाद से कहना प्रारम्भ किया—'तात् ! सम्पूर्ण शास्त्रों का पारगामी आप का यह 'नन्दी' अल्पायु है, अब इसकी आयु एक वर्ष से अधिक नहीं है[२३]। आगत महर्षियों के इन वचनों ने वज्र का काम किया। 'नन्दी' के पिता एवं पितामह मृतक के समान भूमि पर गिर कर विलाप करना प्रारम्भ किये। 'नन्दी' ने जब इस बात को जाना कि मेरे पिता एवं पितामह मेरी अल्पायु को बात ज्ञात कर दुःखी हो रहे हैं तब उसने तपस्या एवं महादेव के भजन से मृत्यु को जीतने का आश्वासन दे तपस्यार्थ वन को चला गया[२४]।

अरण्य की निर्जनता में नन्दी ने एक स्थान पर स्थित हो अपने हृदय-कमल में त्रिनेत्र, पञ्चवक्त्र, दशभुज, शान्त शिव का ध्यान करना प्रारम्भ किया। उसकी दुष्कर तपश्चर्या से तुष्ट हो भगवान् सोमार्द्ध-भूषण (परमात्म-शिव) ने दर्शन देकर कहा—'वत्स' नन्दिन् ! भला तुमको मृत्यु से भीति कैसे हो सकती है ? वे विप्र मेरे द्वारा प्रेषित किये गये थे। निःसंशय तुम मेरे समान हो[२५]। तुम अजर, अमर, अदुःखी एवं गणपति हो। तुम मुझे बहुत ही प्रिय हो। मेरे साथ तुम्हारा सर्वदा सहवास होगा। मेरे अनुग्रह से तुम्हें जरा, जन्म एवं मृत्यु किसी से भी भय न होगा।'

---

२३. तात नन्दी तवाल्पायुः सर्वशास्त्रार्थपारगः।
न दृष्टमेव चापश्यं ह्यायुर्वर्षादतः परम्॥ शिव० ३, ६, ५३।

२४. हे तात ! तपसा मृत्युं वंचयिष्ये न विद्यया।
महादेवस्य भजनान्मृत्युं जेष्यामि नान्यथा॥ वही, ३, ६, ६१।

२५. वत्स ! नन्दिन् ! महाप्राज्ञ ! मृत्योर्भीतिः कुतस्तव।
मयैव प्रेषितौ विप्रौ मत्समस्त्वं न संशयः॥ वही, ३, ७, १०।

ऐसा कह कर भगवान् शंकर ने अपनी शिरोमाला निकाल कर 'नन्दी' के कण्ठ में पहना दी। बस क्या था, उस माला के पहनते ही नन्दी को तीन नेत्र एवं दश भुज हो गये। वह दूसरे शंकर की भांति प्रतीत होने लगा। इसके अनन्तर भगवान् शंकर ने 'उमा' की सम्मति से सम्पूर्ण गणों एवं गणेशों तथा वेदों के समक्ष गणों के अधिपति के रूप में नन्दी का अभिषेक करवाया। उसी समय परमेष्ठी के नियोग से मरुतों की सुता सुन्दरी 'सुयशा' के साथ 'नन्दी' का विवाह भी हो गया[२६]।

भगवान् शंकर की प्रतिज्ञा है कि जहाँ पर नन्दी का निवास होगा वहाँ उनका भी निवास होगा और जहाँ उनका वास होगा वहाँ नन्दी की भी स्थिति होगी[२७]।

नन्दी के द्वारा तपश्चर्या करके शिवसाम्य प्राप्त करना, गणपति होना, आदि बातें वायवीय संहिता में स्वीकृत मुक्ति के सिद्धान्त से पूर्णसाम्य रखती हैं। वायवीय संहिता के अनुसार शिव की समता प्राप्त करना ही मुक्ति है[२८]। इस मुक्ति को प्राप्त कर लेने पर प्राणी पुनः कभी जन्म नहीं ग्रहण करता[२९]। वायवीय संहिता में शिव की समता रूप मुक्ति का जो संकेत किया गया है उसकी व्याख्या नन्दीश्वरावतार की कथा से बहुत ही स्पष्ट हो जाती है।

वीरभद्रावतार

वीरभद्र को परमात्म-शिव का अवतार माना गया है[३०]। इनकी उत्पत्ति दक्ष के प्रसिद्ध यज्ञविध्वंस की घटना से सम्बद्ध है। इनके प्रादुर्भाव तथा लीला के विषय में शिव-महापुराण में निम्नरूप से कथा प्राप्त होती है: –

जिस समय भगवान् शंकर ने अपने गणों एवं नारद जी के मुख से सती के अपमान और इसके परिणामस्वरूप उनके योगाग्नि में भस्म होने की बात

२६. उद्वाहश्च कृतस्तत्र नियोगात् परमेष्ठिनः।
मरुतां च सुता देवी सुयशा तु मनोहरा।
पत्नी सा मेऽभवद्दिव्या मनोनयननन्दिनी ॥ शिव० ३, ७, ४१।

२७. अहं यत्र भवाँस्तत्र यत्र त्वं तत्र चाप्यहम् ॥ वही, ३, ७, ५१।

२८. मुक्तः शिवसमो भवेत् ... ...। वही, ७, १, ३२, २२।

२९. शिवसाधर्म्यमासाद्य न भूयो विनिवर्तते। वही, ७, ?, २८ २९।

३०. विध्वंसी दक्षयज्ञस्य वीरभद्राह्वयः प्रभोः।
अवतारश्च विज्ञेयः शिवस्य परमात्मनः ॥ वही, ३, १०, १।

सुनी उस समय महान् रौद्र पराक्रम से सम्पन्न उन्होंने शीघ्र ही भयंकर क्रोध प्रकट किया। लोक-संहारकारी रुद्र ने अपने शिर से एक जटा उखाड़ी और उसे रोषपूर्वक पर्वत के ऊपर पटक दिया। भगवान् शंकर के पटकने से उस जटा के दो टुकड़े हो गये और महाप्रलय के समान भयंकर शब्द प्रकट हुआ। उस जटा के पूर्वभाग से महाभयंकर 'वीरभद्र' प्रकट हुये। वे भूमण्डल को सब ओर से व्याप्त करके उससे भी दश अंगुल अधिक होकर स्थित हुये। देखने में वे प्रलयाग्नि के समान प्रतीत होते थे। उनका शरीर बहुत ऊंचा था। वे एक हजार भुजाओं से युक्त थे। जटा के दूसरे भाग से महाकाली का प्रादुर्भाव बतलाया गया है।

वीरभद्र को आज्ञा पाने की मुद्रा में खड़े देख कर भगवान् शंकर ने उन्हें दक्ष के यज्ञ को विध्वस्त करने एवं विद्रोहियों के मर्दन को कहा। भगवान् शंकर की आज्ञा प्राप्त कर वीरभद्र ने यज्ञस्थल को प्रस्थान किया। उनके साथ और भी बहुत से गण थे। वीरभद्र की यात्रा शुभों एवं शकुनों से पूर्ण थी। उधर दक्ष को अनेक दुष्ट लक्षण दिखलायी पड़े। यज्ञस्थल पहुँचने पर यज्ञ की रक्षा में तत्पर विष्णु एवं देवों के साथ शिव के गणों का घोर संग्राम हुआ। वीरभद्र विष्णु से लड़ रहे थे। प्रबल प्रतिस्पर्धी वीरभद्र के तेज को असह्य ज्ञात कर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये। उनके जाते ही सम्पूर्ण देव एवं मुनि यथा-स्थान भाग गये अथवा वहीं गणों के द्वारा मारे गये। ब्रह्मपुत्र दक्ष भय के मारे अन्तर्वेदी के भीतर छिप गये थे। वीरभद्र उनका पता लगाकर उन्हें पकड़ लाये। पुनः उनके दोनों गाल पकड़कर उन्होंने उनके मस्तक पर तलवार से आघात किया। परन्तु योग के प्रभाव से दक्ष का शिर अभेद्य हो गया था, एतदर्थ वह कट न सका। जब वीरभद्र को ज्ञात हुआ कि शस्त्रास्त्रों से दक्ष के मस्तक का भेदन नहीं हो सकता, तब उन्होंने उसकी छाती पर पर रखकर दबाया और दोनों हाथों से उसकी गर्दन मरोड़कर तोड़ डाली। फिर शिवद्रोही दुष्ट दक्ष के उस शिर को गणनायक वीरभद्र ने अग्निकुण्ड में डाल दिया। इसके बाद जैसे सूर्य घोर अंधकारराशि का नाश करके उदयाचल पर आरूढ़ होते हैं, उसी प्रकार वीर वीरभद्र दक्ष एवं उसके यज्ञ का विध्वंस करके कृतकार्य हो शीघ्र ही वहां से श्रेष्ठ कैलास पर्वत को चले गये। वीरभद्र को कार्य पूरा करके आया देख परमेश्वर शिव मन ही मन बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने उन्हें वीर प्रमथ गणों का अध्यक्ष बना दिया[३१]।

---

३१. कृतकार्यं वीरभद्रं दृष्ट्वा सन्तुष्टमानसः।
शम्भुर्वीरगणाध्यक्षं चकार परमेश्वरः॥ शिव० २, २, ३७, ६८।

'दक्षयज्ञविध्वंस' की कथा से जो अनेक बातें प्रकाश में आती हैं, उनमें सर्वाधिक महत्त्वशाली बात है—प्राचीन काल में वैदिक अनुयायियों के द्वारा परमात्म-शिव का यज्ञ से बहिष्कार। यद्यपि पौराणिक शिव का विकास वैदिक देवमण्डल के देवता 'रुद्र' से ही हुआ है। 'रुद्र' वैदिककाल के 'विष्णु', 'इन्द्र' 'वरुण' आदि देवों की भाँति एक मान्य देवता थे। ऋग्वेद में उनके सम्बन्ध में रोचक स्तुतियां उपलब्ध होती हैं। तथापि कालान्तर में आर्यों के दैशिक विकास के साथ ही निश्चय ही, रुद्र ने अपने स्वभाव, जिसमें उनका ऋग्वेद में वर्णित भयावह स्वभाव प्रमुख है, के कारण आर्येतर जातियों के देवी-देवताओं को अवश्य ही आत्मसात् किया होगा और उनके स्वरूप तथा स्वभाव को भी ग्रहण किया होगा। इसके प्रमाण के रूप में उनके अशुचि वेश तथा क्रियाकलाप को देखा जा सकता है, जो अवश्य ही वैदिक आर्यों की मान्यता के विरुद्ध था। फलतः वैदिक धर्म के कट्टर अनुयायियों ने यज्ञ-यागादि से परमात्म-शिव का बहिष्कार करना प्रारम्भ किया। इसकी पूरी झांकी 'दक्ष-यज्ञ' की कथा में देखी जा सकती है। परन्तु शैवों की बढ़ती हुई जनसंख्या एवं प्रभाव के सामने वैदिक अनुयायियों का विरोध टिक न सका। परिणामस्वरूप परमात्म-शिव का यज्ञ-यागादि में भाग उपलब्ध होने लगा और लोक में वे विष्णु के समकक्ष देव माने जाने लगे। उनका यह प्रभाव यहां तक बढ़ा कि पुराण विष्णु की अपेक्षा शिव को अधिक महत्त्व देने लगे[३२]।

इसके अतिरिक्त यहां पर 'वीरभद्र' नाम के विषय में किंचिद् वक्तव्य है। वीरों का दो वर्ग होता है :—भद्र एवं अभद्र। रावण, दुर्योधन एवं कर्ण भी वीर थे और राम, अर्जुन तथा भीम भी वीर थे। किन्तु इन दोनों प्रकार के वीरों में स्पष्ट अन्तर है। एक अभद्र वीरवर्ग है दूसरा भद्र वीर वर्ग। एक का अनुचित मार्ग पर चलना काम है तो दूसरे का कार्य है मंगलमय पथ का अनुसरण। 'वीरभद्र' वीर होते हुए भी 'भद्र' (कल्याणकारी) थे। दक्ष घमण्डी एवं परमात्म शिव का द्वेषी था, अतः उसका एवं उसके यज्ञ का विनाश करने पर भी 'वीरभद्र' के द्वारा उसी प्रकार से मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता जिस प्रकार मर्यादा पुरुषोत्तम राम के द्वारा तपस्वी शूद्र का वध किये जाने पर भी मर्यादा का उलंघन नहीं होता। अतः दक्ष-यज्ञ विनष्ट करने पर भी 'वीरभद्र' में भद्रता ही बनी रहती है।

---

३२. प्रमाण के रूप में कहा जा सकता है कि विष्णुपरक पुराणों की अपेक्षा शिवपरक पुराणों की संख्या अधिक है।

भैरवावतार

भगवान् शंकर के अवतारों में भैरवावतार का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है। इनकी कथा के साथ भगवान् शिव के उत्कर्ष की एक आख्यायिका संलग्न है। शिवमहापुराण में भैरव को परमात्मा शंकर का पूर्णरूप बतलाया गया है[११]। इनके अवतार की कथा इस प्रकार वर्णित है :—

एक बार सुतत्त्व की जिज्ञासा से उद्वेलित देव एवं ऋषिगण, अत्यन्त सुरम्य मेरु की चोटी पर स्थित ब्रह्मा जी के पास गये। अभ्यर्थना के अनन्तर उन लोगों ने ब्रह्मा जी से 'अव्यय तत्त्व' के विषय में प्रश्न किया। भगवान् महेश की माया से मोहित अतः परम्भाव को न जानते हुये ब्रह्मा जी ने कहना प्रारम्भ किया 'जगत् का मूलकारण, स्वयम्भू, अज, ईश्वर, अनादिभाग्, एक, आत्मा, निरंजन, संसार का प्रवर्तक एवं निवर्तक मैं ही अव्यय तत्त्व हूं। इस संसार में मुझसे अधिक प्रभुता संपन्न कोई भी नहीं है।

विधाता की उपर्युक्त अज्ञानभरी बातें सुनकर वहीं पर वर्तमान विष्णु ने उन्हें मूर्ख बतलाते हुये अपने को 'परमतत्त्व' प्रतिपादित किया। इस प्रकार विवाद चलता ही रहा। इस विषय में जब वेदों से पूछा गया तब उन लोगों ने ब्रह्मा एवं विष्णु को परम तत्त्व न बतलाकर शिव को ही सर्वश्रेष्ठ एवं परम तत्त्व कहा। किन्तु माया से विमोहित विधि एवं हरि ने उनकी वार्ता का खण्डन करते हुये शिव की परम ब्रह्मता को अस्वीकृत कर दिया। इसी बीच वहाँ पर तेजःपुंज के मध्य एक पुरुषाकृति दिखलाई पड़ी जिसे देखकर विधाता का पंचम शिर कोप से प्रज्ज्वलित हो उठा। ब्रह्मा जब तक उस आकृति को देखते हैं तबतक महापुरुष नील-लोहित दिखलाई पड़ते हैं। उन्हें देखकर ब्रह्मा जी ने कहा ··· ··· 'चन्द्रशेखर! भय मत करो। पूर्वकाल में तुम मेरे भालस्थान से जन्मे हो। मैंने ही तुम्हारा रुद्र नाम रक्खा था। तुम मेरे पुत्र हो। अतः मेरी शरण में आओ।'

विधाता की उक्त गर्ववती वाणी को सुन कर भगवान् शंकर को अतीव क्रोध आया। उन्होंने एक अत्यन्त भीषण पुरुष को उत्पन्न कर कहा··· ··· 'काल की भांति शोभित होने के कारण आप साक्षात् 'कालराज' हैं। भीषण होने से भैरव हैं। आप से काल भी भयभीत होगा, अतः आप कालभैरव हैं। दुष्ट आत्माओं के आमर्दन के कारण आप आमर्दक भी कहे जायेंगे। मुक्तिपुरी

११. भैरवः पूर्णरूपो हि शंकरस्य परात्मनः।
मूढास्ते वै न जनन्ति मोहिताः शिवमायया ॥ शिव० ३, ८, २।

काशी का आधिपत्य आपको सर्वदा प्राप्त रहेगा[३४]। उक्त नगरी के पापियों के शासक भी आप ही होंगे। चित्रगुप्त प्राणियों के शुभाशुभ कर्म का समुल्लेख किया करेंगे।'

भगवान् शंकर से इन वरों को प्राप्त कर कालभैरव ने अपनी वामांगुलि के नखाग्र से ब्रह्मा के अपराधकर्त्ता पंचम शिर को काट लिया। इसके अनन्तर लोकमर्यादा रक्षक भगवान् शिव ने ब्रह्महत्या के विनाश हेतु भैरव को व्रत करने का आदेश देकर ब्रह्महत्या को उत्पन्न कर उनसे कहा – जबतक यह कन्या दिव्य वाराणसी पुरी में पहुँचे तबतक भयंकर रूप धारण करके तुम उसके आगे ही आगे चले जाओ। वाराणसी पुरी के अतिरिक्त सर्वत्र इस ब्रह्महत्या का प्रवेश होगा, किन्तु जभी यह उक्त नगरी में प्रवेश करेगी तभी मुक्त हो जायगी।

भगवान् शंकर के आदेश से भैरव ने कालाधिक व्रत को[३५] धारण किया। कपालपाणि, विश्वात्मा भैरव ने तीनों भुवनों में भ्रमण किया। किन्तु दारुणा ब्रह्महत्या ने उनका अनुगमन न छोड़ा। सर्वत्र विचारण करते हुये जब भगवान् भैरव ने विमुक्त नगरी वाराणसी पुरी में प्रवेश किया उसी समय ब्रह्महत्या हा हा शब्द करते हुये पाताल को चली गई। भैरव के कराम्बुज से तत्काल ब्रह्मा का कपाल च्युत होकर पृथिवी पर गिर पड़ा। जिस स्थान पर वह कपाल गिरा था वह कपाल मोचन के नाम से विख्यात है।

जो प्राणी काशी में स्थित कपालमोचन तीर्थ का स्मरण करता है उसके इस जन्म एवं पर जन्म के पाप शीघ्र ही विनष्ट हो जाते हैं। इस तीर्थ में आकर सविधि स्नानपूर्वक पितरों एवं देवताओं का तर्पण करके मानव ब्रह्महत्या से मुक्त हो जाता है।

कपालमोचन तीर्थ के समीप ही भक्तों के सुखदायक भगवान् भैरव स्थित हैं। सज्जनों के प्रिय भैरव का प्रादुर्भाव मार्गशीर्ष कीं कृष्णाष्टमी को हुआ था। मार्गशीर्ष की कृष्णाष्टमी को उपवासपूर्वक जो प्राणी कालभैरव के समीप जागरण करता है, वह सम्पूर्ण महापापों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है[३६]।

---

३४. या मे मुक्तिपुरी काशी सर्वाभ्योऽपि गरीयसी।
आधिपत्यं च तस्यास्ते कालराज सदैव हि॥ शिव० ३, ८, ५०।

३५. स देवदेववाक्येन बिभ्रत्कापालिकं व्रतम्॥ वही, ३, ९, २।
कपालपाणिर्विश्वात्मा चचार भुवनत्रयम्। वही, ३, ९, ३।

३६. कपालमोचनं तीर्थं पुरस्कृत्वा तु भैरवः।
तत्रैव तस्थौ भक्तानां भक्षयन्नघसन्ततिम्॥ वही, ३, ९, ६२।
कृष्णाष्टम्यां तु मार्गस्य मासस्य परमेश्वरः।
आविर्बभूव सल्लीलो भैरवात्मा सतां प्रियः॥ वही, ३, ९, ६३।

यदि कोई व्यक्ति भगवान् विश्वेश्वर का भक्त होते हुये भी कालभैरव का भक्त नहीं है तो उसे बड़े बड़े दुःख भोगने पड़ते हैं। यह बात काशी में विशेषरूप से चरितार्थ होती है[३७]। काशीवासियों के लिये भैरव की भक्ति-अनिवार्य बतलाई गई है। भगवान् शंकर के दश अवतारों में भैरवावतार पंचम बतलाया गया है। इनकी शक्ति का नाम है भैरवी। भैरवी को गिरिजा का अवतार मानते हैं[३८]।

दक्षयज्ञ विध्वंस के अवसर पर भगवान् विष्णु ने दक्ष को काल-भैरव की महिमा बतलाते हुये कहा है कि पूर्वकाल में काशापुरी में श्रीकाल भैरव जी ने नख के अग्र भाग से ही ब्रह्मा जो के पंचम मुख का काट लिया था[३९]। किन्तु शतरुद्रसंहिता के अष्टम अध्याय में यह घटना मेरु पर्वत के शृङ्ग पर घटित बतलाई गई है, जैसा कि पूर्व विवरण से निर्दिष्ट भी किया गया है। वहाँ प्रयुक्त भविष्यत्काल की क्रियायें भी यही प्रमाणित करती हैं कि काल-भैरव का काशी से संयोग ब्रह्मा के शिर काटने के परिणामस्वरूप उत्पन्न ब्रह्महत्या के उनके पीछे-पीछे चलने के अनन्तर ही हुआ था। अतः एक अन्य स्थल पर कालभैरव की उत्पत्ति एवं उनके द्वारा ब्रह्मा के शिर काटे जाने का स्थान काशी को बतलाना पुराण की अनेककर्तृता एवं पुराणकारों में मतैक्य का अभाव ही प्रकट करता है। पुराणों में बहुधा यह देखा जाता है कि किसी एक देव की उत्पत्ति एक स्थल पर एक प्रकार की और अन्य स्थल पर दूसरे प्रकार की वर्णित रहती है। विभिन्न पुराणों में मतैक्य न होना युक्तिसंगत भी हो सकता है, किन्तु एक ही पुराण के दो स्थलों पर दो प्रकार की बात उपहासास्पद प्रतीत होती है। इससे अनिर्णय एवं अविश्वास की भावना का प्रादुर्भाव होता है।

उत्तरवायवीय संहिता के एकतीसवें अध्याय में चार प्रकार के शैवों का वर्णन किया गया है, उनमें एक प्रकार 'कापालिक' नाम से उल्लिखित है[४०]। यद्यपि वहाँ किसी भी सम्प्रदाय का विवरण नहीं दिया गया है, तथापि प्रतीत

---

३७. विश्वेश्वरस्य ये भक्ता ना भक्ताः कालभैरवे।
ते लभन्ते महादुःखं काश्यां चैव विशेषतः ॥ शिव० ३, ९, ६८।

३८. पंचमो भैरवः ख्यातः सर्वदा भक्तकामदः।
भैरवी गिरिजा तत्र सदुपासककामदा ॥ वही, ३, १७, ६।

३९. श्रीकालभैरवः काश्यां नखाग्रेणैव लीलया।
पुरा शिरश्चिच्छेद पंचम ब्रह्मणो ध्रुवम् ॥ वही, २, २, ३५, ५२।

४०. शैवाः सिद्धान्तमार्गस्थाः शैवाः पाशुपतास्तथा।
शैवा महाव्रतधरा शैवाः कापालिकाः परे ॥१७३॥

होता है कि उस सम्प्रदाय का मूलाधार भैरव की ही कथा है। भैरव के कापालिक होने के कारण ही इस सम्प्रदाय का नाम कापालिक पड़ा है।

वाचस्पति मिश्र (८४० ई०) ने आचार्य शंकर के द्वारा रचित 'ब्रह्मसूत्र' (२, २, ३७) के भाष्य पर टीका करते हुये कापालिकों का उल्लेख किया है[४१]।

आचार्य शंकर का समकालीन, जीवनी लेख, 'आनन्द गिरि' शैवों के विभिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख करता है। वह कापालिकों के दो दलों का भी उल्लेख करता है। इनमें से एक ब्राह्मणों से सम्बद्ध था तो दूसरा ब्राह्मणेतर जातियों से।

अथर्ववेद में रुद्र के उपासक 'व्रात्यों' का उल्लेख मिलता है। व्रात्य जाति नियम एवं प्रथाओं को नहीं मानते थे। किन्तु कापालिक, चाहे ब्राह्मण हों अथवा ब्राह्मणेतर, मदिरा-पान एवं ऐन्द्रिय-उच्छृंखलता जैसे भयंकर दुष्कर्मों को भी किया करते थे। और अस्वच्छ रीति से जीवन-यापन करते थे। यह भी सन्देहास्पद है कि उनकी कोई समुचित दार्शनिक पद्धति रही होगी; अपवाद के रूप में इस बात को छोड़ कर कि ये लोग भैरव के उपासक थे और उन्हीं को सर्ग, स्थिति एवं संहार का कारण मानते थे[४२]। वे लोग यह मानते थे कि इस संसार में कोई ऐसी सूक्ष्म दैवी शक्ति है जो भैरव की इच्छा के अनुसार संसार की सृष्टि, स्थिति एवं विनाश करती है। शिवमहापुराणस्थ भैरव की कथा में भैरव के लिये जो जो विशेषण प्रयुक्त हुये हैं उनसे भैरव की शिव से अभिन्नता प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है।

ब्रह्मसूत्र (२, २, ३७) के अपने भाष्य में रामानुज ने कापालिक के नाम का उल्लेख करते हुए उसे वेदविरोधी आचरण करने वाला शैवसम्प्रदाय कहा है। किन्तु आज कापालिक सम्प्रदाय का प्रकाशित अथवा अप्रकाशित कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। कापालिक का उल्लेख भवभूति के मालती-माधव (७००–८०० ई०) में भी किया गया है।

कापालिकों के धार्मिक कृत्यों ने ही उन्हें कुचल डाला और मदिरा, स्त्रीसेवन, मांस के भक्षण आदि ने उन्हें शेष शैवसम्प्रदायों से बिलकुल अलग कर दिया। आज भी ये जघन्य कृत्य तान्त्रिकों की पूजा में, यत्र-तत्र, देखे जाते हैं। यह परम्परा वैदिक परम्परा के एकदम विरुद्ध है।

---

४१. यथा—माहेश्वराश्चत्वारः–शैवाः, पाशुपताः, कारुणिकसिद्धान्तिनः, कापालिकाश्चेति। चत्वारोऽप्यमी महेश्वरप्रणीतसिद्धान्तानुयायितया माहेश्वराः॥

४२. अयं धाता विधाता च लोकानां प्रभुरीश्वरः।
अनादिः शरणः शान्तः पुरः षड्‌विंशसंमितः॥ शिव० ३, ८, ११।

फ्रेजर (Frazer) ने Encyclopaedia of Religion & Etnics में शैवमत (Saivism) के विवरण में लिखा है कि दक्षिण भारत के कुछ प्रसिद्ध मन्दिरों में वर्षों रक्त से सम्पादित होने वाले धार्मिक कृत्य (Blood-rites) को पुनः जीवित करने के लिये, इसलिये आदेश दिया गया है ताकि आदिम पूजकों के साथ तुलना की जा सके। इन कापालिकों के प्राचीन रीति के मन्दिर पूर्वकाल में स्थानीय शासकों की सहायता से ब्राह्मणों के द्वारा अपने अधिकार में कर लिये गये थे। फ्रेजर ने उसी पुस्तक में आगे लिखा है कि ब्राह्मणेतर एवं जातिबहिष्कृत लोग भगवान् शिव की पूजा में नरबलि भी समर्पित करते थे। ऐसे स्थानों में उन्होने श्री शैल का उल्लेख किया है जिसे भवभूति ने भी कापालिकों का केन्द्र बतलाया है। ये जातिबहिष्कृत शिवाराधक पहले बौद्धों के द्वारा अपने स्थानों से निष्कासित हुए और बाद में ब्राह्मणों ने बौद्धों को वहां से निकाल भगाया। आचार्य शंकर के समय तक कापालिकों ने उज्जैन को अपना प्रबल केन्द्र बना लिया था।

कापालिक सर्वदा से ही वेदविरुद्ध अतः समाज-बहिष्कृत थे। ब्रह्मसूत्र (२, २, ३७,) भाष्य में रामानुज ने तो कापालिकों को वेदबाह्य कहा ही है किन्तु आनन्द गिरि के अनुसार आचार्य शंकर ने भी कापालिक से इसलिये कोई बातचीत (Discussion) नहीं की क्योंकि वह वेदविरुद्ध था। बाद में कापालिकों का सम्प्रदाय बंगाल में जीवित रहा।

कापालिकों के मान्य देव भैरव की समाज में उस रूप से कभी प्रतिष्ठा एवं मान्यता न थी जिस रूप में कापालिक भैरव का मानते थे। भैरव की समाज में अर्चना न होने की बात स्वयं शिवमहापुराण में भी निर्दिष्ट है[४३]।

गृहपत्यवतार

बात बहुत प्राचीन है। नर्मदा के रमणीय तट पर धर्मपुर[४४] नाम का एक नगर था। उसमें विश्वानर नाम के एक मुनि निवास करते थे। उनका जन्म

---

४३. भैरवः पूर्णरूपो हि शंकरस्य परात्मनः।
मूढास्ते वै न जानन्ति मोहिताः शिवमायया ।।
सनत्कुमार नो वेत्ति महिमानं महेशतुः।
चतुर्भुजोऽपि विष्णुर्वै चतुर्वक्त्रोऽपि वै विधिः ।।
चित्रमत्र न किंचिद्व दुर्ज्ञेया खलु शाम्भवी।
तया सम्मोहिताः सर्वे नार्चयन्त्यपि तं परम् ।। शिव०, ३, ८, २–४।

४४. गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'संक्षिप्त शिवपुराणांक' में विश्वानर के गांव का नाम 'नर्मपुर' लिखा है। देखिये —सं० शिवपुराणांक, पृ० ३०८।

शाण्डिल्य गोत्र में हुआ था। वे परमपावन, पुण्यात्मा, शिवभक्त, ब्रह्मतेज के निधि और जितेन्द्रिय थे। ब्रह्मचर्याश्रम में उनकी बड़ी निष्ठा थी। वे सदा ब्रह्मयज्ञ में तत्पर रहते थे। उनकी पत्नी का नाम था शुचिष्मती। बहुत काल तक निःसन्तान रहने पर एक दिन शुचिष्मती ने अभ्यर्थनापूर्वक अपने पति से महेश्वर के सदृश पुत्र-प्राप्ति की याचना की[४५]। विश्वानर ने सोचा महेश्वर के सदृश पुत्र की प्राप्ति अतिदुर्लभ है। यह तो मनोरथ से भी अतिदूर है। किन्तु भगवान् शिव जी सब कुछ करने में समर्थ हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो उन शम्भु ने ही इसके मुख में बैठकर वाणीरूप से ऐसी बात कही है, अन्यथा दूसरा कौन ऐसा करने में समर्थ हो सकता है। तदनन्तर मुनि विश्वानर पत्नी को आश्वासन देकर वाराणसी गये और घोर तप के द्वारा भगवान् शिव के वीरेश लिङ्ग की आराधना करने लगे। द्वादश मास व्यतीत होने पर एक दिन वे द्विजवर प्रातःकाल त्रिपथगामिनी गंगा के जल में स्नान करके ज्यों ही विरेश के निकट पहुँचे त्योंही उन तपोधन को उस लिङ्ग के मध्य एक अष्ट-वर्षीय विभूति-विभूषित बालक दिखाई दिया। वह बालक अलौकिक था। उसे देखकर विश्वानर मुनि कृतार्थ हो गये और आनन्द के कारण उनका शरीर रोमांचित हो उठा। वे नमस्कारपूर्वक बालरूप धारी शिव का स्तवन करने लगे।

उनकी शुश्रूषा एवं स्तव से प्रसन्न, बालरूपधारी, भगवान् शंकर ने 'गृहपति' नाम से शुचिष्मती में अवतार लेने का वरदान मुनि विश्वानर को दिया[४६]। वे प्रसन्नतापूर्वक अपने नगर धर्मपुर को लौट गये। तदनन्तर समय आने पर ब्राह्मण द्वारा विधिपूर्वक गर्भाधान-कर्म सम्पन्न किये जाने पर शुचिष्मती गर्भवती हुई। बाद में समय-समय पर मुनि ने गृह्यसूत्र में वर्णित विधि के अनुसार सम्यक् रूप से पुंसवनादि संस्कार किया। समय आने पर, नक्षत्रों के अनुकूल होने पर, जब बृहस्पति केन्द्रवर्ती हुए और शुभ ग्रहों का योग आया, तब शुभ लग्न में भगवान् शंकर, जिनके मुख की कांति पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान है तथा जो समस्त अरिष्टों के विनाशक और भूः, भुवः, स्वः—तीनों लोकों के निवासियों को सब प्रकार से सुख देने वाले हैं उस

---

४५. वरयोग्यास्मि चेन्नाथ यदि देयो वरो मम।
महेशसदृशं पुत्रं देहि नान्यं वरं वृणे॥ शिव० ३, १३, १४।

४६. तव पुत्रत्वमेष्यामि शुचिष्मत्यां महामते।
ख्यातो गृहपतिर्नाम्ना शुचिः सर्वामरप्रियः॥ वही, ३, १३, ५७।

शुचिष्मती के गर्भ से पुत्र रूप में प्रकट हुये[४७]।

पितामह ब्रह्मा ने उस पुत्र का स्वयं जातकर्म करके उसका नाम गृहपति रक्खा। गृहपति ने अपनी लोकविलक्षण प्रतिभा का परिचय देते हुये शीघ्र ही सांगोपांग वेदों का अध्ययन कर लिया। माता-पिता उन्हें देखकर बड़े ही आनन्दित थे। तत्पश्चात् नवम वर्ष आने पर माता-पिता की सेवा में तत्पर रहने वाले विश्वानर नन्दन 'गृहपति' को देखने के लिये वहाँ नारद जी पधारे। बालक ने माता-पिता सहित नारद जी को प्रणाम किया। पुनः मुनि नारद ने बालक की हस्तरेखा, जिह्वा, तालु आदि देखकर कहा—'विश्वानर! तुम्हारा यह पुत्र परम भाग्यवान् है। इसके सम्पूर्ण अंगों के लक्षण शुभ हैं। किन्तु इसके सर्वगुणसम्पन्न सम्पूर्ण शुभलक्षणों से समन्वित और चन्द्रमा के समान सम्पूर्ण निर्मल कलाओं से सुशोभित होने पर भी विधाता ही इसकी रक्षा करें। अतः इस बालक की सर्वविध रक्षा करनी चाहिये; यतः विधाता के विपरीत होने पर गुण भी दोष हो जाते हैं। मुझे शंका है कि इसके द्वादश वर्ष में इस पर विद्युत् अथवा अग्नि द्वारा विपत्ति आयेगी'[४८]।

नारद की भविष्यवाणी से सन्तप्त माता-पिता को मृत्यु जीतने का आश्वासन दे गृहपति काशी नगरी को गये। वहाँ विश्वनाथ का दर्शन कर शुभ दिन में सर्वहितकारी शिवलिङ्ग की स्थापना की[४९] और पवित्र गंगाजल से भरे हुये एक सौ आठ कलशों द्वारा शिव जी को स्नान कराकर ऐसे घोर नियमों को स्वीकार किया, जो अकृतात्मा पुरुषों के लिये दुष्कर थे। इस प्रकार एकमात्र शिव में मन लगाकर तपस्या करते हुये महात्मा गृहपति की आयु का एक वर्ष व्यतीत हो गया। तब जन्म से बारहवां वर्ष आने पर देवराज इन्द्र उनके समीप वरदान देने के लिये आये, किन्तु उनसे वर न मांग कर गृहपति ने उनका तिरस्कार किया। बालक के इस प्रकार के दुःसाहस को देखकर क्रुद्ध इन्द्र अपना कुलिश उठाकर उन्हें डराने धमकाने लगे। विद्युज्ज्वालाओं से व्याप्त उस वज्र को देखकर बालक गृहपति को नारद जी के वाक्य स्मरण हो आये। फिर तो वे भय से व्याकुल होकर मूर्छित हो गये। इसके बाद भगवान् शम्भु स्वयं

---

४७. अरिष्टदीपनिर्वाणः सर्वारिष्टविनाशकृत्।
तनयो नाम तस्यां तु शुचिष्मत्यां बभूव ह ॥ शिव० ३, १४, ७।

४८. शङ्केऽस्य द्वादशे मासि प्रत्यूहो विद्युदग्नितः। वही, ३, १४, ४७।

४९. ततः शुभेऽह्नि संस्थाप्य लिङ्गं सर्वहितप्रदम्।
जग्राह नियमान् घोरान् दुष्करानकृतात्मभिः ॥ वही, ३, १५, ३०।

वहाँ प्रकट हो उस बालक को आश्वस्त किये और यह भी बतलाये कि मैं ही परीक्षार्थ इन्द्र के रूप में यहां आया था[५०]।

इसके अनन्तर भगवान् शिव ने गृहपति को अग्निपद का भागी और सम्पूर्ण देवों के लिये वरदाता होने का तथा समस्त प्रणियों के अन्दर जठराग्नि रूप से विचरण करने का वरदान देकर अग्निकोण का अधिपति बना दिया। गृहपति के द्वारा संस्थापित शिवलिङ्ग 'अग्नीश्वर' के नाम से प्रसिद्ध है[५१]। इसकी पूजा करने वाले को विद्युत् एवं अग्नि का भय नही होता और न वे कभी अग्नि-मान्द्य नामक रोग से पीडित ही होते हैं। उनकी अकाल मृत्यु भी नहीं होती। अग्निकोण में स्थित अग्नि (गृहपति) की नगरी का नाम 'चित्रहोत्रपुरी' है। अग्नि के भक्त अन्त समय में वहीं निवास करते हैं[५२]।

अग्नि शम्भु की प्रत्यक्ष तेजोमयी दहनात्मिका मूर्ति है, जो सृष्टि रचने वाली, पालन करने वाली और संहार करने वाली है। इनके द्वारा भक्षण किये हुए धूप, दीप, नैवेद्य, दूध, दही, घृत, शर्करा आदि का देवगण स्वर्ग में सेवन करते हैं[५३]।

ठीक इसी प्रकार का वरदान मनु और शतरूपा ने भगवान् विष्णु से मांगा था। वे भी भगवान् विष्णु के समान पुत्र को चाहते थे, अतः उनकी तपस्या से सन्तुष्ट विष्णु को पुत्र के रूप में उनके घर अवतार लेना पड़ा था। उनका यह अवतार राम के रूप में हुआ है। राम ने रावण का समूल विनाश कर लोक को निष्कण्टक किया था। उन्होंने मर्यादा की उत्तम मर्यादा स्थापित की थी। किन्तु भगवान् शिव के 'गृहपति' अवतार में लोक रक्षा की वह भावना नहीं निहित है जो राम के अवतार में थी। इतना होते हुये भी अग्नि से देवों एवं प्राणियों का जो उपकार होता है, वह अवर्णनीय है। अतः

---

५०. शिशो गृहपते शक्राद्वज्रोद्यतकरादहो।
ज्ञातं भीतोऽसि मा भैषीर्जिज्ञासा ते मया कृता॥ शिव०, ३, १५, ५०।

५१. त्वयेदं स्थापितं लिङ्गं तव नाम्ना भविष्यति।
अग्नीश्वर इति ख्यातं सर्वतेजोविवृंहणम्॥ वही, ३, १५, ५४।

५२. चित्रहोत्रपुरी रम्या सुखदार्चिष्मती वरा।
जातवेदसि ये भक्तास्ते तत्र निवसन्ति वै। वही, ३, १५, ५९।

५३. तैजसी शाम्भवी मूर्तिः प्रत्यक्षा दहनात्मिका।
कर्त्री हर्त्री पालयित्री विनैतां किं विलोक्यते॥ वही, ३, १५, ६७।
धूपदीपनैवेद्यपयोदधिघृतैक्षवम्।
एतद्भुक्तं निषेवन्ते सर्वे दिवि दिवौकसः॥ वही, ३, १५, ६९।

भगवान् शिव का 'गृहपति' के रूप में अवतार लेना कम महत्वपूर्ण एवं कम लोकोपकारी नहीं है। बाह्य जगत् के साथ ही साथ अग्नि प्रत्येक प्राणी के आभ्यन्तर में भी वर्तमान रहकर बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता है। अतः विष्णु के किसी भी अवतार से इसका कम मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

'शिव का एकादश रुद्रावतार'

बहुत प्राचीन घटना है। एक बार इन्द्र आदि समस्त देवता दैत्यों से पराजित हो गये थे। भयभीत देवगण अपनी पुरी अमरावती को छोड़कर कश्यप जी की शरण में गये। देवों की कष्ट-कहानी को सुनकर शिवभक्त कश्यप जी उन्हें आश्वासन देकर स्वयं विश्वनाथपुरी काशी को चल पड़े। वहां पहुँच कर उन्होंने गंगाजी के जल में स्नान कर अपना नित्य-नियम पूरा किया और पुनः आदर पूर्वक उमासहित सर्वेश्वर भगवान् विश्वनाथ की भली भाँति अर्चना की। इसके बाद शम्भु दर्शन के उद्देश्य से एक शिवलिङ्ग की स्थापना करके देवताओं के हितार्थ घोर तप करने लगे। बहुत काल के अनन्तर भगवान् शिव कश्यप ऋषि को वर देने के लिये वहाँ प्रकट हुये। भक्तवत्सल महेश्वर परम प्रसन्न तो थे ही, अतः उन्होंने भक्त कश्यप से वर मांगने को कहा। उन्होंने देवों की कष्टगाथा को सुनाकर अपने पुत्ररूप से प्रकट होकर देवताओं की सहायता करने की अभ्यर्थना शिव से की। भगवान् शिव ने भी उनकी प्रार्थना को 'तथास्तु' कहकर स्वीकार किया। समय[५४] आने पर अपने वचन को सत्य करने के लिए भगवान् शंकर, कश्यप द्वारा सुरभी के पेट से, ग्यारह रूप धारण कर प्रकट हुए। उस समय महान् उत्सव मनाया गया। सारा जगत् शिवमय हो गया। कश्यप मुनि के साथ-साथ सभी देवता हर्ष-विभोर हो उठे।

भगवान् शंकर के उन एकादश रूपों के नाम इस प्रकार रक्खे गये—(१) कपाली, (२) पिङ्गल, (३) भीम, (४) विरूपाक्ष, (५) विलोहित (६) शास्ता (७) अजपाद, (८) अहिर्बुध्न्य, (९) शम्भु, (१०) चण्ड, (११) भव[५५]। ये ग्यारह रुद्र सुरभी के पुत्र कहलाते हैं[५६]। कश्यपनन्दन, वीरवर, ये रुद्र महान् बल

---

५४. ततः स शंकरः सर्वः सत्यं कर्तुं स्वक वचः।
सुरभ्यां कश्यपाज्जज्ञे एकादशस्वरूपवान्॥ शिव० ३, १८, २४।

५५. कपाली १ पिङ्गलो २ भीमो ३ विरूपाक्षो ४ विलोहितः ५।
शास्ताऽ ६ जपाद ७ हिर्बुध्न्य ८ शम्भु ९ श्चण्डो १० भवस्तथा ११॥
वही, ३, १८, २६।

५६. एकादशैते रुद्रास्तु सुरभीतनया स्मृताः।
देवकार्यार्थमुत्पन्नाः शिवरूपाः सुखास्पदाः॥ वही, ३, १८, २७।

पराक्रम से सम्पन्न थे; इन्होंने संग्राम में देवों की सहायता करके दैत्यों का संहार कर डाला था[५७]। अब भी शिवस्वरूपधारी वे सभी महारुद्र देवताओं की रक्षा के लिये सदा स्वर्ग में विराजमान रहते हैं। इनका निवास ईशानकोण में बतलाया गया है। इनके साथ बहुत से इनके अनुचर भी निवास करते हैं[५८]।

भगवान् शंकर ने सुरभी के गर्भ से एकादश रुद्रों के ही रूप से क्यों अवतार लिया इसका कोई कारण नहीं उल्लिखित है। देवों का हित-साधन तो उनके एक रूप से भी हो सकता था, तो फिर एकादश रूप से अवतार का क्या प्रयोजन था ? इसका समाधान शिव पुराण में नहीं दिया गया है।

'शिव का दुर्वासाऽवतार'

महामुनि दुर्वासा भी शंकर के अवतार थे। यह अवतार धर्म के लिए बतलाया गया है[५९]। दुर्वासाचरित महापुराणों में विस्तार के साथ वर्णित है। शिवमहापुराण में इनकी कथा इस प्रकार है:—

अनसूया के पति ब्रह्मवेत्ता तपस्वी अत्रि ने ब्रह्मा जी के निर्देशानुसार पत्नीसहित ऋक्षकुल पर्वत पर जाकर पुत्र कामना से घोर तप किया। उनके तप से प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर तीनों उनके आश्रम पर गये। उन्होंने कहा कि 'हम तीनों संसार के ईश्वर हैं। हमारे अंश से तुम्हारे तीन पुत्र होंगे, जो त्रिलोकी में विख्यात तथा माता-पिता का यश बढ़ाने वाले होंगे।' ऐसा कहकर वे चले गये। समय आने पर ब्रह्मा जी के अंश से चन्द्रमा हुये, जो देवताओं के द्वारा समुद्र में फेंके जाने पर उससे प्रकट हुये थे। विष्णु के अंश से श्रेष्ठ संन्यास पद्धति को प्रचलित करने वाले 'दत्त' उत्पन्न हुये और रुद्र के अंश से मुनिवर दुर्वासा ने जन्म लिया[६०]।

---

५७. ते रुद्राः काश्यपा वीरा महाबलपराक्रमाः।
दैत्यञ्जघ्नुश्च संग्रामे देवसाहाय्यकारिणः॥ शिव० ३, १८, २८।

५८. ऐशान्याम्पुरि ते वासं चक्रिरे भक्तवत्सलाः।
विरमन्ते सदा तत्र नाना लीलाविशारदा:॥ वही, ३, १८ ३१।

५९. यथा बभूव दुर्वासाः शङ्करो धर्महेतवे। शिव० ३, २१, १।
तदन्तिकं गतः शिष्यैर्बहुभिः शङ्करांशजः॥ वही, ३, २१, ३२।

६०. विधोरंशाद्विधुर्जज्ञेऽनुसूयायां मुनिश्वरात्।
आविर्बभूवोदधितः क्षिप्तो देवैः स एव हि॥
विष्णोरंशात्स्त्रियां तस्यामत्रेर्दत्तो व्यजायत।
संन्यासपद्धतिर्येन वर्धिता परमा मुने॥
दुर्वासाः मुनिशार्दूलः शिवांशान्मुनिसत्तमः।
जज्ञे तस्यां स्त्रियामत्रेर्वरधर्मप्रवर्तकः॥ वही, ३, २१, २७॥

इन्हीं मुनि दुर्वासा ने महाराज अम्बरीष की परीक्षा ली थी। किन्तु यहाँ यह भी स्मरणीय है कि इनकी धर्मपरीक्षा में सर्वदा दया का भाव विद्यमान रहता था[६१]। सूर्यवंशी राजा अम्बरीष सप्तद्वीपा वसुमती के अधिपति थे। एकादशी में व्रत रहकर द्वादशी में पारण करना उनका नियमित व्रत था इस व्रत के करने में उन्होंने कभी प्रमाद नहीं किया। उनके इस नियम को ज्ञात कर शंकरांशज मुनि दुर्वासा बहुत से शिष्यों के साथ राजा अम्बरीष के यहाँ पधारे। उस दिन पारण के लिये द्वादशी स्वल्प थी, अतः अम्बरीष भोजन करने की ही तैयारी में थे। किन्तु जब उन्होंने दुर्वासा को आये हुए देखा तब उनको भी सादर निमन्त्रण दिया। निमन्त्रण स्वीकार करके मुनिवर दुर्वासा स्नान करने चले गये और राजा की धर्मपरीक्षा के लिये उन्होंने वहाँ पर्याप्त विलम्ब किया। इधर धर्मभीरु राजा द्वादशी को समाप्त होते देखकर व्रत भग न हो, अतः शास्त्रानुसार जल पीकर मुनि की प्रतीक्षा करने लगे। इसी बीच दुर्वासा जी आ गये और राजा को अशन किये हुये जानकर बहुत क्रुद्ध हुये। उन्होंने उन्हें बहुत सा दुर्वचन भी कहा और राजा को जलाने के लिये समुद्यत हो गये। राजा अम्बरीष पर आयी विपत्ति को देखकर वहीं पर स्थित सुदर्शन चक्र मुनि को जला डालने के लिये प्रज्ज्वलित हो उठा। ठीक उसी समय आकाश वाणी हुई—'राजन्! दुर्वासा ऋषि को जलाने के लिये उद्यत चक्र को शान्त करो। इस चक्र को पहले शिव ने ही विष्णु को दिया था। दुर्वासा साक्षात् शिव हैं। तुम उनकी शरण में जाओ अन्यथा लय हो जायगा[६२]।

इसके बाद राजा ने स्तवन करके चक्र को शान्त किया और मुनि को भी प्रणाम आदि से प्रसन्न किया। प्रसन्न हुये दुर्वासा भी आशीर्वाद दे भोजन कर अपने अभीष्ट प्रदेश को चले गये।

स्पष्ट ही शिवपुराण में वर्णित उक्त दुर्वासा की कथा शैवसम्प्रदाय के अनुसार गढ़ी गई है। अपने अभीष्ट को सिद्ध करने के लिये पुराणकार ने भागवत में वर्णित दुर्वासा एवं अम्बरीष की कथा को पर्याप्त तोड़ा-मरोड़ा है। भागवत के अनुसार कथा का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है—नाभागपुत्र महाराज अम्बरीष सप्तद्वीपा वसुमती के अधिपति थे। वासुदेवविषयक उनकी भक्ति

६१ चक्रे धर्मपरीक्षां च बहूनां स दयापरः ॥ शिव० ३, २१, २८।

६२. सुदर्शनमिदं चक्रं हरये शम्भुनार्ऽपितम्।
शान्तं कुरु प्रज्ज्वलितमद्य दुर्वाससे नृप ॥ वही, ३, १९, ४४।
शरणं याहि तस्याशु भविष्यत्यन्यथा लयः ॥ वही, ३, १९, ४४।

विश्वविख्यात थी। वे सच्चे अर्थ में निःसङ्ग विष्णु भक्त थे। उनकी एकान्त भक्ति से सन्तुष्ट हुये हरि ने उनकी रक्षा एवं शत्रु को भयभीत करने के लिये अपना चक्र उन्हें प्रदान कर दिया था[६३]। भगवान् कृष्ण की आराधना की इच्छा से सपत्नीक अम्बरीष ने संवत्सरपर्यन्त द्वादशी व्रत किया था। व्रत के अन्त में, कार्तिक के महीने में, तीन दिन तक उपवास करके उन्होंने कालिन्दी में स्नान करके मधुवन में भगवान् कृष्ण की पूजा कर ब्राह्मणों को भोजन करवाया। जब वे स्वयं पारण करने को सोच रहे थे उसी समय भगवान् दुर्वासा उनके अतिथि हुये[६४]। अम्बरीष ने बड़ी प्रसन्नता से उनका स्वागत किया और भोजन के लिये उनसे प्रार्थना भी की। मुनि भी राजा की प्रार्थना को स्वीकार करके नित्य-कृत्य से निवृत्त होने के लिये कालिन्दी नदी को गये। वहाँ उन्होंने स्नान, भजन, में पर्याप्त समय लगाया। इधर राजा बड़े धर्मसंकट में पड़े थे, क्योंकि पारण के लिये आवश्यक द्वादशी व्यतीत हो रही थी। अन्य उपाय न देखकर राजा ने केवल जल पी लिया। इससे उनका नियम भी भंग होने से बचा और अतिथि ब्राह्मण को बिना खिलाये खाने का भी दोष नहीं लगा। किन्तु जब मुनि दुर्वासा आवश्यक कृत्य करके अम्बरीष के पास आये और उन्हें जल पिये हुये जाना तो वे बहुत ही क्रुद्ध हुये। उन्होंने अपनी जटाओं में से एक को उखाड़ कर पृथिवी पर पटक दिया उससे एक कृत्या नाम की राक्षसी उत्पन्न हुई जो राजा को खा जाना चाहती थी। किन्तु अम्बरीष जरा भी विचलित नहीं हुये। उसी समय उनकी रक्षा में पहले से ही नियुक्त चक्र ने उस कृत्या को भस्म कर दिया और उसके बाद मुनि दुर्वासा की ओर बढ़ा। दुर्वासा त्रिलोकी में जहां भी गये उस चक्र ने वहीं उनका पीछा न छोड़ा। किसी ने उन्हें शरण न दी। अन्त में भगवान् विष्णु की सम्मति से वे राजा अम्बरीष की शरण में गये और उनके चरणों को पकड़ा[६५]। फिर राजा अम्बरीष की प्रार्थना से चक्र शान्त हुआ[६६]। इसके बाद राजा ने उन्हें भोजन कराकर आदरपूर्वक अपने यहाँ से विदा किया।

---

६३. तस्मा अदाद्धरिश्चक्रं प्रत्यनीकभयावहम्।
एकान्तभक्तिभावेन प्रीतो भृत्याभिरक्षणम्॥ ९, ४, २८।

६४. लब्धकामैरनुज्ञातः पारणायोपचक्रमे।
तस्य तर्ह्यतिथिः साक्षाद् दुर्वासा भगवानभूत्॥ ९, ४, ३५।

६५. एवं भगवतादिष्टो दुर्वासाश्चक्रतापितः।
अम्बरीषमुपावृत्य तत्पादौ दुःखितोऽग्रहीत्॥ ९, ५, १।

६६. इति संस्तुवतो राज्ञो विष्णु-चक्रं सुदर्शनम्।
अशाम्यत् सर्वतो विप्रं प्रदहद् राजयाच्ञया॥ ९, ५, १२।

स्पष्ट ही दोनों पुराणों में दुर्वासा की कथा दो दृष्टिकोण से लिखी गई प्रतीत होती है। किन्तु शिव महापुराण की कथा में साम्प्रदायिकता का पुट अधिक स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। श्रीमद्भागवत में अम्बरीष और दुर्वासा की कथा दो लम्बे अध्यायों में वर्णित है जब कि शिवमहापुराण में उक्त कथा एक अध्याय के कुछ अंश में ही समाप्त कर दी गई है। इतना होते हुये भी श्रीमद्भागवत का दृष्टिकोण शिवमहापुराण की अपेक्षा निरपेक्ष अथवा स्वाभाविक रूप से उपस्थित किया गया है। दोनों पुराणों की उक्त कथा के देखने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि शिवमहापुराण की कथा अपेक्षाकृत नवीन एवं भागवत की उक्त कथा के उत्तर में लिखी गई है। शिवमहापुराण की कथा में स्वाभाविकता का भी अभाव है और इसकी परिसमाप्ति भी ठीक रूप से नहीं हो सकी है। भागवत में दुर्वासा को "शैव" कहीं नहीं कहा गया है। वे एक तपस्वी मुनि के रूप में वहाँ वर्णित हैं। इससे भागवतकार का दृष्टिकोण पर्याप्त उदार जान पड़ता है। वे दुर्वासा को शैव कहकर कथा को साम्प्रदायिक रूप नहीं प्रदान करना चाहते।

दोनों स्थलों की कथाओं में साम्य होते हुए भी भेद है। शिवमहापुराण के अनुसार क्रुद्ध दुर्वासा स्वयं राजा अम्बरीष को जलाने के लिए समुद्यत होते हैं[६७] जब कि भागवत में वे अपनी जटा को उखाड़ कर उससे, राजा के लिये एक कृत्या को प्रकट करते हैं[६८]। भागवत में वर्णित दुर्वासा की दुर्दशा शिवमहापुराण में एकदम छिपा दी गई है।

शिव का पिप्पलादावतार

एक समय दैत्यों ने वृत्रासुर की सहायता से इन्द्र आदि समस्त देवताओं को पराजित कर दिया था। विपत्ति के मारे बेचारे देवों ने ब्रह्मा की शरण में जाकर अपना सारा कष्ट कह सुनाया। देवताओं का वह कथन सुनकर लोकपितामह ब्रह्मा जी ने सारा रहस्य यथार्थ रूप से प्रकट कर दिया कि 'यह सब त्वष्टा का कार्य है'। त्वष्टा ने ही आप लोगों का बध करने के लिए तपस्या द्वारा इस महातेजस्वी वृत्रासुर को उत्पन्न किया है। यह दैत्य महान् आत्मबल से सम्पन्न तथा समस्त दैत्यों का अधिपति है। ऐसा प्रयत्न कीजिए जिससे इसका बध हो सके। एतदर्थ मैं एक उपाय बतला रहा हूँ उसे आपलोग करें। महामुनि दधीचि ने पूर्वकाल में शिव जी की समाराधना करके अपनी अस्थियों के वज्र की तरह हो जानेका वर प्राप्त किया है। अतः आप लोग उनसे उनकी

६७. इत्युक्त्वा क्रोधताम्राक्षो नृपं दग्धुं समुद्यतः। शिव० ३, १६, ३९।

६८. एवं ब्रुवाणः उत्कृत्य जटां रोषविदीपितः।
तया स निर्ममे तस्मै कृत्यां कालानलोपमाम्॥ भाग० ९, ४, ४६।

अस्थियों के लिये याचना करें। वे अवश्य दे देंगे। पुनः उन अस्थियों से वज्र-दण्ड का निर्माण कराके इन्द्र निश्चय ही वृत्रासुर को मार डालेंगे।

ब्रह्मा के वचन को सुनकर देवराज इन्द्र देवगुरु बृहस्पति तथा देवताओं को साथ लेकर तत्काल ही दधीचि ऋषि के उत्तम आश्रम पर गये। वहां उन लोगों ने पत्नीसहित मुनि को प्रणाम किया। मुनि दधीचि विद्वानों में श्रेष्ठ तो थे ही अतः देवों के अभिप्राय को समझनें में उन्हें देर न लगी। इसके अनन्तर उन्होंने अपनी पत्नी सुवर्चा को आश्रम से अन्यत्र भेज दिया। सुवर्चा के चले जाने पर स्वार्थसाधन में दक्ष देवों सहित इन्द्र ने मुनि से कहा – 'त्वष्टा द्वारा अपमानित होने के कारण हमलोग आपकी शरण में आये हैं। आप अपनी वज्रमयी अस्थियां हमें प्रदान करें; क्योंकि आपकी हड्डी से वज्र का निर्माण कराकर मैं उस देवद्रोही का वध करूँगा[६९]। इन्द्र के इस प्रकार प्रार्थना करने पर परोपकारपरायण दधीचि मुनि ने अपने स्वामी शिव का ध्यान करके अपना शरीर छोड़ दिया। उनके समस्त बन्धन नष्ट हो चुके थे; अतः वे तुरन्त ही ब्रह्मलोक को चले गये[७०]। उनकी हड्डियों से विश्वकर्मा ने बहुत से अस्त्र-शस्त्रों की कल्पना की। उनकी रीढ़ की हड्डी से वज्र और ब्रह्मशिर नामक बाण का निर्माण किया[७१]। इसी वज्र से इन्द्र ने वृत्रासुर का वध किया था।

कार्य-निवृत्त हो सुवर्चा जब आश्रम के भीतर गई तो उन्होंने वहां देवताओं के लिये पति को मरा हुआ पाया। उनके क्रोध और शोक का ठिकाना न रहा। अतः उन्होंने देवों को पशु होने का शाप दे दिया। तत्पश्चात् उस पतिव्रता ने पतिलोक में जाने का विचार किया। फिर तो मनस्विनी सुवर्चा ने परम पवित्र लकड़ियों द्वारा एक चिता तैयार की। उसी समय सुवर्चा को आश्वासन देती हुई आकाश वाणी हुई 'प्राज्ञे! ऐसा साहस मत करो। तुम्हारे उदर में मुनि का उत्तम तेज वर्तमान है। तुम उसे यत्नपूर्वक उत्पन्न करो। पीछे तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करना; क्योंकि शास्त्र का ऐसा आदेश है कि गर्भवती को अपना शरीर नहीं जलाना चाहिये अर्थात् सती नहीं होना चाहिये।' आकाशवाणी को सुनकर सुवर्चा क्षणभर के लिये विस्मय में पड़ गई।' परन्तु उस सती साध्वी को तो पतिलोक की प्राप्ति ही अभीष्ट थी। अतः

---

६९. स्वास्थीनि देहि नो विप्र महावज्रमयानि हि।
अस्थ्ना ते स्वपविं कृत्वा हनिष्यामि सुरद्रुहम्॥ शिव० ३, २४, २४।

७०. ब्रह्मलोकं गतः सद्यः मुनिर्ध्वस्तबन्धनः। वही, ३, २४, २६।

७१. तस्य वंशोद्भवं वज्रं शरो ब्रह्मशिरस्तथा।
अन्यास्थिभिर्बहूनि स्वपराण्यस्त्राणि निर्ममे॥ वही, ३, २४, २९।

उसने बैठकर पत्थर से अपने उदर को विदीर्ण कर डाला। इसके अनन्तर मुनिवर दधीचि का वह गर्भ बाहर निकल आया। उसका शरीर परम दिव्य और प्रकाशमान था तथा वह अपनी प्रभा से दशों दिशाओं को उद्भासित कर रहा था। वह गर्भ साक्षात् रुद्र का अवतार था[७२]। इसके बाद सुवर्चा ने परमसमाधि के द्वारा पति का ही अनुगमन किया[७३]। वह बालक अपनी माता के आदेश से वहीं एक अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष के नीचे रहने लगा[७४]। यही बालक आगे चलकर 'पिप्पलाद' के नाम से संसार में विख्यात हुआ। महान् ऐश्वर्यशाली रुद्रावतार[७५] पिप्पलाद उसी अश्वत्थ के नीचे लोकों की हित-कामना से चिरकालिक तप में प्रवृत्त हुए। लोकाचार का अनुसरण करने वाले पिप्लाद का इस प्रकार तपस्या करते हुए बहुत बड़ा समय व्यतीत हो गया।

एक दिन संयोग से पुष्पभद्रा नदी में स्नान करने के लिए जाते हुए पिप्पलाद ने युवती 'पद्मा' को देखा। यह सुन्दरी शिवा के अंश से राजा 'अनरण्य' की पुत्री होकर जन्मी थी[७६]। मुनि ने उस कन्या के साथ विवाह करने का निश्चय करके राजा अनरण्य से उसे मांगा[७७]। प्रारम्भ में राजा को अपनी कन्या एक वृद्ध मुनि को देने में कुछ आपत्ति हुई। किन्तु जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि कन्या को न देने पर पिप्पलाद हमारे सहित हमारे कुल को भस्म कर[७८] देंगे तो बड़े ही दुःख के साथ उन्होंने अपनी कन्या पद्मा को मुनि के साथ विदा कर दिया[७९]। जंगल में वह युवती अत्यधिक भक्तिपूर्वक मुनि की

७२. साक्षाद्रुद्रावतारोऽसौ दधीचवरतेजसा।
प्रादुर्भूतः स्वयं तात स्वलीलाकरणे क्षमः ॥ शिव० ३, २४, ४७।

७३. पतिमन्वगमत्साध्वी परमेण समाधिना ॥ वही, ३, २४, ५३।

७४. हे तात परमेशान चिरं तिष्ठास्य सन्निधौ।
अश्वत्थस्य महाभाग सर्वेषां सुखदो भवेः ॥ वही, ३, २४, ५१।

७५. अथ रुद्रः पिप्पलादोऽश्वत्थमूले महाप्रभुः।
तताप सुचिरं कालं लोकानां हितकाम्यया ॥ वही, ३, २४, ६३।

७६. एकदा पुष्पभद्रायां स्नातुं गच्छन् मुनीश्वरः।
ददर्श पद्मां युवतीं शिवांशां सुमनोहराम् ॥ वही, ३, २५, २।

७७. मुनिः प्रोवाच नृपतिं कन्यां मे देहि भक्तितः।

७८. अन्यथा भस्मसात्सर्वं करिष्येऽहं त्वया सह ॥ वही, ३, २५, ६।

७९. अथ राजा महाभीतो विलप्य च मुहुर्मुहुः।
कन्यामलङ्कृतां पद्मां वृद्धाय मुनये ददौ ॥ वही, ३, २५, ८।

सेवा करती हुई दाम्पत्यजीवन का उपभोग करने लगी। समय-समय पर पिप्पलाद से पद्मा में दश पुत्र हुए। ये सभी पुत्र पिप्लाद के समान ही योग्य तपस्वी थे। पिप्पलाद के वर के अनुसार षोडश वर्ष तक के व्यक्तियों एवं शिव के भक्तों को शनिकृत पीडा नहीं होती[८०]।

श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध में इस कथा का पूर्वार्द्ध मात्र ही वर्णित है। पिप्पलाद की कथा का वहां अभाव है। शिव महापुराण में दैत्यों से पराजित देव ब्रह्मा जी की शरण में जाते हैं और वे ही दधीचि मुनि से अस्थि-याचना की बात देवों से कहते हैं;। किन्तु श्रीमद्भागवत के अनुसार देवगण विष्णु की शरण में गये हैं और वे ही मुनि की अस्थियाचना का आदेश देते हैं[८१]।

इन बातों के अतिरिक्त 'पिप्पलाद' की कथा तत्कालीन समाज के कतिपय पहलुओं पर प्रकाश डालती है। शिव के पिप्पलादावतार के द्वारा उक्त शनि-पीडा के निवारण के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा सम्पन्न कार्य नहीं बतलाया गया है जो समाज के लिए हितावह कहा जाय। वृद्धावस्था में मुनि पिप्पलाद का गृहस्थी बसाना अवश्य ही संन्यासियों के लिये एक भ्रष्टमार्ग का प्रदर्शन है। भगवान् के अवतार के द्वारा ऐसा कोई उदाहरण रखना चाहिये जिसका लोक अनुकरण कर सके किन्तु ऐसा कोई कार्य नहीं होना चाहिये जो लोक के लिये अनुचित उदाहरण बने। इसी त्रुटि को बचाने के लिये ग्रन्थकार ने 'पद्मा' को शिवा का अंश अथवा अवतार बतलाया है[८२]। किन्तु उनके इस प्रयत्न के होने पर भी पिप्पलाद का पथभ्रष्ट होना उचित नहीं प्रतीत होता। जीवन भर की संचित पुण्य-सम्पत्ति से उनकी यौवन-प्राप्ति किस मनीषी को नहीं खलती ?[८३]

शिव का अश्वत्थामावतार

महाभारत के प्रसिद्ध योद्धा अश्वत्थामा भगवान् शंकर के अंशावतार

---

८०. येन दत्तो वरः प्रीत्या लोकेभ्यो हि दयालुना।
दृष्ट्वा लोके शनेः पीडां सर्वेषामनिवारिणीम् ।। शिव० ३, २५, १५।
षोडशाब्दावधि नृणां जन्मतो न भवेच्च सा।
तथा च शिवभक्तानां सत्यमेतद्धि मे वचः ।। वही, ३, २५, १६।

८१. मघवन् यात भद्रं वो दध्यंचमृषिसत्तमम्।
विद्याव्रततपःसारं गात्रं याचत मा चिरम् ।। वही, ६, ९, ५१।

८२. ददर्श पद्मां युवतीं शिवांशां सुमनोहराम् ।। वही, ३, २५, २।

८३. रेमे तया युवत्या च युवाभूय स्वलीलया ।। वही, ३, २५, १२।

थे[८४]। धनुर्वेद एवं वेद में निष्णात कौरवों के आचार्य 'द्रोण' कौरवों की सहायता के हेतु भगवान् शंकर को उद्देश्य करके तप किये। उनका उद्देश्य था कि भगवान् शंकर उनके पुत्र के रूप में अवतीर्ण हों। अन्ततोगत्वा उनकी तपस्या से प्रसन्न हुये भगवान् शंकर ने उनके पुत्र के रूप में अवतीर्ण होने का वरदान उन्हें दिया[८५]।

समय आने पर सर्वान्तक रुद्र ने अपने अंश से द्रोण के बलशाली पुत्र अश्वत्थामा के रूप में अवतार लिया। पिता की आज्ञा से महाभारत के संग्राम में इन्होंने कौरवों की सहायता की थी। अश्वत्थामा को कौरवों की सहायता करते देखकर युद्धनिपुण भी पाण्डवों ने विजय की आशा छोड़ दी थी। विजय का अन्य मार्ग न देखकर भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को शम्भु का दारुण तप करके उनसे अस्त्र प्राप्त करने का उपदेश दिया। यह भगवान् शंकर के अस्त्र और 'वर' का ही परिणाम था कि अर्जुन कौरवों को जीतने में समर्थ हो सके[८६]। इतना होने पर भी कौरवों की भक्ति के वश में हुये अश्वत्थामा ने अपने प्रताप को उस महायुद्ध में प्रदर्शित ही किया था। शत्रुओं के द्वारा अप्रतिहत अश्वत्थामा ने ही प्रयत्नपूर्वक शिक्षित किये गये पाण्डवों के पुत्रों को विनष्ट किया था[८७]।

पुत्रशोक से विकल एवं रथारूढ हो कृष्ण के सहित अर्जुन को अपना पीछा करते हुये देखकर अश्वत्थामा भाग चले थे। फिर भी जब अर्जुन ने उनका पीछा न छोड़ा तब उन्होंने उनके ऊपर ब्रह्मशिर नामक अस्त्र को फेंका। उससे चारों ओर प्रचण्ड तेज अभिव्याप्त हो गया था। उससे व्याकुल हुये अर्जुन ने श्रीकृष्ण से उस तेजःपुंज के विषय में पूछा। श्री कृष्ण ने उसे अनिवार्य एवं अश्वत्थामाप्रयुक्त ब्रह्मास्त्र बतलाकर शिव का स्मरण करने को

---

८४. सनत्कुमार सर्वज्ञ शिवस्य परमात्मनः।
अवतारं शृणु विभोरश्वत्थामाह्वयं परम्॥ शिव० ३, ३६, १।
शिवावतारोऽश्वत्थामा महाबलपराक्रमः। वही, ३, ३६, ४२।
अश्वत्थामावतारस्ते वर्णितः शंकरप्रभोः॥ वही, ३, ३६, ४३।

८५. स्वांशजं तनयं देहि सर्वाजेयं महाबलम्॥
तच्छ्रुत्वा द्रोणवचनं शम्भुः प्रोचे तथास्त्विति। वही, ३, ३६, ११।

८६. प्राप्य चास्त्रं शम्भुवरान् जिग्ये तानर्जुनस्ततः॥ वही, ३, ३६, १८।

८७. विनाश्य पाण्डवसुतान् शिक्षितानपि यत्नतः।
कृष्णादिभिर्महावीरैरनिवार्यबलः परैः॥ वही, ३, ३६, २०।

कहा।[८८] इसके अनन्तर कृष्ण के आदेशानुसार अर्जुन ने भगवान् शिव का स्मरण करके एक अस्त्र फेंका। यद्यपि ब्रह्मशिर नामक अस्त्र अमोघ एवं अप्रतिक्रिय था तथापि शैवास्त्र के तेज से वह शीघ्र ही शान्त हो गया[८९]।

इसके अनन्तर सम्पूर्ण विश्व को पाण्डवविहीन करने के उद्देश्य से अश्वत्थामा ने उत्तरा के गर्भ को लक्ष्य करके अनिवार्य ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था। उसकी इस विपत्ति से रक्षा शैवप्रवर श्रीकृष्ण ने पूर्वकाल में शिव के द्वारा समर्पित सुदर्शन चक्र से की थी[९०]। अस्त्र की शान्ति के अनन्तर अश्वत्थामा की तुष्टि के लिये भगवान् कृष्ण ने सम्पूर्ण पाण्डवों को उनके (अश्वत्थामा के) पैर पर गिराया था[९१]। तदनन्तर प्रसन्न हुये अश्वत्थामा ने पाण्डवों को बहुत सा वरदान दिया था। शिवमहापुराण के अनुसार अश्वत्थामा आज भी जीवित हैं और वे गंगा के किनारे निवास करते हैं[९२]। किन्तु उनका यह निवास गंगा के किनारे कहाँ पर है यह नहीं निर्दिष्ट किया गया है।

भगवान् शिव के अश्वत्थामाऽवतार की यह कथा श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध की अश्वत्थामा की कथा के उत्तर एवं आधार पर लिखी गयी है, इसे हम अभी सप्रमाण सिद्ध करेंगे। भागवत की कथा अति संक्षिप्त एवं परिवर्तित रूप से इस प्रकार है :—

महाभारत संग्राम के अवसान में, जबकि दुर्योधन वृकोदर के गदाप्रहार से घायल हो भूमि पर पड़ा था, उस समय उसके प्रिय कार्य करने की अभिलाषा से अश्वत्थामा ने सोये हुये द्रौपदी के पाँचों पुत्रों का बध कर डाला। द्रौपदी के असह्य विलाप को देखकर अर्जुन ने अश्वत्थामा का पीछा करके वध करने को कहकर उन्हें आश्वस्त किया। अश्वत्थामा भाग रहा था। किन्तु जब उसे बचने की संभावना न रही तब उसने अर्जुन को लक्ष्य करके 'ब्रह्म-

---

८८. शिवं स्मर द्रुतं शम्भुं स्वप्रभुं भक्तरक्षकम्।
येन दत्तं हि ते स्वास्त्रं सर्वकार्यकरं परम्॥ शिव० ३, ३६, २७।

८९. यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरस्त्वमोघं चाप्रतिक्रियम्।
शैवास्त्रतेजसा सद्यः समशाम्यन्महामुने॥ वही, ३, ३६, ३०।

९०. स्वरक्षार्थं दत्तेन तदस्त्रेण सुवर्चसा।
सुदर्शनेन तस्याश्च व्यधाद्रक्षां शिवाज्ञया॥ वही, ३, ३६, ३७।

९१. ततः स कृष्णः प्रीतात्मा पाण्डवान् सकलानपि।
अपातयत्तदंघ्र्योस्तु तुष्टये तस्य शैवराट्॥ वही, ३, ३६, ३९।

९२. शिवावतारोऽश्वत्थामा महाबलपराक्रमः।
त्रैलोक्यसुखदोऽद्यापि वर्तते जाह्नवीतटे॥ वही, ३, ३६, ४२।

शिर' नामक अस्त्र फेंका। उत्तर में अर्जुन ने भी ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। दो ब्रह्मास्त्रों के तेज से सम्पूर्ण संसार कम्पित हो उठा। इस आयी हुई विपत्ति को देख कर श्रीकृष्ण के निर्देश से अर्जुन ने दोनों अस्त्रों का उपसंहार किया[९३]।

अस्त्रों के उपसंहृत होने पर अर्जुन ने अश्वत्थामा को बलात् पकड़ लिया और रस्सी से कसकर बांध कर द्रौपदी के समक्ष उपस्थित किया। श्रीकृष्ण और भीम की राय थी कि अश्वत्थामा का बध कर दिया जाय। किन्तु द्रौपदी के अनुरोध पर उसके मणिसहित शिर का बाल काट कर उसे शिविर से निकाल दिया गया[९४]।

अपमानित अश्वत्थामा ने इस भूमण्डल को पाण्डव विहीन करने के लिए पाण्डवों के एकमात्र बीज, उत्तरा के गर्भ को विनष्ट करने के लिए पुनः एक ब्रह्मास्त्र छोड़ा। किन्तु वह निष्फल हुआ। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने चक्र से उत्तरा के गर्भ एवं अन्य लोगों की रक्षा की थी[९५]। संक्षेप में यही भागवत में वर्णित अश्वत्थामा की कथा है।

निश्चय ही शिवमहापुराण एवं भागवत में वर्णित अश्वत्थामा की कथा में बहुत कम अन्तर है। किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि दोनों स्थलों की कथाओं में भावसाम्य का एकदम अभाव है। शिवमहापुराण के अनुसार शिवांशावतार अश्वत्थामा कृष्ण आदि महावीरों के लिए भी अनभिभवनीय है। वह द्रौपदी के पुत्रों का वध अवश्य करता है, किन्तु वहाँ यह नहीं बतलाया गया है कि उन्हें इस कार्य में किस प्रकार से सफलता मिली। इससे इतना तो परिज्ञात ही हो जाता है कि भागवत में वर्णित सोये हुए द्रौपदी के पुत्रों के वध स्वरूप गर्हणीय[९६] कृत्य को ही छिपाने के उद्देश्य से ऐसा किया गया है।

शिवमहापुराण में दूसरा परिवर्तन वहां किया गया है जहां कि अश्वत्थामा के ब्रह्मशिर का प्रतिकार अर्जुन शैवास्त्र से करते हैं। भागवत में तो

९३. प्रजोपप्लवमालक्ष्य लोकव्यतिकरं च तम्।
मतं च वासुदेवस्य संजहारार्जुनो द्वयम्॥ शिव० १, ७, ३२।

९४. अर्जुनः सहसाऽऽज्ञाय हरेर्हार्दमथासिना।
मणिं जहार मूर्धन्यं द्विजस्य सह मूर्धजम्॥ वही, १, ७, ५५।

९५. व्यसनं वीक्ष्य तत्तेषामनन्यविषयात्मनाम्।
सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद्विभुः॥ वही, १, ८, १३।

९६. भर्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन् कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि।
उपाहरद्विप्रियमेव तस्य जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति॥ श्रीमद्भागवत १, ७, १४।

यही कहा गया है कि अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र के बदले अर्जुन ने भी ब्रह्मास्त्र ही छोड़ा था और दोनों का उपसंहार भी उन्होंने ही अन्त में किया था। इस स्थल पर किया गया शिवमहापुराण का परिवर्तन स्पष्ट रूप से शैवदृष्टि कोण के समर्थन से प्रेरित है।

शिवमहापुराण में तृतीय परिवर्तन वहां किया गया है जहां कि उत्तरा की गर्भरक्षा करने पर भगवान् श्री कृष्ण सम्पूर्ण पाण्डवों को अश्वत्थामा के चरणकमलों पर गिराते हैं और वह बदले में कृष्ण एवं पाण्डवों को बहुत से वरदान देते हैं[९७]।

इस प्रकार इन्हीं कुछ परिवर्तनों के साथ दोनों पुराणों में कथा सामानरूप से ही वर्णित है। हाँ इतना अवश्य है कि आकार प्रकार में शिव-महापुराण की कथा की अपेक्षा भागवत की कथा प्रायः द्विगुणित है। इतना होते हुए यह बहुत स्पष्ट है कि भागवत की कथा में पूर्ण परिपक्वता है, जब कि शिवमहापुराण की कथा सामान्य अथवा अपरिपक्वरूप से वर्णित है। भाषा में भी पर्याप्त वैभिन्य है।

इसके अतिरिक्त सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह है कि शिवमहापुराण की कथा श्रीमद्भागवत की अनुकृति पर वर्णित है। कहीं-कहीं तो पूरा का पूरा श्लोक ही उधृत कर दिया गया है[९८]। कहीं-कही कथा को तोड़-मरोड़

---

९७. अपातयत्तदघ्र्योस्तु तुष्टये तस्य शैवराट् ॥
अथ द्रौणिः प्रसन्नात्मा पाण्डवान् कृष्णमेव च।
नाना वरान् ददौ प्रीत्या सोऽश्वत्थामाऽनुगृह्य च ॥ शिव०, ३, ३६, ४०।

९८. (अ) किमिदं स्वित्कुतो वेति कृष्ण कृष्ण न वेद्म्यहम्।
सर्वतोमुखमायाति तेजश्चेदं सुदुःसहम् ॥ वही, ३, ३६, २४,

तुलना कीजिए—किमिदं स्वित्कुतो वेति देवदेव न वेद्म्यहम्।
सर्वतोमुखमायाति तेजः परमदारुणम् ॥ भाग० १, ७, २६।

(ब) ब्रह्मास्त्रतेज उन्नद्धं त्वं तच्छैवास्त्र तेजसा। शिव० ३, ३६, २८।

तुलना—ब्रह्मास्त्रतेज उन्नद्धमस्त्रज्ञो ह्यस्त्रतेजसा ॥ भाग० १, ७, २८।

(स) यदप्यस्त्रं ब्रह्मशिरस्त्वमोघं चाप्रतिक्रियम्।
शैवास्त्रतेजसा सद्यः समसाम्यन्महामुने ॥ शिव० ३, ३६, ३०।

तुलना—यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरस्त्वमोघं चाप्रतिक्रियम्।
वैष्णवं तेज आसाद्य समसाम्यद् भृगूद्वह ॥ भाग० १, ७, १५।

(ह) मंस्था मा ह्येतदाश्चर्यं सर्वचित्रमये शिवे।
यः स्वशक्त्याऽखिलं विश्वं सृजत्यवति हन्त्यजः ॥ शिव० ३, ३६, ३१।

तुलना—मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते।
य इदं मायया देव्या सृजत्यवति हन्त्यजः ॥ भाग०, १, ८, १६।

कर शैवदृष्टिकोण के अनुसार उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। किन्तु ग्रन्थकर्ता का यह प्रयास भी नग्नरूप से पाठकों के सामने परिलक्षित हो उठता है[९९]। स्पष्ट है कि यह कथा भी श्रीमद्भागवत की कथा के उत्तर में ही लिखी गई है।

भगवान् शिव के दश अवतार

इस प्रकार यहाँ पर परमात्म-शिव के कुछ अवतारों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भक्तों के हितकारक शिव के अमित अवतार हो चुके हैं किन्तु कोई भी व्यक्ति उनकी गणना नहीं कर सकता[१००]। यद्यपि द्वादश ज्योतिर्लिंगों के रूप में शिव के अवतारों का वर्णन अभीष्ट है किन्तु उसे यहाँ न करके दूसरे प्रकरण में ही विवेचित किया जायगा।

जिस प्रकार भगवान् विष्णु के बहुत से अवतारों में दश अवतारों को विशेष महत्त्व दिया जाता है उसी प्रकार शिव महापुराण में भी शिव के असंख्य अवतारों में दश अवतार की कल्पना महत्त्वपूर्ण है। यह कल्पना वैष्णव दशावतार के आधार पर ही की गई प्रतीत होती है। इन अवतारों की कल्पना मानव-समाज के लिये विशेष उपयोगिनी है। इन अवतारों के नाम इस प्रकार है:—(१) महाकाल (शक्ति, महाकाली), (२) तार (तारा), (३) बाल भुवनेश (बाल-भुवनेशी), (४) षोडश श्रीविद्येश (षोडशी श्रीविद्या) (५ भैरव (भैरवी गिरिजा), (६) छिन्न मस्तक (छिन्न मस्तका), (७) धूमवान् (धूमवती), (८ बगलामुख (बागलामुखी), (९) मातङ्ग (मातङ्गी), (१०) कमल (कमला)।

इन दश अवतारों का महात्म्य सर्वकामप्रद कहा गया है। तन्त्र शास्त्र में भी सशक्तिक इन अवतारों का माहात्म्य विशेष रूप से वर्णित है[१०१]। इन शक्तियों को आराधना शत्रु के मारण आदि कार्यों में विशेष रूप से बतलाई गई है। ये शक्तियां खलों को दण्ड देने वाली एवं ब्रह्मतेज की वृद्धि करने

९९. देखिये—शिव०, ३, ३६, ३७-४०।

१००. शिवावतारा अमिताः सद्भक्तिहितकारकाः।
संख्या न शक्यते कर्तुं तेषां च मुनिसत्तमाः॥ शिव० ३, १०, ५।

१०१. एतद्दशावताराणां महात्म्यं वर्णितं मुने।
सर्वकामप्रदं ज्ञेयं तन्त्रशास्त्रादिगर्भितम्॥ वही, ३, १७, १४।
एतासामपि शक्तीनामाद्भुतो महिमा मुने।
सर्वकामप्रदो ज्ञेयस्तन्त्रशास्त्रादिगर्भितः॥ वही, ३, १७, १५।

वाली हैं[१०२] । इस प्रकार शिव के सशक्तिक इन दश अवतारों का सम्बन्ध लोक में उपासना काण्ड से विशेष रूप से सम्बद्ध देखा जाता है ।

शिव के योगावतार

लोककल्याणकारी भगवान् शंकर प्रत्येक कलियुग में योगाचार्यों के रूप में अवतार लिया करते हैं । प्रत्येक अवतार में उनके चार-चार शिष्य भी हुआ करते हैं और इन शिष्यों के शिष्य, प्रशिष्य भी बहुत बतलाये गये हैं । भगवान् के अवतार संख्या में अट्ठाइस बतलाये गये हैं । अन्य अवतार, जहाँ पर दुष्टों के दलन एव भक्तों के सरक्षण के लिये, प्रधानरूप से, हुआ करते हैं, वहाँ पर ये शिव के योगावतार, किसी का निग्रह किये बिना, योगमार्ग का विस्तार कर प्राणियों को निःश्रेयस् का उपदेश देने के लिये हुआ करते हैं । इन अवतारों के प्रसङ्ग में, भागवत में विष्णु के अवतार के संदर्भ में उद्धृत वचन बहुत ही सटीक उतरते हैं । ये इस प्रकार हैं :—

"अव्यय, अप्रमेय, गुणहीन तथा गुणात्मक भगवान् की अभिव्यक्ति-अवतार—मनुष्यों के परम कल्याणभूत मोक्ष के साधन के लिये हैं :—

श्लोक— नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।

अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ।। भाग० १०,२९,१४ ।

फलतः जीव को मोक्ष प्रदान करना ही भगवान् के अवतरण का मुख्य उद्देश्य है । बद्ध जीव न तो दूसरे जीवको मुक्त ही कर सकता है और न इसके लिये वह उसे उपदेश दे सकता है :—

'स्वयं बद्धः कथमपरान् तारयति ।'

शुद्ध बुद्ध मुक्त भगवान् ही बद्ध जीव के बन्धन को काटने का मार्ग बतलाकर उसे मुक्त कर सकते हैं । यही मुख्य तात्पर्य है अवतार का । भौतिक क्लेश का विनाश तो एक लघुतर अभिप्राय है अवतार का । श्रीमद्भागवत का यह शंखनाद इस विषय का उत्कृष्टतम विमर्श है : —

मर्त्यावतारः खलु मर्त्यशिक्षणं

रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ।।

ठीक ये ही उद्देश्य भगवान् शंकर के योगावतार के सम्बन्ध में हैं । शिवमहापुराण की 'वायुसंहिता', उत्तरभाग, के नवम अध्याय में तथा शतरुद्र-

१०२. शत्रुमारणकार्यादौ तत्तच्छक्तिः परा मता ।
खलदण्डकरो नित्यं ब्रह्मतेजोविवर्द्धितो ।। शिव० ३, १७, १६ ।

संहिता के चतुर्थ एवं पंचम अध्याय में इन योगाचार्यों की सूची इस प्रकार दी हुई है :—

वायुसंहिता से

१. श्वेत, २. सुतार, ३. मदन, ४. सुहोत्र, ५. कंक, ६. लौगाक्षि ७. जैगीषव्य, ८. दधिवाहन, ९. ऋषभ मुनि, १०. उग्र, ११. अत्रि, १२. सुपालक, १३. गौतम, १४. वेदशिरामुनि, १५. गोकर्ण, १६. गुहावासी, १७. शिखण्डी, १८. जटामाली, १९. अट्टहास, २०. दारुक; २१. लाङ्गुली, २२. महाकाल, २३. शूली, २४. दण्डी, २५. मुण्डीश, २६. सहिष्णु, २७. सोम। शर्मा, २८. लकुलीश्वर[१०३]।

शतरुद्रसंहिता से

१. श्वेत, २. सुतार, ३. दमन, ४. सुहोत्र, ५. कंक, ६. लोकाक्षि ७. जैगीषव्य, ८. दधिवाहन, ९. ऋषभ, १०. ११. तप, १२. अत्रि, १३. बलि, १४. गौतम, १५. वेदशिरा, १६. गोकर्ण; १७. गुहावासी, १८. शिखण्डी, १९. माली, २०. अट्टहास, २१. दारुक, २२. लाङ्गली भीम, २३. श्वेत, २४. शूली, २५. मुण्डीश्वर, २६. सहिष्णु, २७. सोमशर्मा; २८. लकुली।

तुलना :—स्पष्ट है कि उक्त दोनों स्थलों की योगाचार्य नामावली में पूर्ण ऐकमत्य नहीं है। किन्तु यह मत-वैभिन्य वस्तुतः बहुत कम है। बहुत से नामों की प्रतीयमान विभिन्नता में एकमात्र लेखक एवं प्रकाशक की अनवधानता एवं प्रमाद ही कारण है। अन्य नामों के विषय में यहां कुछ विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

उत्तरवायवीय संहिता में तृतीय योगाचार्य का नाम 'मदन' लिखा गया है किन्तु शतरुद्र संहिता में इनका नाम 'दमन' मिलता है। यद्यपि कुछ अन्य

१०३. श्वेतः सुतारो मदनः सुहोत्रः कङ्क एव च।
लौगाक्षिश्च महामायो जैगीषव्यस्तथैव च॥
दधिवाहश्च ऋषभो मुनिरुग्रोऽत्रिरेव च।
सुपालको गौतमश्च तथा वेदशिरा मुनिः॥
गोकर्णश्च गुहावासी शिखण्डी चापरः स्मृतः।
जटामाली चाट्टहासो दारुको लाङ्गुली तथा॥
महाकालश्च शूली च दण्डी मुण्डीश एव च।
सविष्णुः (सहिष्णुः) सोमशर्मा च लकुलीश्वर एव च॥
अष्टाविंशति संख्याता योगाचार्या युगक्रमात्॥ शि०, ७, २, ९, ३-७।

पुराणों से भी प्रथम नाम का ही समर्थन होता है[१०४], तथापि 'मदन' की अपेक्षा 'दमन' नाम अधिक समीचीन प्रतीत होता है। 'दमन' नाममात्र से योगाचार्य की इन्द्रिय-दमन की प्रवृत्ति झटिति प्रतीत होती है। अतः 'दमन' नाम ही अधिक उपयुक्त है।

कुछ ऐसे भी योगाचार्यों के नाम हैं जो दोनों सूचियों में, परस्पर एक दूसरे से एकदम भिन्न हैं। ऐसे नामों के विषय में पुराणों का बहुमत ही मान्य किया जाता है। शतरुद्रसंहिता में अष्टविंशति योगाचार्यों के स्थान में सप्तविंशति योगाचार्यों के नामों का ही उल्लेख है। दशम आचार्य का नाम दिया ही नहीं गया है।

योगाचार्यों की नामावली के साथ ही साथ उनके शिष्यों की भी नामावली दी गई है। प्रत्येक योगाचार्य के चार-चार शिष्य बतलाये गये हैं[१०५]। योगाचार्यों की भांति शिष्यों की नामावली में भी, शिवमहापुराण के उक्त दोनों स्थलों में पर्याप्त वैमत्य है।

---

१०४. सुतारो मदनश्चैव सुहोत्रः कङ्कणस्तथा। कूर्म० पूर्वार्द्ध, ५३, ५।

१०५. शिष्याः प्रत्येकमेतेषां चत्वारः शान्तचेतसः।
श्वेतादयश्च रुष्यन्तास्तान् ब्रवीमि यथाक्रमम्॥ शिव० ७, २, ९, ७।

द्वितीय अध्याय

अन्य देवगण

"महादेवी-उमा"

शिवमहापुराण के अनुसार परा शक्ति ही सती के रूप में अवतरित हुई थी[1]। दक्ष-यज्ञ में योगाग्नि के द्वारा अपने शरीर का परित्याग करने पर सती अर्थात् परमात्म-शिव की शक्ति ही पुनः उमा (पार्वती) के रूप में प्रादुर्भूत हुई[2]। इस प्रकार यह निश्चय होता है कि सती एवं उमा (पार्वती) एक ही सत्ता (शक्ति) के दो नाम हैं। दोनों में अभेद है और दोनों ही परा शक्ति के रूप हैं।

परमात्म-शिव एवं उनकी शक्ति (उमा) में स्वल्प भी अन्तर नहीं है। यदि कुछ अन्तर है भी तो वह बाह्यलीला मात्र है। शिवमहापुराण में कहा गया है कि—'कुछ विद्वानों का मत है कि विवाह के अनन्तर महादेवी सती का अपने पति रुद्र (परमात्म-शिव) से वियोग हुआ। किन्तु सर्वदा स्वयं प्रकाश सती और परमात्म-शिव शब्द और अर्थ के समान अभिन्न हैं। ऐसी अवस्था में उनका वास्तविक वियोग कैसे सम्भव हो सकता है? जो कुछ होता है वह उनकी इच्छा से ही होता है। सांसारिक रीति का अनुसरण करते हुये सती एवं परमात्म-शिव का जो कार्य है वह सांसारिक लीला करने की रुचि की दृष्टि से ही उपपन्न हो सकता है[3]।

---

१. दक्षस्य मम पुत्रस्य पुत्री भव भवाम्बिके ।। शिव० ३, ३, २२ ।
ब्रह्मणो वचनाद्देवी दक्षस्य दुहिताऽभवत् ।। वही, ३, ३, २७ ।
दक्षपत्न्यास्तदा चित्ते शिवोवास दयान्विता ।। वही, २, २, १४, १४ ।

२. सती त्यक्ततनुः प्रीत्या मेनकातनयाऽभवत् ।
नाम्ना सा पार्वती देवी तपः कृत्वा सुदुःसहम् ।
नारदस्योपदेशाद्वै पतिं प्राप शिवं पुनः । वही, २, ३, १, ९-१० ।

३. ततः सती महादेवी वियोगमलभन्मुने ।
स्वपतेः शंकरस्येति वदन्त्येके सुबुद्धयः ।।
वागर्थाविव संपृक्तौ शक्तीशौ सर्वदा चितौ ।
कथं घटेत च तयोर्वियोगस्तत्त्वतो मुने ।।
लीलारुचित्वादथवा संघटेताखिलं च तत् ।
कुरुते यद्यदीशौ सर्वदा च सतीशौ भवरीतिगौ ।। वही, २, २, २४, ४-६ ।

जिस प्रकार लोक में भी शक्ति एवं शक्तिमान् को पृथक् नहीं किया जा सकता उसी प्रकार शक्ति (सती अथवा उमा) एवं परमात्म-शिव में भेद असम्भव है। इसके अतिरिक्त यदि किसी प्रकार का भेद किया भी जाता है तो वह बाह्योपचार मात्र है।

महादेवी उमा एवं परमात्म-शिव की शक्ति में अभेद प्रदर्शन के लिये ही दार्शनिक क्षेत्र में शक्ति की ही भांति पौराणिक क्षेत्र में उमा को संपूर्ण शक्तियों की आदिभूत, त्रिलोकजननी, शिवा, आदि अनेक अभिधानों से अभिहित किया जाता है[४]। जो कार्य एवं स्वरूप दार्शनिक क्षेत्र में शक्ति के बतलाये गये हैं वे ही कार्य एवं स्वरूप उमा के भी कहे जाते हैं।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि उमा को जहाँ एक ओर शक्ति की भांति चित्रित किया गया है वहीं पर परमात्म-शिव की सहवासिनी होने के कारण उनके सम्पूर्ण गुणों से भी इन्हें अलंकृत किया गया है[५]। जिस प्रकार शिव को सृष्टि का मूल प्रवर्तक माना जाता है उसी प्रकार उमा को भी संसार के मूल कारण के रूप में देखा जाता है। जिस प्रकार शिव के दो रूप हैं—उग्र एवं सौम्य, उसी प्रकार इस देवी के भी दो रूप हैं—एक तो सौम्यरूप, जिसे महादेवी शिवा आदि नामों से जाना जाता है और दूसरा भयावह एवं उग्ररूप, जिसे महाकाली, दुर्गा आदि नामों से सम्बोधित कराया जाता है। परन्तु जैसा शिव के सम्बन्ध में हुआ, वैसे ही इस देवी के ये दोनों रूप भी पृथक्-पृथक् नहीं रहे और प्रायः देखा यह जाता है कि जहाँ उनके एक रूप की उपासना का प्रसंग आता है वहीं उनके दूसरे रूप की ओर भी संकेत किया जाता है। उदाहरणार्थ, जब उनका पार्वती के रूप में स्तवन होता है, तब प्रायः सर्वदा ही उनके भीषण रूप की ओर भी संकेत किया जाता है, जिस रूप में वह दानवों का संहार करती हैं और महामाता कहलाती हैं[६]। शिवमहापुराण की पंचमी उमासंहिता के ४५-५० अध्यायों में देवी के इन दो रूपों का सम्मिश्रण अत्यन्त स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। इन अध्यायों में उमा का चरित्र "ब्रह्मवैवर्त" पुराण के दुर्गाखण्ड के आधार पर उपस्थित किया गया है।

४. त्वमाद्या सर्वशक्तीनां त्रिलोकजननी शिवे।
शिवप्रिया सदा देवि सर्वदेवस्तुता परा॥
कृपां कुरु महेशानि मम ध्यानस्थिता भव॥ शिव० २, ३, ६, ४५-४६।

५. शक्ति को भी परमात्म-शिव के गुणों से अलंकृत किया गया है। देखिये—इसी प्रबन्ध के 'शक्तितत्त्व' का 'शक्ति का स्वभाव' नामक उपशीर्षक।

६. महामायां जगद्धात्रीं चण्डिकां लोकधारिणीम्।
प्रणमामि महादेवीं सर्वकामार्थदायिनीम्॥ वही, २, ३, ५, २१।

यहाँ यह लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जिस प्रकार पौराणिक शिव का मूल वैदिक रुद्र, जो एक भयंकर देवता के रूप में ऋग्वेद में वर्णित हैं, को माना जाता है उसी प्रकार पौराणिक देवी का मूल पुराण से बाहर खोजना पड़ेगा और देवी का यह आदि रूप भयंकर ही होगा, किन्तु शिव महापुराण में इस बात की ओर संकेत नहीं किया गया है। तथापि यह एक प्रबल सत्य है कि पुराणकाल में भी देवी के इन दोनों रूपों के मौलिक भेद का भी कुछ-कुछ ज्ञान लोगों को अवश्य रहा, और जब लोग इन दोनों रूपों की वास्तविकता को विस्मृत कर दिये तब इसका समाधान करने के लिये अनेक काल्पनिक और मनचाहे ढंग से व्याख्याएँ की गई। उदाहरणार्थ शिवमहापुराण में कहा गया है कि—'एक समय भगवान् शिव पार्वती के साथ मन्दराचल पर क्रीडा कर रहे थे। उस समय उन्होंने एकान्त में पार्वती की निन्दा-सी करते हुए मुस्कराकर कहा—'तुम काली हो'[७]। भगवान् शंकर के इस व्यङ्ग्य को सुनकर पार्वती को महान् कष्ट हुआ। अतः अपने कृष्ण रंग को गौरत्व में परिवर्तित करने के लिये वे तपस्यार्थ हिमालय पर चली गयीं। वहाँ उन्होंने तपस्या से ब्रह्मा को सन्तुष्ट किया। आविर्भूत हुये ब्रह्मा ने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा—'यद्यपि आप अपनी इच्छामात्र से ही अपना यह कार्य कर सकती थीं तथापि आपने जो तपस्या की है वह एक लीलामात्र है। आप की लीला भी लोककल्याण के लिए ही हुआ करती है। अतः आप इसके द्वारा मेरे एक अभीष्ट कार्य की सिद्धि कीजिये। देवपीडक, शुम्भ एवं निशुम्भ का वध कीजिये। इसलिये अब विलम्ब करने से कोई लाभ नहीं। आप क्षणभर के लिये सुस्थिर होजाइये। आप के द्वारा जो शक्ति रची या छोड़ी जायगी, वही उन दोनों के लिये मृत्यु बन जायगी'[८]।

ब्रह्मा जी के इस प्रकार प्रार्थना करने पर देवी पार्वती सहसा अपनी काली त्वचा के आवरण को उतार कर गौरवर्ण हो गई[९]। त्वचाकोष (कृष्णत्वङ्मय आवरण) रूप से त्यागी गई जो उनकी शक्ति थी, उसका नाम 'कौशिकी' हुआ। वह काले मेघ के समान कान्तिवाली कृष्णवर्णा कन्या हो

---

७. कालीत्याह रहस्यम्बां निन्दयन्निव सस्मितः ।। शिव० ७, १, २४, ३१।

८. अलं विलम्बेनात्र त्वं क्षणेन स्थिरा भव।
शक्तिर्विसृज्यमानाऽद्य तयोर्मृत्युर्भविष्यति ।। वही, ७, १, २५, ३७।

९. ब्रह्मणाऽभ्यर्थिता चैवं देवी गिरिवरात्मजा।
त्वक्कोशं सहसोत्सृज्य गौरी सा समजायत ।। वही, ७, १, २५, ३८।

गई[१०]। देवी की वह मायामयी शक्ति ही योगनिद्रा और वैष्णवी कहलाती है। यही विन्ध्याचल निवासिनी अष्टभुजा दुर्गा हैं[११]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देवी के इन दो वर्णों की कल्पना में उनके द्विविध रूप ही मूलरूपसे विद्यमान हैं। जब पार्वती के रूप में उनकी उपासना होती है तब वे भद्र एवं गौरवर्ण की कल्पित की जाती हैं और जब उनके भयावह रूप की उपासना होती है तब उनका वर्ण कृष्ण कल्पित किया जाता है।

महादेवी पार्वती उमा का सामर्थ्य विलक्षण है। सर्वदा स्वतन्त्र होते हुए भी परमात्म-शिव उनके द्वारा परतन्त्र कर दिये जाते हैं[१२]। प्रलय अथवा किसी का नाश करने में भी पार्वती स्वतन्त्र हैं। संसार की कोई भी शक्ति उनकी इच्छा का विघात नहीं कर सकती। यही कारण है कि गणेश जी के वध से क्रुद्ध हुई पार्वती ने देवों से कहा था – आज सम्पूर्ण देवों एवं शंकर के गणों ने मेरे पुत्र का वध कर दिया है। मैं उन सभी का नाश अथवा प्रलय करूंगी[१३]।

पार्वती का पूर्व अवतार एवं परमात्म शंकर की पत्नी सती उनके (शंकर के) द्वारा सर्वदा त्रिशूल के अग्रभाग से रक्षित रहा करती थीं। जगत् के कल्याण करने वाले परमात्म-शिव ने उनका निर्माण तपस्या के लिये ही किया था[१४]। लोककल्याण के लिये ही ये प्रजापति दक्ष से उत्पन्न हुई थीं। इन्होंने भक्तों के उद्धार के लिये ही बहुत सी लीलायें भी की हैं। पितृयज्ञ में योगाग्नि द्वारा शरीर त्यागने के अनन्तर, देवों की प्रार्थना स्वीकार करके सती ने पार्वती के रूप में हिमालय के घर जन्म धारण किया था। बाद में तपस्या के द्वारा इन्होंने पुनः भगवान् रुद्र को प्राप्त किया।

जिस समय सती ने योग द्वारा पितृ-यज्ञ में शरीर का त्याग किया उस समय उनके शरीर की एक ज्वाला जिस पर्वत पर गिरी वह ज्वालामुखी नाम

---

१०. सा त्वक्कोशात्मनात्सृष्टा कौशिकी नाम नामतः।
काली कालाम्बुदप्रख्या कन्यका समपद्यत॥ शिव०, ७, १, २५, ३९।

११. विन्ध्ये च वसतिं तस्याः । वही, ७, १, २५, ४४।

१२. स्वतन्त्रः परतन्त्रश्च त्वया देवि कृतो ह्यहम्।
सर्वकर्त्री च प्रकृतिर्महामाया त्वमेव हि॥ वही, २, ३, ३६, २०।

१३. मत्सुतो नाशितश्चाद्य देवैः सर्वैर्गणैस्तथा।
सर्वांस्तान्नाशयिष्यामि प्रलयं वा करोम्यहम्। वही, २, ४, १७, ६।

१४. सती नाम त्रिशूलाग्रे सदा रुद्रेण रक्षिता।
तपोर्थं निर्मिता पूर्वं शम्भुना सर्वविष्णुना॥ वही, २, १, १६, ३४।

से विख्यात हुआ है। उसके दर्शन से ही प्राणियों के पाप विनष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार नदियों में गंगा, सम्पूर्ण नदों में शोण, क्षमा में पृथिवी, गाम्भीर्य में सागर, समस्त ग्रहों में सूर्य विशिष्ट हैं उसी प्रकार संपूर्ण देवों में श्री पराम्बा विशिष्ट हैं। जगदम्बा उमा, सती, पार्वती आदि रूपों से शिव के अवतार रुद्र के साथ कैलास पर्वत पर सर्वदा रमण किया करती हैं। इनकी सारी लीलायें मानव कल्याण के लिये ही हुआ करती हैं।

संसार की सारी शक्तियाँ मां अम्बा (पार्वती देवी) की ही अंशभूता हैं। वे ही जगज्जननी, जगत् पालयित्री, एवं संहारकर्त्री कही गई हैं। ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र की सत्ता इन्हीं के कारण बतलाई गई है। इनकी उपासना सर्वाभिष्ट-दात्री कही गई है। लोक में विष्णु एवं शिव की भाँति दुर्गा का भी पूजन सोत्साह मनाया जाता है। 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण बाहुल्येन इन्हीं के यश का गान करता है।

पुराणों के मनन से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम अम्बा की पूजा शिव की सहचरी के रूप में हुआ करती थी, किन्तु कालान्तर में, शिव की सहचरी माने जाने के बावजूद, देवी की उपासना स्वतन्त्र रूप से होती रही और होते-होते उसने एक अलग मत का रूप धारण कर लिया, जिसका अपना अलग साहित्य था और अपने अलग आगम ग्रन्थ तक थे। इन्हीं आगम ग्रन्थों के अपरकालीन संस्करण 'तन्त्र' कहलाये। इस मत में देवी की शक्ति के रूप में कल्पना किये जाने के कारण इस मत का नाम "शाक्त" मत पड़ा।

इस देवी के स्वरूप के विषय में पुराणों से बहुत सी सूचनायें उपलब्ध हो जाती हैं। उसकी एक क्रूर एवं भयावह देवता के रूप में भी कल्पना की जाती है। वह सामान्यतः दुर्गा, चण्डिका, आदि नामों से भी जानी जाती है। वह भयंकर मुखवाली, तीक्ष्ण दंष्ट्रा एवं कराल आकृति वाली कही गई है। उसका वाहन सिंह बतलाया गया है। वह अष्टभुजा है और अपनी सभी भुजाओं में भयंकर अस्त्र-शस्त्रों को धारण करती है[१५]। कभी-कभी उसे संपूर्ण देवों में श्रेष्ठतम बतलाया जाता है और ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र भी उससे उत्पन्न

१५. सा शक्तिरम्बिका प्रोक्ता प्रकृतिः सकलेश्वरी।
त्रिदेवजननी नित्या मूलकारणमित्युत ॥ शिव० २, १, ६, २१।
अस्या अष्टौ भुजाश्चासन् विचित्रवदना शुभा। वही, २, १, ६, २२।
नानायुधधरा देवी फुल्लपंकजलोचना ॥ वही, २, १, ६, २३।
शंखचक्रत्रिशूलादिसायुधाष्टमहाभुजा ॥ वही, ७, १, २५, ४०।

बतलाये गये हैं[१६]। कालान्तर में उसकी शक्ति का इतना अधिक विकास हो जाता है कि सम्पूर्ण देवताओं की भी वही शक्ति मानी जाने लगती है[१७]। यह शाक्तमत का ही परिणाम था कि देवी को आद्या प्रकृति और पुरुष की माया माना जाता था और विष्णु तथा ब्रह्मा आदि देवताओं का इस पुरुष के साथ तादात्म्य किया जाता था।

पुराणों में वर्णित देवी के इस स्वरूप का प्रमुख कृत्य दानवों का संहार करना था। इन दानवों में सबसे बड़ा 'महिषासुर' था। महिषासुर के बधकी कथा अनेक पुराणों में दी गयी है। इसके अतिरिक्त शुम्भ, निशुम्भ, मधु, कैटभ, आदि प्रमुख दानवों का संहार देवी ने किया था। इन सब वीर कार्यों में उनका क्रूर रूप ही प्रमुख है। यतः उनको पार्वती से भिन्न नहीं माना जाता था, अतः शैव भी देवी की उपासना करते थे और यह उपासना प्रचलित उपासना–विधि के अनुकूल थी। देवी की उपासना का विशेष अवसर नवरात्र माना जाता है। उसमें भी अष्टमी एवं नवमी को विशेष रूप से इनकी उपासना होती है। देवी को पुष्प, धूप, नैवेद्य, दूध, दही और फल भेंट किये जाते थे और भक्त-जन श्रद्धा से उनका ध्यान और प्रार्थना करते थे[१८]। इस पूजा से जो पुण्य-लाभ होता है उसे भी पुराणों में बतलाया गया है। देवी के इस पूजा–वर्णन को देखकर यही भावना दृढ होती है कि जो देवी को इस प्रकार पूजते थे वे विशुद्ध ब्राह्मण धर्मानुयायी धार्मिक थे। वे मद्य, मांस आदि से भी विरक्त रहा करते थे। देवी की उपासना शैव एवं वैष्णव भी समान रूप से किया करते थे।

देवी की उपासना के उपर्युक्त प्रकार के ठीक विपरीत इनकी उपासना का एक दूसरा भी प्रकार है। इस दूसरी उपासना पद्धति से देवी का जो प्रारम्भिक स्वरूप सामने आता है, वह सर्वथा विजातीय है। देवी के इस विजातीय रूप-ज्ञान के लिये इस द्वितीय उपासना पद्धति से बड़ा अन्य कोई प्रबल साधन नहीं है। महाभारत से यह ज्ञात होता है कि अपने क्रूर रूप में इस देवी के सम्बन्ध में यह धारणा बनी थी कि उसे रक्त और मांस की बलि-

---

१६. तथा सर्वेषु देवेषु श्री पराम्बा विशिष्यते ।। शिव० ५, ११, १७।
त्रिदेवजननीं नित्यां भक्ताभीष्टफलप्रदाम् । वही, ५, ४५, ५६।

१७. कालिकाकमलावाणीमुखाः सर्वा हि शक्तयः ।
मदंशादेव संजाताः .... ।। वही, ५, ४६, ३२।
देखिये—वही, २, १, ६, ४६-४७।

१८. देखिये—वही, ५, ५१, ४२-८८ पर्यन्त ।।

प्रिय है[१९]। पुराणों में यह और भी स्पष्ट हो जाता है[२०]। इनको मद्य भी चढ़ाया जाता था। महिषासुर से युद्ध करते समय वह मदिरापान करके स्फूर्तिलाभ करती थीं[२१]।

देवी के इस रूप की उक्त प्रकार से जो लोग पूजा करते थे, वे कभी भी वही नहीं हो सकते थे, जो उनके सौम्यरूप की उपासना करते थे। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि देवी की उपासना का दूसरा प्रकार वह है जो प्रारम्भ में इनके प्राचीन आर्येतर उपासकों में प्रचलित था। वे और उनके वंशज आर्य प्रभाव के अन्तर्गत आ जाने के बाद भी उसी प्राचीन रूप से देवी की पूजा एवं उपासना करते रहे।

भगवान् शंकर के गणों की ही भांति देवी के भी असंख्यगण हैं। इनके गणों में स्त्रियां ही रहती थीं। इनमें काली, तारा, छिन्नमस्ता, श्री, विद्या, भुवनेश्वरी, भैरवी, बगला, धूम्रा, त्रिपुर सुन्दरी, मतङ्गी, महाविद्या प्रधान बतलाई गई हैं[२२]। दैत्यों के साथ संग्राम करने में ये सब देवी की सहायता किया करती थीं। देवी के इन्हीं गणों को 'मातृगण' कहा जाता था[२३]।

धीरे-धीरे लोककल्याणकारिणी देवी उमा का इतना अधिक प्रभाव बढ़ा कि इनके मन्दिर एवं इनकी प्रतिमा का निर्माण सर्वाधिक पुण्यशाली कार्य लोक में माना जाने लगा[२४]। जिस प्रकार अन्य देवों की शक्तियां उन-उन देवों

---

१९. महाभारत (कलकत्ता संस्करण) सौप्तिक, ८।

२०. विन्ध्ये च वसति तस्याः पूजामासवपूर्वकैः।
मांसैर्मत्स्यैरपूपैश्च निर्वर्त्यासौ समादिशत्॥ शिव० ७, १, २५, ४४।
तुलना कीजिये—बलिदानविधानं च श्रूयतां मुनिसत्तम।
मायाति महिषं छागं दद्यान्मेषादिकं शुभम्॥ ब्रह्मवैवर्त० भा० २, ६४, ९२।

२१. पपौ पुनः पुनः पानं जहासोद्भ्रान्तलोचना। शिव० ५, ४६, ५४।
वारुणीमदसंजातमुखरागाऽऽकुलेन्द्रिया।
प्रोवाच परमेशानी मेघगम्भीरया गिरा॥ वही, ५, ४६, ५६।

२२. असख्यातास्ततो जाता मातरो दिव्यमूर्तयः। वही, ५, ५०, ३०।
कालीताराछिन्नमस्ता श्रीविद्या भुवनेश्वरी।
भैरवी बगला धूम्रा श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी।
मातंगी च महाविद्या निर्गता दश सायुधाः॥ वही, ५, ५०, २९।

२३. ततो मातृगणैर्युद्धं प्रावर्तत भयंकरम्। वही, ५, ५०, ३१।

२४. कारयन्मातुरावासं मुक्तो भवति बन्धनात्॥ वही, ५, ५०, २१।
प्रतिमाः कारयेद्यस्तु सर्वलक्षणलक्षिताः।
स उमायाः परं लोकं निर्भयो व्रजति ध्रुवम्॥ वही, ५, ५०, २३।

पर ही निर्भर रहती थीं, अर्थात् उनकी पूजा देवों के विना स्वतन्त्र रूप से नहीं होती थी, ठीक उसी प्रकार प्रारम्भ में उमा की भी आराधना देव शंकर के ही साथ होती थी, किन्तु कालान्तर में देवी की उपासना आदि स्वतन्त्र रूप से भी होने लगी। मन्दिरों में भी दुर्गा को मुख्य स्थान पर स्थापित करके उनके चारों ओर 'पंचायतन' की स्थापना होती थी[२५]। उमा के भक्त इस पाञ्चभौतिक शरीर को छोड़ने के बाद उनके लोक को जाते एवं उनके गण होते हैं। इस प्रकार न केवल इस लोक में ही देवी की स्वतन्त्र उपासना होती थी, अपितु लोकान्तर में भी उनके एक स्वतन्त्र लोक की कल्पना की गई है।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार पुराणों में भगवान् शंकर के लोक (निवास-स्थान) का नाम कैलास बतलाया गया है, और यह भी सत्य है कि यह कैलास भूतल पर ही स्थित है, उसी प्रकार महादेवी के भी लोक का नाम 'मणिद्वीप' [२६], शिवमहापुराण में निर्दिष्ट किया गया है। यह सत्य है कि यह 'मणिद्वीप' भूतल पर ही स्थित है, किन्तु इसकी स्थिति कहाँ है यह एक अन्य अन्वेषण का विषय है। उमा, अम्बा के भक्त इस लोक का त्याग करने के बाद जाकर वहीं निवास करते बतलाये गये हैं। अम्बा का यह लोक सम्पूर्ण लोकों में ऊपर स्थित कहा गया है[२७]।

देवी के घोररूप की उपासना के विषय में शिवमहापुराण में जो कुछ कहा गया, वस्तुतः वह तन्त्रसाहित्य के पूरक के रूप में है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि पौराणिक युग में देवी की उपासना धीरे-धीरे एक पृथक् मत का रूप धारण कर रही थी। यह मत शाक्तमत कहलाता था और इसके अनुयायी शाक्त कहे जाते थे। इस मत का उद्भव विजातीय होने के कारण दीर्घकाल तक इस को मान्यता नहीं प्राप्त हुई थी। शाक्तों ने अपने मत को मान्य बनाने के लिये भरसक प्रयत्न किया। पहले तो उन्होंने आर्यों के श्रुति-ग्रन्थों से ही अपने सिद्धान्तों की प्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयास किया। उस प्रयास में उन्होंने इस देवी को 'गायत्री', 'वेदमाता', 'सावित्री', 'सरस्वती'

२५. मध्ये देवीं स्थापयित्वा पंचायतनदेवताः।
चतुर्दिक्षु स्थापयेद्यस्तस्य पुण्यं न गण्यते ॥ शिव० ५, ५०, २७।

२६. इष्टकानां तु विन्यासो यावद्वर्षाणि तिष्ठति।
तावद्वर्षसहस्राणि मणिद्वीपे महीयते ॥ वही, ५, ५१, २२।
येन मूर्तिः महादेव्या उमायाः कारिता शुभा।
नरायुतं तत्कुलजं मणिद्वीपे महीयते ॥ वही, ५, ५१, ४१।

२७. सोऽन्ते गच्छेदुमालोकं सर्वलोकोपरिस्थितम् ॥ वही, ५, ५१, ७२।

'धर्मरूपिणी' 'त्रयी', एवं 'वेदरूपा' आदि नामों से अभिहित कर इसका मूल वैदिक साहित्य में सिद्ध करने का प्रयास किया[२८]।

स्कन्द

शिव महापुराण की देव-कथाओं में स्कन्द जन्म की कथा अपना एक विशिष्ट महत्त्व एवं स्थान रखती है। रुद्रसंहिता का चतुर्थ 'कुमार खण्ड' स्कन्द की लीलाओं का वृहद् वर्णन प्रस्तुत करता है। यहां संक्षेप में इनकी जन्मलीला एवं कार्यलीला का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है :—

'सम्पूर्ण त्रिलोकी तारक आदि असुरों से पीडित थी। देवों एवं मुनियों ने प्रयत्न करके शिव-पार्वती का विवाह करवाया, क्योंकि शिव की सन्तान ही तारक असुर का वध कर सकती थी। काफी समय बीत जाने पर भी जब शिव को पार्वती से कोई भी सन्तति न हुई तो देवताओं को बड़ी निराशा हुई। वे विष्णु को आगे करके कैलाश पर्वत पर गये। वहां उन लोगों ने भगवान् शंकर के द्वार पर विलापमिश्रित उनकी स्तुति करनी प्रारम्भ की[२९]। उस समय भगवान् शंकर पार्वती के साथ दीर्घकालीन सम्भोग लीला कर रहे थे। कोलाहल को सुनकर वे द्वार पर आये। देवों ने अपनी विगद्गाथा उनसे कह सुनाई। भगवान् शंकर ने कहा—'कल्याणकारी, स्खलित मेरे वीर्य को इस समय कौन ग्रहण करेगा? जिसे ग्रहण करना हो वह ग्रहण करे।' ऐसा कहकर उन्होंने अपना वीर्य पृथिवी पर गिरा दिया। देवताओं की प्रेरणा से अग्नि ने कपोत का रूप धारण करके अपने चंचुपुट से सम्पूर्ण शिव-वीर्य का भक्षण किया[३०]। विलम्ब होने पर, इसी बीच, पार्वती भी वहां आ गईं। जब उन्हें सम्पूर्ण वृत्तान्त ज्ञात हो गया तब कोप में जलती हुई, देवों को शाप

२८. गायत्री त्वं वेदमाता त्वं सावित्री सरस्वती।
त्वं वार्ता सर्वजगतां त्वं त्रयी धर्मरूपिणी ॥ शिव० २, ३, ३, ३१।
गीतिस्त्वं सामवेदस्य ग्रन्थिस्त्वं यजुषां हुतिः।
ऋग्वेदस्य तथा मात्राऽथर्वणस्य परा गतिः ॥ वही, २, ३, ३, ३५।

२९. आर्तवाण्या तदा प्रोचे तारस्वरतया मुदा ॥
शम्भुमस्तौन्महाप्रीत्या सामरो हि मया हरिः ॥ वही, २, ४, ६०।

३०. शिवतः स्खलितं वीर्यं को ग्रहिष्यति मेऽधुना ॥
स गृह्णीयादिति प्रोच्य पातयामास तद्भुवि।
अग्निर्भूत्वा कपोतो हि प्रेरितः सर्वनिर्जरैः ॥
अभक्षयच्छांभवं वीर्यं चंच्वा तु निखिलं तदा। वही, २, ४, २, ९-११।

देती हुई, उन्होंने इस प्रकार कहा—'देवों ने आज मेरे विहार को विनष्ट किया है। मैं वन्ध्या हो गई। अतः आज से सम्पूर्ण देवताओं की स्त्रियां वन्ध्या हुआ करेंगी[३१]।

किन्तु दुःसह शिव का वीर्य अग्नि को सहन न हुआ। अतः उन्होंने अपने दुःख के बारे में भगवान् शंकर से निवेदन किया। शंकर जी ने उस तेज को किसी स्त्री में प्रयत्नपूर्वक आहित करने को कहा[३२]। अतः जब तपोमास में प्रातः स्नान करने वाली अरुन्धतीरहित, सप्तर्षियों की पत्नियां शीत से पीडित होकर अग्नि की ज्वाला के समीप से जा रही थीं, उसी समय रोम-छिद्र के द्वारा वह्निस्थ रेतःकणिकायें, शीघ्र ही, उनके शरीर में प्रविष्ट हो गईं। वह्नि गतज्वर हो गये[३३]। उनकी परेशानी दूर हो गई। किन्तु उन स्त्रियों को गर्भवती जानकर जब उनके पतियों ने उनका परित्याग कर दिया तब उन लोगों ने दुःखी होकर गर्भरूप उस शिवतेज को हिमाचल के पृष्ठभाग पर त्यक्त कर दिया[३४]। हिमालय भी जब उस तेज को सहन न कर सके तो उन्होंने उसे शीघ्र ही गंगा में निःक्षिप्त कर दिया[३५]। गंगा को भी वह शिवतेज सह्य न हुआ अतः उसने अपनी तरंगों के द्वारा उसे शरवण में फेंक दिया[३६]। जहां उसने बालक का रूप धारण किया[३७]। वहीं पर आगे कहा गया है कि शिववीर्य के बालक का रूप धारण कर लेने पर 'अग्नि-देव' वहां गये और अपने पुत्र का आलिंगन एवं चुम्बन करके उसे शस्त्र एवं 'शक्ति' प्रदान किये[३८]। इसके बाद कृत्तिकायें उस बालक को अपने घर ले

३१. नष्टं चक्रुर्मद्विहारं वन्ध्याऽभवमहं सुराः ॥ शिव० २, ४, २, १५।

३२. कस्याश्चित्सुस्त्रियो योनौ तद्रेतस्त्यज यत्नतः।
भविष्यसि सुखी त्वं हि निर्दाहात्मा विशेषतः ॥ वही, २, ४, २, ४८।

३३. तद्रेतःकणिकाः सद्यस्तद्देहान् विविशुर्मुने।
रोमद्वाराऽखिला वह्निरभूद्दाहविवर्जितः ॥ वही, २, ४, २, ५६।

३४. तत्यजुः शिवरेतस्तद्गर्भरूपं मुनिस्त्रियः।
ता हिमाचलपृष्ठेऽथाभवन् दाहविजिताः ॥ वही, २, ४, २, ६४।

३५. असहञ्छिवरेतस्तद्धिमाद्रिः कम्पमुद्वहन्।
गङ्गायां प्राक्षिपत्तूर्णमसह्यं दाहपीडितः ॥ वही, २, ४, २, ६५।

३६. गंगयाऽपि च तद्वीर्यं दुःसहं परमात्मनः।
निःक्षिप्तं हि शरस्तम्बे तरंगैः स्वैर्मुनीश्वर ॥ वही, २, ४, २, ६६।

३७. पतितं तत्र तद्रेतो द्रुतं बालो बभूव ह। वही, २, ४, २, ६७।

३८. ततस्तं पावको गत्वा दृष्ट्वाऽऽलिङ्ग्य चुचुम्ब च।
पुत्रेति चोक्त्वा तस्मै स शस्त्रं शक्तिं ददौ च सः ॥ वही, २, ४, ३, १६।

जाकर पालती पोषती हैं[३९]। बाद में जब देवों के द्वारा यह पता लग जाता है कि शिव के वीर्य से उत्पन्न बालक कृत्तिकाओं के पास है तब वे उस कुमार को अपने पास बुलवा लेते हैं। वहां उनका अभिषेक किया जाता है और बाद में वे तारक असुर का बध करते हैं।

स्कन्द को अग्निपुत्र, गांगेय, कार्तिकेय, एवं शिवपुत्र आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है[४०]। स्कन्द का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठी को हुआ था[४१]। अतः उस दिन इनका पूजन करना चाहिये। कृत्तिका नक्षत्र युक्त भौमवार के दिन गृह, क्षेत्र आदि एवं घर में काम आने वाली वस्तुओं के दान से तथा स्कन्द के यजन तथा घण्टा आदि के दान से मानव को बहुत ही शीघ्र वाक्‌सिद्धि होती है[४२]।

गणेश के पूर्व विवाह से अपने माता पिता पर असन्तुष्ट होकर कार्तिकेय क्रौंच पर्वत पर चले गये थे और वे आज भी वहीं पर वर्तमान हैं। उन्होंने अपना विवाह नहीं किया था अतः वे कुमार कहे जाते हैं[४३]।

स्कन्द जन्म की कथा विविध पुराणों, रामायण एवं महाभारत में किंचित् परिवर्तन एवं क्रमिक विकास के साथ उल्लिखित की गई है। किन्तु शिव महापुराण की कथा रामायण के आधार पर ही लिखी गई है। रामायण में इस कथा के दो भिन्न रूप हैं; परन्तु दोनों परस्पर कुछ मिल-जुल भी गये हैं। प्रथम रूप में कथा इस प्रकार है—'शिव और पार्वती की रतिलीला जब दीर्घकाल तक चलती रही, तब देवगण घबड़ा गये। वे ब्रह्मा को अग्रणी बना कर शिव के द्वार पर पहुँचे, और उनसे प्रार्थना करने लगे कि वह पार्वती से अपनी कोई सन्तान उत्पन्न न करें क्योंकि ऐसी सन्तान के तेज को त्रिलोकी में कोई सहन न कर सकेगा। शिव ने प्रार्थना स्वीकार की, परन्तु उनका जो बीज विक्षुब्ध हो चुका था, उसके लिये कोई उपयुक्त पात्र मांगा। देवताओं ने पृथ्वी को इस कार्य के हेतु राजी किया, और शिव के बीज ने समस्त पृथिवी को व्याप्त कर लिया, तब अग्निदेव उस बीज में प्रवेश कर गये। इसके बाद

३९. तन्मनोगतिमाज्ञाय सर्वास्ताः कृत्तिकास्तदा।
तमादाय ययुर्लोकं स्वकीयं मुदिता मुने॥ शिव० २, ४, ३, ३२।

४०. वही, २, ४, ३, १९; २, ४, ५, १३; २, ४, ४, ६७; २, ४, ३, ६८।

४१. मार्गमासे सिते पक्षे तिथौ षष्ठ्यां मुनीश्वर।
प्रादुर्भावोऽभवत्तस्य शिवपुत्रस्य भूतले॥ वही, २, ४, २, ६८।

४२. वही, १, १६, ५२-५३।

४३. शिव० २, ४, २०, २६।

उस बीज ने एक श्वेत पर्वत का रूप धारण कर लिया, जिस पर शर-वण था और इसी वन में स्कन्द का जन्म हुआ। परन्तु देवताओं के इस असामयिक विघ्न डालने से पार्वती को बहुत क्रोध आ गया, और इन्होंने देवों को निःसन्तान रहने के लिये शाप दिया[४४]।' इस कथा का दूसरा रूप अगले खण्ड में दिया गया है, जो एक प्रकार से कथा के पहले रूप को ही आगे बढ़ाता है। क्योंकि जब पार्वती के शाप से देवताओं की अपनी कोई सन्तान न हो सकी, तब उन्होंने गंगा को अग्नि से पुत्र उत्पन्न करने के लिये कहा, जो उनके शत्रु दानवों का संहार कर सके। गंगा जी एतदर्थ तैयार हो गईं परन्तु अग्नि के बीज को सहन न कर सकीं। उसने उसे हिमालय पर्वत पर डाल दिया, जहां वह भ्रूण रूप में बढ़ता रहा, और उचित समय पर 'स्कन्द' का जन्म हुआ। इस नवजात शिशु को कृत्तिकाओं ने पाया तथा पाला-पोसा, और इसी कारण उसका नाम 'कार्तिकेय' भी पड़ा[४५]।

महाभारत में स्कन्द जन्म की कथा का विस्तृत उल्लेख किया गया है। इस कथा का सब से प्राचीन रूप वन पर्व में मिलता है[४६]। देवताओं की सेना को कोई योग्य सेनापति नहीं मिलता था। अतः दानवों के विरुद्ध संग्राम में उनकी बार बार पराजय होती थी। इस पर इन्द्र ने सोचा कि यदि अग्नि की ऐसी सन्तान हो, जिस में सब देवताओं की शक्तियां पुंजीभूत हों, तो वही देवसेनाओं का सेनापतित्व करने के लिये सर्वाधिक योग्य होगा। तदन्तर देवतागण सप्तर्षियों द्वारा अनुष्ठित यज्ञ में गये और स्वभावतः अग्नि देवता भी उनके साथ गये। यज्ञ में अग्नि ऋषिपत्नियों के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये, और अपने इस अनुराग से आतुर हो, वनों में घूमने लगे। इसी बीच दक्षपुत्री 'स्वाहा' ने अग्नि को यज्ञ के समय देखा था और तभी से वह उनपर अनुरक्त हो गई थी। जब अग्नि वनों की ओर चले गये, तब स्वाहा उनके पीछे पीछे गई और वहां उनसे यह छल किया कि बारी-बारी से ऋषिपत्नियों में से छः का रूप धारण करके वह अग्नि के पास गई। अग्निदेवता आसानी से इस धोखे में आ गये। इस प्रकार छः बार अग्नि से समागम करके 'स्वाहा' ने उनके वीर्य को एक श्वेत पर्वत पर कुछ शरों के बीच डाल दिया। वहां पूरा समय बीतने पर एक शिशु ने जन्म लिया। इस शिशु के सभी संस्कारों को इन्द्र ने विधिवत् सम्पन्न किया था।

---

४४. रामा० बालका० ३६, ५-२७।

४५. रामा० बालका० ३७, २३-२५।

४६. महाभा० वन० १८३।

किन्तु यह कथा कुछ परिवर्तित रूप में भी महाभारत में ही मिलती है। उसके वन पर्व में एक अन्य स्थल पर स्कन्द जन्म की कथा पुनः कही गई है[४७], और इसमें बतलाया गया है कि शिव और पार्वती ने क्रम से अग्नि तथा स्वाहा का रूप धारण किया था, अतः स्कन्द वस्तुतः इन्हीं दोनों की सन्तान थे। कथा की इससे अगली अवस्था तब आई, जब इसको शिव और पार्वती के विवाह का उत्तर भाग बना दिया गया। अपने इस रूप में भी यह कथा महाभारत में प्राप्त होती है[४८]। देवताओं ने जब शिव और पार्वती की रति-केलि का वृत्तान्त सुना, तब वे भय से कांप उठे। उन लोगों ने शिव के समीप जाकर विनय की कि वे पार्वती से कोई सन्तति न उत्पन्न करें, क्योंकि ऐसे तेजस्वी माता पिता की सन्तान का तेज कोई सह्य नहीं कर सकेगा, और अपने तेज से वह समस्त विश्व को ध्वस्त कर देगा। शिव ने उनलोगों की विनय मान ली, किन्तु पार्वती असामयिक विघ्न उत्पन्न करने वाले देवताओं पर अति कुपित हो गईं और उन्होंने उनको शाप दिया कि उनकी कभी कोई सन्तान न होगी। शिव ने अपना वीर्य ऊपर खींच लिया और तभी से वह 'उर्ध्वरेता' कहलाते हैं। परन्तु उनके वीर्य का जो अंश क्षुब्ध हो गया था, वह पृथिवी पर गिर पड़ा और सद्यः उसने प्रचण्ड ज्वाला का रूप धारण कर लिया। इसी कथा में आगे कहा गया है कि इस वीर्य को अग्नि ने, जो पार्वती के शाप के समय देवताओं के साथ उपस्थित नहीं थे, धारण कर लिया। जब देवता अपनी सेनाओं के लिये एक सेनापति का अन्वेषण करने लगे, तब ब्रह्मा ने उन्हें यह परामर्श दिया कि वे अग्नि से कहें कि वह शिव के इस वीर्य को गंगा के गर्भ में डाल दे और इस प्रकार इन दोनों की जो सन्तान होगी, वह दानवों पर विजय पावेगी। अग्नि और गंगा दोनों इस बात के लिये सहमत हो गये। परन्तु गंगा के गर्भ में इस वीर्य ने जब भ्रूण का रूप धारण किया तब वह इसे सहन न कर सकी। गंगा ने उसे मेरु पर्वत पर शरों के मध्य रख दिया। वहां पूरे समय पर एक शिशु का जन्म हुआ और जिसे कृत्तिकाओं ने पाया तथा पाला-पोसा।

महाभारत के उत्तरी संस्करण में इस कथा के अन्तिम भाग का एक विचित्र और स्पष्ट ही अपरकालीन रूप अनुशासन पर्व में दिया गया है[४९]। इसमें कथा इस प्रकार है कि जब गंगा ने भ्रूण को फेंक दिया, तब छः कृत्ति-

४७. महाभा० वन० १८८।

४८. वही, शल्य० ३६, अनु० ७४, ४२ और आगे।

४९ महाभा० (पी० सी० राय का संस्करण) अनु० ७५, १ और आगे।

काओं ने उसे उठा लिया और उसके छः भाग करके, एक एक भाग को, अपने अपने गर्भ में रख लिया। इस प्रकार विभक्त हुआ वह भ्रूण बढ़ता गया और पूरे समय पर प्रत्येक कृत्तिका ने एक शिशु के विभिन्न अंगों को उत्पन्न किया। किन्तु उत्पन्न होते ही ये विभिन्न अंग जुड़ गये और इस प्रकार स्कन्द का जन्म हुआ।

महाभारत के अनन्तर पुराणों में इस कथा के भिन्न-भिन्न स्वरूप उपलब्ध होते हैं। इस कथा के पौराणिक स्वरूप को दो विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। पहली श्रेणी में कथा का प्रारम्भ देवताओं का अपनी सेनाओं के लिये एक सेनापति की खोज करने से होता है। महाभारत में स्कन्द जन्म की कथा का जो मूलरूप मिलता है, उसका प्रारम्भ भी इसी प्रकार होता है। इस रूप में यह कथा 'वाराहपुराण' में दी गई है[५०]। जब देवताओं को दानवों ने बार-बार पराजित किया, तब उन लोगों ने एक नया सेनापति ढूढने का प्रयत्न किया और ब्रह्मा के परामर्श से वे शिव के पास गये। यहाँ तक यह कथा तो महाभारत की कथा के अनुसार ही है; परन्तु इसके आगे वह एक नूतन दिशा में मोड़ लेती है। शिव ने देवों की प्रार्थना स्वीकार कर ली और सद्यः अपनी शक्ति को संक्षुब्ध करके उससे एक देदीप्यमान देवता प्रादुर्भूत किया, जो अपने विशेष अस्त्र (शक्ति) को धारण किये हुये था। इस कथा में अग्नि की कहीं भी चर्चा नहीं की गई है।

दूसरी श्रेणी की कथाओं का प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि शिव और पार्वती जब दीर्घकाल तक सहवास में लीन रहे, तब देवतागण घबरा उठे। महाभारत में इस कथा का जो रूप है, उसके निकटतम 'सौरपुराण' की कथा है[५१]। इसमें कहा गया है कि विवाहोपरान्त शिव-पार्वती के इस दीर्घकालीन सहवास से समस्त विश्व में अव्यवस्था फैल गई। इससे देवतागण सन्त्रस्त हो गये। उनका यह सन्त्रास उस समय और अधिक बढ़ गया जबकि मुनि नारद ने उन लोगों से कहा कि ऐसे बलशाली माता-पिता की सन्तान समस्त देवमण्डल से अधिक शक्तिशाली होगी। विष्णु ने भी देवों को इसी प्रकार की चेतावनी दी। इस पर सभी देवताओं ने अग्नि को शिव-पार्वती के सहवास को भंग करने के लिये प्रेषित किया। किन्तु अग्निदेव जब पार्वती के सिंह के भय से वहाँ से भाग आये तब समवेत रूप से सभी देवता शिव के समीप गये और प्रार्थना की कि वे पार्वती से कोई सन्तति न उत्पन्न करें। शिव मान गये

---

५०. वाराह० २५, ५२ और आगे।

५१. सौर० ६०-६२।

और अपने वीर्य के लिये उपयुक्त पात्र मांगा। देवताओं ने अग्नि का ही दिया। किन्तु जब अग्नि उनके वीर्य को धारण न कर सके तो उसे गंगा में फेंक दिया। उसे सहन न कर सकने पर गंगा ने भी उसे कृत्तिकाओं को दे दिया, जिन्होंने उसे शरवण में रख दिया और वहीं स्कन्द का जन्म हुआ। इस पर पार्वती देवताओं को सर्वदा निःसन्तान रहने के लिये श्राप देती हैं। यहीं कथा का अन्त होता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी कथा प्रायः इसी रूप में वर्णित है, किन्तु इसके दो स्थलों पर कथा के दो भाग कर दिये गये हैं[५२]। अन्य पुराणों में कथा कुछ अधिक बदल जाती है। उदाहरणार्थ 'वायुपुराण' में कहा गया है कि[५३] शिव-पार्वती के दीर्घकाल तक सहवास में रत रहने पर इन्द्र के मन में भय उत्पन्न हुआ अतः उन्होंने अग्नि को इस कार्य में विघ्न करने के लिये भेजा। अग्नि गये और शिव का वीर्य धरती पर गिर पड़ा। इस पर पार्वती क्रुद्ध हो गईं और अग्नि को शिव के वीर्य को धारण करने के लिये बाध्य किया। इसके बाद अग्नि ने उसे गंगा को दिया और गंगा ने उसे शरवण में डाल दिया। वहीं स्कन्द का जन्म हुआ और कृत्तिकाओं ने उसे पाला। 'ब्रह्माण्डपुराण' में भी यह कथा प्रायः इन्हीं शब्दों में कही गई है[५४]। परन्तु 'मत्स्यपुराण' में इस कथा का कुछ भिन्न रूप है[५५]। देवताओं ने भयभीत हो अग्नि को शिव-पार्वती के शयनागार में भेजा। वहाँ वह शुक का रूप धारण करके गये। परन्तु शिव ने उन्हें पहचान लिया, और क्रोध में अपना वीर्य शुक में डाल दिया। इस पर अग्नि का शुक शरीर फट गया और शिव का तेज प्रखर उज्ज्वल हेम की धारा के समान बह निकला, और कैलास पर्वत पर उससे एक सरोवर बन गया। इस सरोवर पर स्नानार्थ कृत्तिकायें आईं और जैसे ही उन्होंने पीने के लिए कुछ बूंदे एक कमल दल पर उठाईं कि पार्वती ने उनको देख लिया और अपने पास बुलाया। उन्होंने पार्वती को एक पुत्र देने का इस शर्त पर वचन दिया कि वह उसका नाम उनके नाम पर रक्खेंगी। पार्वती ने यह स्वीकार कर लिया और उन जल-बिंदुओं को वे पी गईं। कुछ देर बाद उनकी कुक्षि से एक बालक उत्पन्न हुआ, जो षण्मुख था और शक्ति धारण किये हुए था।

---

५२. ब्रह्मवैवर्त० भाग ३, अध्याय १-२, भाग० ३, अध्याय १४।

५३, वायु०, ७२, २० और आगे।

५४. ब्रह्माण्ड० भाग २, अध्याय ४०।

५५, मत्स्यपु०, १५८, २६ और आगे भी।

यह कथा अपने विकास की अन्तिम अवस्था में 'ब्रह्मपुराण' में प्राप्त होती है[५६]। इसमें उपर्युक्त दोनों श्रेणियों का सम्मिश्रण हो गया है। शिव-पार्वती के दीर्घकालीन सहवास से देवताओं के सन्त्रास का विवरण उनके एक नये सेनापति की खोज करने के साथ मिला दिया गया है, परन्तु ऐसा करने में कथा में पर्याप्त परिवर्तन करना पड़ा है। यहाँ कहा गया है कि यह जान कर कि शिव की सन्तान ही देवताओं के लिये उपयुक्त सेनापति हो सकती है, उन्होंने शिव-पार्वती का विवाह करवाया। विवाह के अनन्तर अति दीर्घकाल तक शिव और पार्वती सहवास करते रहे, परन्तु कोई सन्तान उत्पन्न नहीं की और इस बीच में तारक नाम के दानव का आतंक बराबर बढ़ता ही गया यही कारण था जिससे देवगण सन्त्रस्त हो उठे, और उन्होंने अग्नि को शिव के पास उन्हें देवताओं की इच्छा से अवगत कराने के लिये भेजा। अग्नि शुक का रूप धारण कर शिव और पार्वती के शयनागार में पहुँचे। परन्तु शिव ने उन्हें तुरन्त पहचान लिया और अपना बीज उनमें डाल दिया। अग्नि उसको सहन न कर सके और गंगातट पर उसे कृत्तिकाओं को दे दिया। वहीं स्कन्द का जन्म हुआ। पौराणिक समय में यही इस कथा का प्रामाणिक रूप माना जाता था। कालिदास ने भी कथा के इसी रूप को अपने 'कुमारसम्भव' काव्य का आधार बनाया है।

शिवमहापुराण की कथा अन्य कथाओं की अपेक्षा 'ब्रह्मपुराण' की कथा से अधिक साम्य रखती है। किन्तु इतना तो प्रकट तथ्य है कि 'शिव-महापुराण' की कथा अपेक्षाकृत अर्वाचीन एवं शैव-प्रभाव के अन्तर्गत गढ़ी गई है। सम्पूर्ण विष्णु आदि देवों का तारकासुर से पीडित होकर शिव के द्वार पर आर्तविलाप मिश्रित स्तवन करना, अग्नि के शिववीर्य धारण करने पर हव्यभुग् देवताओं का, जिनमें ब्रह्मा, विष्णु आदि भी थे, गर्भवान् होना[५७], पुनः भूमिपतित शिववीर्य के विषय में पार्वती की जिज्ञासा[५८] पर सम्पूर्ण देवों को साक्षी देना[५९] आदि बातें इस बात का प्रमाण हैं कि यह कथा सर्वाधिक अर्वाचीन एवं पूर्णतया साम्प्रदायिक भावना के प्रभाव के अन्तर्गत लिखी गई

५६. ब्रह्मपु०, अध्याय १२८।

५७. पावकार्दितमन्नादि भुञ्जते निर्जराः खलु।
वेदवाण्येति सर्वे ते सगर्भा अभवन् सुराः॥ शिव० २, ४, २, २५।

५८. भूमौ निपतितं वीर्यं नोदरे मम ते विभो।
कुत्र यातं च तद्देव केन देवेन निह्नुतम्॥ वही, २, ४, ४, ६।
......मोघं जातं किं किंवा शिशुर्जातश्च कुत्रचित्॥ वही, २, ४, ४, ७।

५९. ऊचुः सर्वे क्रमेणैव त्रस्तास्तु पुरतः प्रभोः॥ वही०, २, ४, ४, ११।

है। शिवमहापुराण की कथा में पूर्णतया तीन नवीन बातें उपलब्ध होती हैं:— (१) देवों का गर्भधारण करना और, (२) भगवान् शिव से देवताओं का पार्वती से कोई भी पुत्र उत्पन्न करने की प्रार्थना का अभाव तथा (३) देवों की साक्षी।

कुछ विद्वानों का यह मत सर्वथा भ्रामक है कि 'स्कन्द' प्रथमतः अग्नि के पुत्र थे और बाद में इन्हें रुद्र का पुत्र माना जाने लगा। ऐसा इस लिये हुआ कि अग्नि का एक नाम 'रुद्र' भी था। यह है शिव को स्कन्द के पिता माने जाने का रहस्य। जब 'रुद्रपुत्र' के वास्तविक अर्थ को लोग भूल गये, तब शिव को ही स्कन्द का असली पिता माना जाने लगा। शिव के इस स्कन्दपितृत्व का समाधान करने के लिये ही स्कन्द के जन्म की कथा में कुछ परिवर्तन किया गया[६०]। किन्तु वस्तुतः तथ्य यह है कि इस कथा का मूल-सूत्र वाल्मीकि रामायण में सर्वप्रथम उपलब्ध होता है और वहीं शिव के वीर्य से अग्नि का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। यह सम्बन्ध रामायण, महाभारत एवं पुराणों में सर्वत्र जिस किसी रूप से उपलब्ध होता है। इस प्रकार एक बार शिव-वीर्य से अग्नि का सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर भी यदि कहीं अग्नि से स्कन्द को उत्पन्न करने का वर्णन मिलता भी है तो उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि स्कन्द प्रथमतः अग्नि के पुत्र थे और बाद में उनका सम्बन्ध रुद्र से अग्नि के नामसाम्य के कारण जोड़ा गया। इसके अतिरिक्त एतदर्थ सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि शिव का वीर्य जिससे सम्बद्ध हुआ उसके उसके नाम के आधार पर स्कन्द का बाद में नामकरण हुआ है, यथा--गांगेय, कार्तिकेय, अग्निपुत्र आदि। इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तुतः स्कन्द उन उन व्यक्तियों के पुत्र थे और बाद में उनका सम्बन्ध किसी कारण से शिव से जोड़ दिया गया।

वस्तुतः विद्वानों के उक्त मतिभ्रम का कारण स्कन्द को 'अग्निसूनुः' अथवा 'अग्निपुत्र' कहा जाना ही है। यदि 'अग्निसूनुः' अथवा 'अग्निपुत्र' पद के साथ ही साथ वे 'कार्तिकेय', 'गांगेय' आदि पदों पर भी विचार करते तो उनको भ्रम न होता और इसके आधार पर वे दूर की कौड़ी लाने का प्रयास न करते।

स्कन्द का सर्वप्रथम उल्लेख 'बौधायन धर्मसूत्र' में हुआ है[६१]। वहाँ

६०. देखिये--डा० यदुवंशी के द्वारा लिखित 'शैवमत' (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना प्रकाशन,) पृ० ६२ और ७६, ७७।

६१. ओं स्कन्दं तर्पयामि। ओं षण्मुखं ......। ओं जयन्तं ......। ओं विशाखं ......। ओं महासेनं ......। ओं सुब्रह्मण्यं ......। ओं स्कन्दपार्षदान् तर्पयामि। ओं कन्द-पार्षदीश्वं तर्पयामि॥ बौ० धर्मसूत्र, २, ५, ७।

अन्य देवों को भांति इनके भी तर्पणों का विधान किया गया है। इससे पता चलता है कि उस समय तक इनको विधिवत मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त इसी सूत्र में ही इनके अन्य नामों का भी उल्लेख किया गया है जैसे :—'षण्मुख', 'जयन्त', 'विशाख', 'सुब्रह्मण्य' और 'महासेन'। इन नामों से इतना तो निश्चित ही हो जाता है कि यह वही देवता हैं जो आगे चलकर 'कार्तिकेय' नाम से प्रसिद्ध हुये। 'षण्मुख' और 'महासेन' शब्द से इनके साथ पुराणों में उल्लिखित कथाओं का भी आभास प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त 'बौधायनगह्यसूत्र' मे एक ही स्थल और प्रसंग में दो बार 'रुद्र' के पुत्र का उल्लेख हुआ है[६२]। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि उस समय तक 'स्कन्द' और 'विनायक' रुद्र-पुत्र के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे और बाद में इसी प्रसिद्धि के आधार पर रामायण की स्कन्द-जन्म-कथा लिखी गई। यहीं से यह कथा महाभारत एवं अन्य पुराणों में ली गई है। इससे उन लोगों के तर्कों का स्वयमेव खण्डन हो जाता है, जिनका मत है कि स्कन्द प्रथमतः तो अग्निपुत्र थे और बाद में वे रुद्र-पुत्र के रूप में प्रसिद्ध हुये।

गणपति

शिवमहापुराण में उपलब्ध गणेश कथा के अतिरिक्त एक और कथा की ओर संकेत किया गया है, जिसे कल्पान्तर की कथा कहा गया है और जिसमें कहा गया है कि जन्मकाल के अनन्तर शनि की दृष्टि पड़ने से गणेश का शिर कट गया था और बाद में उस पर हस्ती का मुख लगा दिया गया[६३]। शिवमहापुराण में गणेश की जो कथा सांगोपांग वर्णित है उसका सम्बन्ध 'श्वेत-कल्प' से स्थापित किया गया है[६४]। कथा का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है :—

एक समय पार्वती जी की जया-विजया नामवाली सखियां उनके पास आकर विचार करने लगीं--सभी गण रुद्र के ही हैं। वे सब रुद्र के ही आज्ञा-पालन में सर्वदा रत रहते हैं। उनसे हमारा मन नहीं मिलता, अतः आप

६२. अथ पराद्धे जुहोति, भवस्य देवस्य सुताय स्वाहा...... रुद्रस्य...... उग्रस्य...... भीमस्य...... महतो...... इति। अथापराद्धे जुहोति। भवस्य देवस्य सुताय स्वाहा......(इत्यादि)। बौधा० गृह्यसूत्र, १, २, ७, १-३०।

६३. कल्पभेदादगणेशस्य जनिः प्रोक्ता विधेः परात्।
शनि दृष्ट्वा शिरः छिन्नं संचितं गाजमाननम्॥ शिव० २, ४, १३, ५।

६४. इदानीं श्वेतकल्पोक्ता गणेशोत्पत्तिरुच्यते। वही, २, ४, १३, ६।

को भी हमारे लिये एक गण की रचना करनी चाहिये[६५]। यद्यपि पार्वती को अपनी सखियों की उक्त बात हितकारक प्रतीत हुई किन्तु उन्होंने एतदर्थ सद्यः कोई कार्य नहीं किया। तदनन्तर किसी समय जब पार्वती जी स्नान कर रही थीं, तब सदाशिव नन्दी को डरा-धमका कर घर के भीतर चले आये। शंकर जी को आते देख कर स्नान करती हुई जगज्जननी पार्वती उठकर खड़ी हो गईं। उस समय उनको बड़ी लज्जा प्रतीत हुई। वे आश्चर्यचकित हो गईं। उस समय सखियों की उक्त बात उन्हें स्मरण हो आई। फलतः परमेश्वरी पार्वती ने मन में ऐसा विचार किया कि मेरा कोई ऐसा सेवक होना चाहिये, जो परम शुभ, कार्यकुशल और मेरी ही आज्ञा में तत्पर रहने वाला हो, उससे तनिक भी विचलित होने वाला न हो। इस प्रकार विचार कर पार्वती देवी ने अपने शरीर की मैल से एक ऐसे चेतन पुरुष का निर्माण किया, जो सम्पूर्ण शुभ लक्षणों से संयुक्त था। उसके सभी अंग सुन्दर एवं दोषरहित थे। उसका वह शरीर विशाल, परमशोभायमान और महान् बल पराक्रम से सम्पन्न था[६६]। देवी ने उसे अनेक प्रकार के वस्त्र, नाना प्रकार के आभूषण और बहुत सा उत्तम आशीर्वाद देकर कहा – 'तुम मेरे पुत्र हो। मेरे अपने ही हो। तुम्हारे समान प्यारा मेरा यहां कोई दूसरा नहीं है[६७]।' ऐसा कहकर पार्वती ने गणेश के हाथ में एक सुदृढ़ छड़ी दे दी और दण्डधारी उन गणराज को अपने द्वार पर स्थापित कर कहा 'देखना बेटे ! अन्दर कोई न आने पावे।' ऐसा कह कर वे स्नानार्थ अन्दर चली गईं।

संयोग से उसी समय भगवान् शंकर अन्दर प्रविष्ट होने लगे। बालक ने उन्हें वैसा करने से रोका। फलतः शिवपक्षावलम्बी देवों एवं शंकर के गणों के साथ उस बालक का भीषण संग्राम हुआ। इस संग्राम में देवता लोग पराजित हुये। अन्ततोगत्वा स्वयं शूलपाणि महेश्वर ने आकर त्रिशूल से गणेश जी का

---

६५. प्रमथास्ते ह्यसंख्याता अस्मदीयो न कश्चन।
द्वारि तिष्ठन्ति ते सर्वे शंकराज्ञापरायणाः॥ शिव० २, ४, १३, १२।
ते सर्वेऽप्यस्मदीयाश्च तथापि न मिलेन्मनः।
एकश्चैवास्मदीयो हि रचनीयस्त्वयाऽनघे॥ वही, २, ४, १३, १३।

६६. विचार्येति च सा देवी वपुषो मलसम्भवम्।
पुरुषं निर्ममौ सा तु सर्वलक्षणसंयुतम्॥ वही, २, ४, १३, २०।
सर्वावयवनिर्दोषं सर्वावयवसुन्दरम्।
विशालं सर्वशोभाढ्यं महाबलपराक्रमम्॥ वही, २, ४, १३, २१।

६७. मत्पुत्रस्त्वं मदीयोऽसि नान्यथा कश्चिदस्ति मे॥ वही, २, ४, १३, २५।

शिर काट दिया[६८]। जब यह समाचार पार्वती जी को मिला, तब वे क्रुद्ध हो गई और बहुत सी शक्तियों को उत्पन्न करके उन्होने बिना विचारे उन्हें प्रलय करने की आज्ञा दे दी। किन्तु बाद में देवों एवं मुनियों की स्तुति से प्रसन्न होकर देवी ने उनसे कहा—यदि मेरा पुत्र जीवित हो जाय और वह तुम लोगों के मध्य पूजनीय मान लिया जाय तो संहार नहीं होगा। जब तुम लोग उसे सर्वाध्यक्ष' का पद प्रदान कर दोगे तभी लोक में शान्ति हो सकती है, अन्यथा तुम्हें सुख नहीं प्राप्त हो सकता[६९]।

पार्वती की बात को सुनकर भगवान् शंकर ने कहा—'ठीक है जिस प्रकार सारी त्रिलोकी को सुख मिल सके वही करना चाहिये। अतः अब उत्तर दिशा की ओर जाना चाहिये और जो जीव पहले मिले उसका शिर काट कर उस बालक के शरीर पर जोड़ देना चाहिये।' भगवान् शिव की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए देवगण उत्तर दिशा की ओर गये। वहां उन्हें पहले पहल एक दांत वाला एक हाथी मिला। उन्होंने उसका शिर लाकर उस बालक के शरीर पर जोड़ दिया और वेद मन्त्र द्वारा जल को अभिमन्त्रित कर, शिव जी का स्मरण करके उस उत्तम जल को बालक के शरीर पर छिड़क दिया। उस जल का स्पर्श होते ही वह बालक शिवेच्छा से शीघ्र ही चेतना युक्त होकर जीवित हो गया[७०]।

जीवित गजानन को देखकर पार्वती ने कहा—अब से देवताओं में तुम्हारी अग्रपूजा होती रहेगी और तुम्हें कभी भी दुःख का सामना नहीं करना पड़ेगा। यतः इस समय तुम्हारे मुख पर सिन्दूर दीख रहा है, अतः मनुष्यों को सदा सिन्दूर से तुम्हारी पूजा करनी चाहिये। जो मनुष्य पुष्प, चन्दन, सुन्दर-गन्ध, नैवेद्य, रमणीय आरती, ताम्बूल और दान से तथा परिक्रमा और नमस्कार करके विधिपूर्वक तुम्हारी पूजा करेंगे उन्हें सम्पूर्ण सिद्धियां हस्तगत

---

६८. एतदन्तरमासाद्य शूलपाणिस्तथोत्तरे।
आगत्य च त्रिशूलेन तच्छिरो निरकृन्तत ॥ शिव० २, ४, १६, ३४।

६९. मत्पुत्रो यदि जीवेत तदा संहरणं नहि।
यथा हि भवतां मध्ये पूज्योऽयं च भविष्यति ॥
सर्वाध्यक्षो भवेदद्य यूयं कुरुत तद्यदि।
तदा शान्तिर्भवल्लोके नान्यथा सुखमाप्स्यथ ॥ वही, २, ४, १७, ४२।

७०. तज्जलस्पर्शमात्रेण चिद्युक्तो जीवितो द्रुतम्।
तदोत्तस्थौ सुप्त इव स बालश्च शिवेच्छया ॥ वही, २, ४, १७, ५६।

हो जायंगी और उनके सभी प्रकार के विघ्न नष्ट हो जायेंगे[७१]।

भगवान् शंकर ने भी गणेश को अपने दूसरे पुत्र के रूप में स्वीकार कर ब्रह्मा एवं विष्णु के साथ इस प्रकार अनेक वरदान दिया था—'त्रिलोकी में जिस प्रकार हम तीनों देवों की पूजा होती है उसी प्रकार सबको इस गणेश का भी पूजन करना चाहिये। मनुष्यों को चाहिए कि पहले इनकी पूजा करके तत्पश्चात् हम लोगों का पूजन करें। ऐसा करने से हमलोगों की पूजा सम्पन्न हो जायगी। यदि कहीं इनकी पूजा पहले न करके अन्य देव का पूजन किया गया तो उस पूजन का फल नष्ट हो जायगा[७२]।' इसके बाद सभी देवों ने गणेश को 'सर्वाध्यक्ष' घोषित किया। भगवान् शंकर ने विघ्ननाश के कार्य में गणेश के नाम को सर्वश्रेष्ठ होने का वरदान देकर उन्हें अपने सम्पूर्ण गणों का अध्यक्ष बना दिया।

कालान्तर में समय आने पर शंकर एवं पार्वती ने विश्वरूप प्रजापति की अतीव सुन्दरी सिद्धि एवं बुद्धि नामवाली दो कन्याओं के साथ गणेश जी का विवाह कर दिया। कुछ काल के अनन्तर 'सिद्धि' से 'क्षेम' एवं 'बुद्धि' से 'लाभ' नाम वाले गणेश के दो पुत्र उत्पन्न हुए[७३]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिवमहापुराण में वर्णित गणेश कथा में ऐसा कोई अंश नहीं उपलब्ध होता जिसके आधार पर यह कहा जाय कि

---

७१. धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पूर्वपूज्यो भवाधुना।
सर्वेषाममराणां वै सर्वदा दुःखवर्जितः॥
आनने तव सिन्दूरं दृश्यते साम्प्रतं यदि।
तस्मात्त्वं पूजनीयोऽसि सिन्दूरेण सदा नरैः॥
पुष्पैर्वा चन्दनैर्वाऽपि गन्धेनैव शुभेन च।
नैवेद्येन सुरम्येण नीराजेन विधानतः॥
ताम्बूलैरथ दानैश्च तथा प्रक्रमणैरपि।
नमस्कारविधानेन पूजां यस्ते विधास्यति॥
तस्य वै सकला सिद्धिर्भविष्यति न संशयः।
विघ्नान्यनेकरूपाणि क्षयं यास्यन्त्यसंशयम्॥ शिव० २, ४, १८–८, १२।

७२. एतत्पूजां पुरा कृत्वा पश्चात् पूज्या वयं नरैः।
वयं च पूजिताः सर्वे नायं च पूजितो यदा॥
अस्मिन्नपूजिते देवा पूर्वपूजा कृता यदि।
तदा तत्फलहानिः स्यान्नात्र कार्या विचारणा॥ वही, २, ४, १८, २४।

७३. पुत्रद्वयं ललाभासौ द्वयोः पत्न्योः शुभाङ्गयाः।
सिद्धेः क्षेमं तथा बुद्धेर्लाभं सर्वसुखप्रदम्॥ वही, २, ४, १९, १४।

गणेश विघ्नकारी देव हैं और जबतक प्राणी उनकी पूजा नहीं करता तब तक वे उसके कार्य में बाधा डाला करते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ तो यही कहा गया है कि गणेश की पूजा से सम्पूर्ण विघ्न दूर होते हैं और प्राणियों के मनोरथों की सिद्धि होती है[७४]। इसमें गणेश का वर्णन एक मंगलकारी देव के रूप में किया गया है, जिससे कल्याणकी कामना की जाती है। गणेश का आख्यान सर्वदा मंगलप्रद कहा गया है[७५]। लोग उनकी उपासना से सुख एव समृद्धि की कामना करते हैं। इस तरह शिवमहापुराण के गणेश लोककल्याणकर्ता एवं विघ्ननाशक के रूप में वर्णित किये गये हैं। यद्यपि इस पुराण में भी यत्र-तत्र (पर बहुत ही कम) गणेश के लिये 'विघ्नेश'[७६] शब्द भी व्यवहृत हुआ है, किन्तु पूर्वापर के प्रसंग को देखते हुये यहाँ इसका 'विघ्नशासक', 'विघ्नदमन' ही अर्थ किया जा सकता है।

इतना होने पर भी शिवमहापुराण में गणेश के विघ्नकारी स्वरूप को खोज निकालना असंभव नहीं है। कोटि रुद्रसंहिता के पच्चीसवें अध्याय में महर्षि गौतम के द्रोही मुनिगण गौतम के कार्यों में विघ्न के लिये तथा उनको आश्रम से बाहर निकालने के लिये गणेश की पूजा अर्चना करते हुये दिखलाये गये हैं[७७]। और अन्त में मुनियों को अपने उद्देश्य में सफलता भी प्राप्त होती है। गणेश जी मुनियों को वैसा करने का वरदान देते हुये भी देखे जाते हैं[७८]।

किन्तु अन्य पुराणों में गणेश की यही स्थिति नहीं है। 'वाराहपुराण' में गणेश का उल्लेख एक उपद्रवी जीव के रूप में किया गया है; जिसकी सृष्टि केवल इस उद्देश्य से हुई थी कि वह सदाचारी प्राणियों के कार्यों में विघ्न डाले। शिव ने गणेश को विनायकों का नेता बना दिया था और ये विनायक 'क्रूरदृशः', और 'प्रचण्डाः' कहे गये हैं[७९]।

---

७४. गणेशो विघ्नहर्ता हि सर्वकामफलप्रदः ॥ शिव० २, ४, १८, २२।

७५. इदं सुमङ्गलाख्यानं यः शृणोति सुसंयतः।
सर्वमङ्गलसंयुक्तः स भवेन्मङ्गलालयः ॥ वही, २, ४, १८, ७५।

७६. भवत्पृष्टेन विघ्नेशयशःसंमिश्रमादरात् ॥ वही, २, ४, १८, ७४।

७७. विघ्नार्थं गौतमस्यैव नानापूजोपहारकैः।
गणेशं पूजयामासुः संक्रुद्धास्तं कुबुद्धयः ॥ वही, ४, २५, ९।

७८. भवद्भिः प्रार्थ्यते यच्च करिष्येऽहं तथा खलु। वही, ४, २५, २६।

७९. विनायका विघ्नकरो गजास्यो गणेशनामा च भवस्य पुत्रः।
एते च सर्वे तत्रयान्तु भृत्या विनायकाः क्रूरदृशः प्रचण्डाः ॥ वाराह० २३, २८।
अग्रे च पूजां लभतेऽन्यथा च विनाशयिष्यथ कार्यसिद्धिम् ॥ वही, २३, ८०।

'अग्निपुराण' में कहा गया है कि गणेश को ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव ने मानवों को अपनी उद्देश्य-पूर्ति से वंचित रखने के लिये और साधारण रूप से उनके कार्यों में विघ्न डालने के लिये उत्पन्न किया था। वहाँ विनायकग्रस्त होने के दुष्परिणाम भी बतलाये गये हैं[८०]।

'ब्रह्मपुराण' के एक प्रसंग में भी गणेश का यही स्वरूप दिया गया है। यहाँ उनको एक दुष्ट जीव माना गया है, जो देवताओं के यज्ञ में विघ्न डालता है[८१]।

इसी प्रकार विविध पुराणों में गणेश के जन्म से सम्बद्ध विविध उपाख्यान उपलब्ध होते हैं। 'मत्स्यपुराण' की कथा के अनुसार एक बार पार्वती ने जिस चूर्ण से अपने शरीर को मला था, उसका (शरीर के मैल वाले चूर्ण का) एक खिलौना बनाया, जिसका शिर हाथी के शिर के समान था। इस खिलौने को जब उन्होंने गंगा के जल में डुबोया, तब वह प्राणवान् हो गया और पार्वती तथा गंगा दोनों ने उसे अपना पुत्र माना। बाद में ब्रह्मा ने उसको विनायकों का नेता बना दिया[८२]।

'वाराहपुराण' में कथा इस प्रकार है कि जब पृथिवी पर सब मानव पूर्ण सदाचारी हो गये और नरक खाली हो गया तथा यमराज को कोई काम करने को न रह गया, तब देवताओं के अनुरोध पर भगवान् शिव ने गणेश को इसलिये उत्पन्न किया कि वह इन मनुष्यों के कार्यों में विघ्न डाले। शिव ने पहले उसे अपना ही स्वरूप दिया था, परन्तु जब पार्वती उसे अतिशय स्नेह-भरी दृष्टि से देखने लगीं, तब शिव को ईर्ष्या हुई और उन्होंने इस नवजात

८०. विनायकोपसृष्टानां स्नानं सर्वकरं वदे।
विनायकः कर्मविघ्नसिद्धयर्थं विनियोजितः॥
गणानामाधिपत्ये च केशवेशपितामहैः। अग्नि० अ० २६६।

८१. ब्रह्म० ४०, १२६, ११४, ४ और आगे भी।

८२. कदाचिद्गन्धतैलेन गात्रमभ्यज्य शैलजा।
चूर्णैरुद्वर्तयामास मलिनांवरितान्तनुम्।
तदुद्वर्तनकं गृह्य नरं चक्रे गजाननम्॥
पुत्रकं क्रीडतो देवी तं चाक्षिपदम्भसि।
जाह्नव्यास्तु शिवसख्यास्ततः सोऽभूद्बृहद्वपुः॥
......पुत्रेत्युवाच तं देवी पुत्रेत्यूचे च जाह्नवी॥
गांगेय इति देवैस्तु पूजितोऽभूद्गजाननः।
विनायकाधिपत्यं च ददावस्य पितामहः॥ मत्स्य० १५३, ५०१-५०५।

देवता को शाप दे दिया कि वह हाथी के समान शिर वाला, लम्बोदर और अन्य अंग विकार वाला हो जाय[८३]।

इसके विपरीत 'लिंगपुराण' में कहा गया है कि जब देवताओं ने भगवान् शिव से प्रार्थना की कि वह कोई ऐसा जीव उत्पन्न करें जो सम्पूर्ण विघ्नों का नाश करने वाला हो, तब शिव ने स्वयं गणेश के रूप में जन्म लिया[८४]।

अन्य पुराणों में जो कथायें दी गई हैं, वे इन कथाओं की अपेक्षा कुछ भिन्न हैं और प्रतीत होता है कि उनका निर्माण इनकी अपेक्षा बाद में हुआ है। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में विष्णु शिव को वचन देते हैं कि पार्वती से उनका एक पुत्र होगा, जो सब विघ्नों का विनाशक होगा[८५]। तदनन्तर एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप धर और शिव के आवास पर पहुँच कर विष्णु ने शिव तथा पार्वती के सहवास को भंग किया। फिर स्वयं एक बालक का रूप धारण कर पार्वती की शैय्या पर लेट गये, जहाँ पार्वती ने उन्हें पाया और अपना पुत्र कहकर उनका सहर्ष स्वागत किया। आगे चलकर कथा में कहा गया है कि जब पार्वती के अनुरोध पर शनि ने गणेश की ओर देखा, तब गणेश का शिर धड़ से अलग होकर गिर पड़ा। इसके बाद विष्णु ने एक हाथी का शिर मंगाकर उसके स्थान पर जोड़ दिया। इस कथा में गणेश को विष्णु का अवतार माना गया है और स्पष्ट ही इस कथा की उत्पत्ति वैष्णव प्रभाव के अन्तर्गत हुई है।

गणेश जी भाद्रपद महीने में कृष्णपक्ष की चौथ को, चन्द्रोदय के समय, रात्रि के प्रथम प्रहर में गिरिजा के सुन्दर चित्त से आविर्भूत हुये थे। अतः इस चौथ के दिन ही, सम्पूर्ण सिद्धियों के लिये गणपति के व्रत का विधान किया गया है। इनकी पूजा सभी वर्गों को, विशेषरूप से, स्त्रीजनों को करनी चाहिये[८६]। अपनी उन्नति चाहने वाले राजाओं को भी गणेश का पूजन करना चाहिये।

गणेश जी के कुटुम्ब पर दृष्टिपात करने से यह प्रतीत होता है कि 'सिद्धि, बुद्धि, क्षेम, लाभ,' ये सभी नाम भावात्मक हैं। इन्हें गणेश जी के परिवार

---

८३. वाराह० अध्याय, २३ ॥

८४. लिंग० भाग १, १०४–१०५ ॥

८५. ब्रह्म० भाग ३, अध्याय ७–९।

८६. चतुर्थ्यां त्वं समुत्पन्नो भाद्रे मासि गणेश्वर।
असिते च तथा पक्षे चन्द्रस्योदयने शुभे ॥
प्रथमे च तथा यामे गिरिजायाः सुचेतसः।
आविर्बभूव ते रूपं यस्मात्ते व्रतमुत्तमम् ॥ शिव० २, ४, १८, ३६।

के नाम के रूप में। इसलिये लिखा गया है कि इनके पूजन, वन्दन से इन सब की प्राप्ति होती है। पतिव्रता स्त्री एवं आज्ञाकारी पुत्र की भांति ये सब गणेश जी का अनुगमन करते हैं। अपने क्षेम, लाभ, सिद्धि, बुद्धि को चाहने वाले प्राणी को चाहिये कि वह गणेश जी का पूजन एवं वन्दन प्रयत्नपूर्वक अवश्य ही करे।

विष्णु

ऋग्वेद के अनुसार विष्णु सौर देवता हैं अर्थात् सूर्य के ही अन्यतम रूप हैं। 'विष्णु' नाम की निरुक्ति इसी भाव का अभिव्यंजन करती है। आचार्य यास्क का कथन है कि रश्मियों के द्वारा व्याप्त होने के कारण अथवा रश्मियों के द्वारा समग्र संसार को व्याप्त करने के कारण सूर्य 'विष्णु' नाम से अभिहित किये जाते हैं। विष्णु के साथ त्रिविक्रम (तीन पाद का विक्षेप करने वाला) नाम का अनिवार्य सम्बन्ध है। विष्णु ने अपने तीन डगों—पादविक्षेपों—के द्वारा समस्त विश्व को माप रक्खा है। इनके इस वैशिष्टय का प्रतिपादक मन्त्र प्रत्येक संहिता में उपलब्ध होता है :—

'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे ॥' (ऋग्० १, २२; १७)

इसीलिये 'उरुगायः' (विस्तीर्ण गति वाला), और 'उरुक्रमः' (विस्तीर्ण पाद-प्रक्षेप करने वाला) विशेषण विष्णु के साथ प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि भगवान् विष्णु आज की ही भांति वैदिक युग में भी सर्वाधिक महत्त्वशाली देव थे। इनके नाम की व्याख्या जो उपर्युक्त आशय से प्रायः साम्य रखती है, एवं प्रादुर्भाव (उत्पत्ति) की कथा शिवमहापुराण में इस प्रकार दी हुई है :—

महाप्रलय के समय चतुर्दिक् घोर अन्धकार व्याप्त था। उस समय 'तत्सद्-ब्रह्म' इस श्रुति में जो 'सत्' सुना जाता है, एकमात्र वही शेष था। कुछ काल के बाद उसके मन में द्वितीय होने की इच्छा जागृत हुई[८७]– उसके भीतर एक से अनेक होने का संकल्प उदित हुआ। तब उस निराकार परमात्मा ने लीला शक्ति से अपने लिये एक मूर्ति (आकार) की कल्पना की[८८]। वह मूर्ति सम्पूर्ण ऐश्वर्य-गुणों से सम्पन्न, सर्वज्ञानमयी, शुभस्वरूपा थी। इसे ही सदा-

८७. कियता चैव कालेन द्वितीयेच्छाऽभवत् किल ॥ शिव० २, १, ६, १४।

८८. अमूर्तेन स्वमूर्तिश्च तेनाकल्पि स्वलीलया।
सर्वैश्वर्यगुणोपेता सर्वज्ञानमयी शुभा ॥ वही, २, १, ६, १५।

शिव (परमात्म-शिव) कहा गया है। उस समय एकाकी एवं स्वेच्छा विहार करने वाले उन सदाशिव (परमात्म-शिव) ने अपने विग्रह से स्वयं ही एक स्वरूपभूता शक्ति की सृष्टि की। पुनः उस शक्ति के साथ परमात्म-शिव ने 'शिवलोक' नामक क्षेत्र का निर्माण किया। इस उत्तम क्षेत्र को ही 'काशी' कहते हैं। परम निर्वाण अथवा मोक्ष का साधनभूत 'काशी' सब के ऊपर विराजमान बतलाई गई है[८९]। वे प्रिया-प्रियतमरूप शक्ति और शिव, जो परमानन्दस्वरूप हैं उस मनोरम क्षेत्र में नित्य निवास करते हैं। काशीपुरी परमानन्दस्वरूपिणी है। क्योंकि शिवा-शिव इसका कभी त्याग नहीं करते। अतः यह 'अविमुक्त' नाम से भी विख्यात है। यह क्षेत्र आनन्द का हेतु है, अतः पिनाकधारी शिव ने पहले इसका नाम 'आनन्दवन' रक्खा था। उसके बाद यह 'अविमुक्त' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

एक समय 'आनन्दवन' में रमण करते हुये शिव एवं शिवा के मन में यह इच्छा हुई कि किसी दूसरे पुरुष की सृष्टि करनी चाहिये, जिस पर यह सृष्टि-संचालन का महान् भार रखकर हम दोनों केवल काशी में रह कर इच्छानुसार विचरें और निर्वाण धारण करें[९०]। वही पुरुष हमारे अनुग्रह से सदा सबकी सृष्टि करे, पालन करे और वही अन्त में सबका संहार भी करे[९१]। यह चित्त एक समुद्र के समान है। इसमें चिन्ता की उत्ताल तरंगे उठ उठकर इसे चंचल बनाये रहती हैं। इसमें सत्त्वगुणरूपी रत्न, तमोगुणरूपी ग्राह और रजोगुणरूपी मूंगे भरे हुये हैं। इस विशालचित्त समुद्र को संकुचित करके हम दोनों उस पुरुष के प्रसाद से आनन्द-कानन (काशी) में सुखपूर्वक निवास करें। यह आनन्दवन वह स्थान है जहां हमारी मनोवृत्ति सब ओर से सिमट कर इसी में लगी हुई है। इसके बाहर का जगत् चिन्ता से आतुर प्रतीत होता है।

---

८९. युगपच्च तया शक्त्या साकं कालस्वरूपिणा।
शिवलोकाभिधं क्षेत्रं निर्मितं तेन ब्रह्मणा॥
तदेव काशिकेत्येतत्प्रोच्यते क्षेत्रमुत्तमम्।
परं निर्वाणसंख्यानं सर्वोपरि विराजितम्॥ शिव० २, १, ६, २७-२८।

९०. अथानन्दवने तस्मिञ्छिवयो रममाणयोः।
इच्छेत्यभूत् सुरर्षे हि सृज्यः कोऽप्यपरः किल॥
यस्मिन्न्यस्य महाभारमावां स्वस्वैरचारिणौ।
निर्वाणधारणं कुर्वः केवलं काशिशायिनौ॥ वही, २, १, ६, ३३।

९१. स एव सर्वं कुरुतां स एव परिपातु च।
स एव संवृणोत्वन्ते मदनुग्रहतः सदा॥ वही, २, १, ६, ३४।

उक्त निश्चय करके शक्तिसंहित सर्वव्यापी परमेश्वर शिव ने अपने वामभाग के दसवें अंग पर अमृत मल दिया[६२]। फिर तो वहां से एक पुरुष प्रकट हुआ, जो तीनों लोकों में सबसे अधिक सुन्दर था[६३]। उसमें सत्त्वगुण की अधिकता थी तथा वह गम्भीरता का अथाह सागर था। क्षमा नामक गुण से युक्त उस पुरुष के लिये अन्वेषण करने पर भी कहीं कोई उपमा नहीं मिलती थी। उसकी कान्ति इन्द्रनीलमणि के समान श्याम थी। उसके प्रत्येक अंग से दिव्यशोभा छिटक रही थी और नेत्र प्रफुल्ल कमल की भांति शोभा पा रहे थे। श्री अंगों पर सुवर्ण की सी कान्ति वाले दो सुन्दर रेशमी पीताम्बर शोभा दे रहे थे। किसी से भी पराजित न होने वाला वह वीर पुरुष अपने प्रचण्ड भुजदण्डों से सुशोभित हो रहा था। तदनन्तर उस पुरुष ने अपने नाम एवं काम के विषय में भगवान् शंकर से जिज्ञासा प्रकट की। इसके उत्तर में उन्होंने निम्न बातें कहीं :—

'व्यापक होने के कारण तुम्हारा 'विष्णु' नाम विख्यात होगा। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से नाम होंगे। तुम सुस्थिर हो उत्तम तप करो क्योंकि वही समस्त कार्यों का साधक है।' ऐसा कहकर भगवान् शिव ने श्वास-मार्ग से, श्री विष्णु को वेदों का ज्ञान प्रदान किया[६५]। इसके बाद विष्णु ने बड़ा तप किया। तप के परिश्रम से युक्त भगवान् विष्णु के अंग से नाना प्रकार की जलधारायें निकलने लगीं। उस जल से सम्पूर्ण शून्य आकाश व्याप्त हो गया। वह ब्रह्मरूप जल अपने स्पर्शमात्र से समग्र पापों का नाश करने वाला सिद्ध हुआ। उस समय थके हुये पुरुष विष्णु ने स्वयं उस जल में शयन किया। वे दीर्घ काल तक बड़ी प्रसन्नता के साथ उसमें रहे। नार अर्थात् जल में शयन करने के कारण ही उनका 'नारायण' यह श्रुति-सम्मत नाम पड़ा[६६]। उस समय उनके अतिरिक्त कोई भी प्राकृत वस्तु नहीं थी।

इसके अनन्तर भगवान् विष्णु की नाभि से कमल का प्रादुर्भाव, शिवेच्छा-वश ब्रह्मा जी का उससे प्रकट होना, कमलनाल के उद्गम का पता लगाने में

६२. संप्रधार्येति स विभुस्तया शक्त्या परेश्वरः।
सव्ये व्यापारयांचक्रे दशमेंऽशे सुधासवम् ।। शिव० २, १, ६, ३७।

६३. ततः पुमानाविरासीदेकस्त्रैलोक्यसुन्दरः। वही, २, १, ६, ३८।

६४. विष्ण्वेति व्यापकत्वात्ते नाम ख्यातं भविष्यति। वही, २, १, ६, ४३।

६५. इत्युक्त्वा श्वासमार्गेण ददौ च निगमं ततः ।। वही, २, १, ६, ४४।

६६. सुष्वाप परमप्रीतो बहुकालं विमोहितः ।।
नारायणेति नामापि तस्यासीच्छ्रुतिसम्मतम् ।। वही, २, १, ६,५३-५४।

असमर्थ ब्रह्मा का तप करना, श्री हरि का उन्हें दर्शन देना, विवादग्रस्त ब्रह्मा-विष्णु के बीच में अग्निस्तम्भ का प्रकट होना तथा उसके ओर-छोर का पता न पा कर उन दोनों का उसे प्रणाम करना आदि बातें वर्णित हैं।

भगवान् शङ्कर ने विष्णु के ऊपर जगत् के पालन का भार सौंप रक्खा है[९७] इनका स्थान ब्रह्मा की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है[९८]। ब्रह्माके एकवर्ष के बराबर विष्णु का एक दिन कल्पित किया गया है। ये अपने समय के अनुसार एक सौ वर्ष जीवित रहते हैं[९९]।

भगवान् विष्णु का निवासस्थान 'क्षीरसागर' बतलाया गया है। सम्भवतः यह उनके विश्राम का स्थान है, जहां वे संसार के कार्य से कुछ क्षणों के लिये मुक्ति पाकर शयन किया करते हैं[१००]। इनकी शय्या शेषनाग के द्वारा कल्पित है अर्थात् ये शेषनाग के ऊपर शयन किया करते हैं। इनका यान (सवारी) पक्षिराज गरुड शक्ति का प्रतीक है। इनके अन्य शेष वर्णन दूसरे पुराणों एवं लोक कथाओं के ही समान यहां भी वर्णित हैं।

यह सत्य है कि देवों, मनुष्यों अथवा अन्य प्राणियों के ऊपर विपत्ति, विशेषतः अधर्मावलम्बियों के द्वारा उपस्थापित विपत्ति, आने पर ब्रह्मा एवं शिव की अपेक्षा, विष्णु ही उनके सहायक हुआ करते हैं[१०१]। धर्मपक्ष की रक्षा हेतु वे अन्य पत्नीगमन सदृश घोर कर्म को भी करते और उसके भयंकर परिणामों को भी भोगते हैं[१०२]। इसके लिए शिवमहापुराण में ही वर्णित

---

९७. वत्स वत्स हरे त्वं च पालयैवं चराचरम् ॥ शिव० २, १, ६, २०।

९८. विष्णो सृष्टिकरं प्रीत्या पालयैनं पितामहम् ।
सम्पूज्यस्त्रिषु लोकेषु भविष्यसि मदाज्ञया ॥ वही, २, १, ६, ६२।

९९. ब्रह्मणो वर्षमानेन दिनं वैष्णवमुच्यते ।
सोऽपि वर्षशतं यावदात्ममानेन जोवति ॥ वही, २, १, १०, १८।

१००. उपद्रुता दैत्यवरेण जाताः क्षीरोदधिं यत्र हरिस्तु शेते ॥ वही, २, ५, ४३, २१।

१०१. देखिये—शिव० २, ५, १६. अ०
नारायणो हि देवानां कार्यकर्त्ता सतां गतिः ।
ते देवाः पीडिता दैत्यैर्महाबलपराक्रमैः ।
स्वं दुःखं कथयामासुः विष्णुं तं निजरक्षकम् ॥ वही, ४, २४, ६।

१०२. (क) कदाचित् सुरतस्यान्ते दृट्वा विष्णुं तमेव हि ।
निर्भर्त्स्य क्रोधसंयुक्ता वृन्दा वचनमब्रवीत् ।
धिक् तदेवं हरेः शीलं परदाराभिगामिनः ।
ज्ञातोऽसि त्वं मया सम्यङ्मायी प्रत्यक्षमानसः ।
इत्युक्त्वा क्रोधमापन्ना दर्शयन्ती स्वतेजसम् ।
शशाप केशवं व्यास पातिव्रत्यरता च सा ॥ वही, २, ५, २३, ४२।
(ख) तद्दृष्ट्वा तुलसीरूपं ज्ञात्वा विष्णुं तु चिह्नतः ।
पातिव्रत्यपरित्यागात् क्रुद्धा सा तमुवाच ह ॥ वही, २, ५, ४१, ३२।

जलन्धर की पत्नी वृन्दा और 'शंखचूड' की स्त्री तुलसी का वृत्तान्त पर्याप्त उदाहरण होगा। (सन्दर्भ नीचे उद्धृत है)। दैत्यों के विनाश के लिए ही उग्र तपस्या के द्वारा विष्णु ने शिव से 'सुदर्शन' नामक चक्र को प्राप्त किया था[१०३]। इनकी शैवीभक्ति शिवमहापुराण में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। इन्हें शैवराट् की संज्ञा से यत्र-तत्र अलंकृत किया गया है।

भगवान् विष्णु की जो महत्ता एवं लोकख्याति वैदिक युग में थी वही अग्रसर अतः विस्तृत होने वाली पवित्र गंगा की भांति, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों में अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित एवं विस्तृत होती हुई रामायण, महाभारत एवं पुराणों में सरसित हो रहो है। ब्रह्मा का वैदिक महत्त्व प्रजापति के रूप में स्वीकृत था किन्तु कालान्तर में उसका ह्रास हो गया। बाद की ख्याति वैदिक रुद्र को न प्राप्त थी। किन्तु यही बात विष्णु के विषय में नहीं है। उनका कभी साहित्यिक एवं लौकिक ह्रास देखने में नहीं आता। वे एक विकासशील, लोककल्याणकारी देवता रहे हैं। विपत्ति में सहायता एवं सम्पत्ति में प्रेरणा भगवान् विष्णु से ही लोक को मिलती रही है। यही कारण है कि सम्प्रदाय की विषाक्त भावनाओं से ग्रस्त शैव पुराणों में भी विष्णु का महत्त्व स्वीकार ही किया गया है।

लोक के कल्याण, धर्म की स्थापना तथा अधर्म के विनाश के हेतु भगवान् विष्णु कभी-कभी इस भूतल पर अवतीर्ण हुआ करते हैं। इनके बहुत से अवतार हो चुके हैं। यहाँ पर इनके कुछ महत्त्वपूर्ण अवतारों की चर्चा की जा रही है। इनका समवेत एवं अति संक्षिप्त वर्णन शिवमहापुराण की रुद्रसंहिता के युद्धखंड के षोडश अध्याय में और स्फुटरूप से अन्यत्र भी मिलता है।

(१) मत्स्य—अवतार

श्लोक—'मत्स्यरूपाय ते विष्णो वेदान्नीतवते नमः।
सत्यव्रतेन सद्राज्ञा प्रलयाब्धिविहारिणे॥ शिव०, २, ५, १६, ४।

'मूलस्रोत'—मत्स्य अवतार की वैदिक कथा शतपथ ब्राह्मण (१, ८, १, १) में उपलब्ध होती है[१०४]। कथा का अतिसंक्षिप्त रूप यह है—नदी के तट

---

१०३. वही, ४, ३४ अध्याय द्रष्टव्य।

१०४. मनवे ह वै प्रातः ··· ··· ··· मत्स्यप्राणी आपेदे। स हास्मै वाचमुवाच बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति। कस्मान्मां पारयिष्यसीति ? ओघ इमाः सर्वाः प्रजाः निर्वोढा। ततस्त्वां पारयिष्यामीति॥ शतपथ॥

पर अवनेजन करने वाले मनु के हाथ में एक मत्स्यशिशु आ गया। उसको मनु ने घट में रक्खा। इसके अनन्तर जैसे-जैसे वह बढ़ता गया उसे दीर्घ से दीर्घतर एवं दीर्घतम जलाशय में वह रखते गये। अन्त में उसे समुद्र में रक्खा जहाँ उसने विशाल काय धारण कर लिया। ओघ-जलप्लावन आया और संसार की सभी वस्तुयें नष्ट हो गईं। मत्स्य के कथनानुसार मनु ने सब अन्नों के बीजों को पहले से ही उसमें बचाकर रक्खा था। जलप्लावन शान्त होने पर मनु ने यज्ञ किया और भाण्ड में स्थापित उन्हीं सुरक्षित बीजों से पुनः पदार्थों की सृष्टि की। मत्स्यावतार की यही कथा प्रायः अनेक पुराणों में उपलब्ध होती है[१०५]। मत्स्यपुराण तो इसी के कारण उक्त नाम वाला है। श्रीमद्भागवत के एक ही अध्याय में (स्कन्ध ८, अ० २४) यह कथा संक्षेप रूप में दी गई है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि वैदिक आख्यान में कथानक का भौगोलिक क्षेत्र हिमाचल है, तो भागवत में द्रविड देश की 'कृतमाला' नदी (८,२४, १२) तथा तद्देशीय राजा सत्यव्रत के सम्बन्ध से यह कथा द्रविड देश में चरितार्थ मानी गई है। शिवमहापुराण का ऊपर लिखा गया श्लोक भी भागवत से ही इस अंश में साम्य रहता है।

(२) कूर्मावतार

श्लोकः—कुर्वाणानां सुराणां च मन्थनायोद्यमं भृशम्।
बिभ्रते मन्दरगिरिं कूर्मरूपाय ते नमः॥ शिव० २, ५, १६, ५।

'मूलस्रोत':—कूर्मावतार का प्रसंग तैत्तिरीय आरण्यक में भले प्रकार से निर्दिष्ट किया गया है[१०६]। शतपथ ब्राह्मण ने भी कूर्म का रूप धारण कर प्रजापति के द्वारा प्रजा की सृष्टि करने का उल्लेख स्पष्टरूप से किया है[१०७]।

इस वैदिक बीज का पल्लवन पुराणों में समुद्र-मन्थन के अवसर पर किया गया है। श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध के सप्तम अध्याय में समुद्रमंथन

१०५. भाग० १, ३, १५; २, ७, १२; ८ स्कन्ध; २४ अ० ११-६१ श्लोक। मत्स्य० १ अ० २५६, अग्नि० २ अ० ४६; गरु० १, ४२, पद्म० ५, ४ ७३; महाभा० १२, ३४०।

१०६. 'अन्तरतः कूर्मभूत-पर्यन्तं तमब्रवीत्-मम वै त्वङ्मांसात् समभूत्। नेत्यब्रवीत्। पूर्वमेवाहमिहासमिति। तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्। स सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् भूत्वोदतिष्ठत्'/तैत्तिरीय आर० १, २३, ३।

१०७. 'स यत् कूर्मो नाम एतद् वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत'। शतपथ० ७, ५, १, ५।

के अवसर पर कहा गया है कि निराधार होने के कारण जब मन्दराचल समुद्र में डूबने लगा तब भगवान् ने विशाल कच्छप का रूप धारण कर मन्दराचल को अपने ऊपर धारण किया था[१०८]। ठीक यही भाव शिव महापुराण के उपर्युक्त श्लोक में निर्दिष्ट किया गया है। अन्य पुराणों में भी यह आख्यान उपलब्ध होता है[१०९]।

(३) वाराह अवतार

श्लोकः—नमस्ते भगवन्नाथ क्रतवे सूकरात्मने।

वसुन्धरां जनाधारां मूर्द्धतो बिभ्रते नमः॥[११०] शिव० २,५,१६,६।

मूलस्रोतः—वाराह अवतार का प्रसंग तैत्तिरीय संहिता में, तैत्तिरीय-ब्राह्मण में तथा शतपथ ब्राह्मण में—तीन स्थानों पर पृथक् रूप से, परन्तु एक ही आकार में, उपलब्ध होता है। ये तीनों स्थल, सारांश के साथ, नीचे उपस्थित किये जा रहे हैंः—

(क) आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाऽचरत्। स इमामपश्यत। तं वराहो भूत्वाऽहरत्। तैत्ति० सं० ७, १, ५, १।

अर्थ :—पहले इस विश्व में जल ही जल था। प्रजापति वायुरूप होकर उसमें विचरण करने लगा। वहाँ उसने पृथिवी को देखा। तब उसने वराह के रूप में उस पृथिवी का (उस लोक से उद्धार कर) हरण किया। तैत्ति०, सं० ७, १, ५, १।

(ख) स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत। स पृथिवीमधः आच्र्छत्।

तैत्ति० ब्रा० १, १, ६।

अर्थ :—प्रजापति ने वराह का रूप धारण कर जल के भीतर निमज्जन किया। वह पृथिवी को नीचे से ऊपर ले आये। तैत्ति० ब्रा० १, १, ६।

(ग) इतीयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री।

तामेमूष इति वराह उज्जघान। सोऽस्याः पतिरिति।

शतपथ० ब्रा० १४, १, २, ११।

---

१०८. विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः।

कृत्वा वपुः कच्छपमद्भुतं महत् प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार॥ भाग०, ८, ७, ८।

१०९. द्रष्टव्यः—भाग० ८, ७, कूर्म० १, १६, ७७-७८, अग्नि० ४ अ० ४९, गरुड० १, १४२, पद्म० ५, ४, १३, ब्रह्म० १८०, २१३, विष्णु० १, ४।

११०. पृथिव्युद्धारे विधात्रा वै प्रार्थिता हि पुरा प्रभुः।

हिरण्याक्षं जघानासौ विष्णुर्वाराहरूपधृक्॥ शि० ३, १०, ११।

अर्थ :—यह इतनी बड़ी पृथिवी प्रादेशमात्र थी। तब पृथिवी के पति प्रजापति वाराह रूप धारण कर इसे नीचे से ऊपर लाये।

श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के १३ अध्याय में इस कथा का बड़ा ही यथार्थ तथा आकर्षक वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त वैदिक ग्रन्थों में प्रकटित उक्त तथ्य पुराणों में अभिन्न रूप से स्वीकृत है[111]। शिवमहापुराण का उक्त श्लोक भी इसी तथ्य की ओर संकेत कर रहा है।

(४) वामनावतार

श्लोक : वामनाय नमस्तुभ्यमुपेन्द्राख्याय विष्णवे।
विप्ररूपेण दैत्येन्द्रं बलिं छलयते विभो॥ शिव० २,५,१६,७।

मूलस्रोत:—वामनावतार के लिये प्रयत्नपूर्वक वैदिक स्रोतों को खोजने की आवश्यकता नहीं। ऋग्वेदीय विष्णु सूक्त में इसका बहुधा उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद प्रथम मण्डल, १५४ सूक्त के अनुशीलन से विष्णु के वैदिक स्वरूप का पूर्ण परिचय हम प्राप्त करते हैं। उनके अन्य विशिष्ट कार्यों में पृथिवी को तीन डगों (पादप्रक्षेपों) के द्वारा माप लेने का कार्य अपनी प्रधानता रखता है—'विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः' तीन पदों से पृथिवी को माप लेने के कारण ही 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' विशेषण केवल विष्णु के लिये ही वेद में प्रयुक्त किये गये हैं। निम्न प्रसिद्ध मन्त्र इसी तथ्य का द्योतक है :—

'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे॥' ऋग्० १, २२, १७।

अर्थ :—विष्णु ने इस जगत् को तीन चरणों से आक्रान्त कर पैर रक्खा और इनके धूलि-धूसर (पांसुरे) पद में यह भूमि आदि समस्त लोक अन्तर्हित हो गये।

विष्णु के लिये 'वामन' शब्द का प्रयोग शतपथ ब्राह्मण में मिलता है—'वामनो ह विष्णुरास (१, २, ५, ५)'। वामन को पौराणिक कथा का मूल-रूप शतपथ ब्राह्मण (१, २, ५, ७) में उद्धृत कथा है जिसमें वामन का प्रसंग आता है और देवलोग वामन रूपधारी विष्णु के द्वारा असुरों से पृथिवी को प्राप्त करते हैं।

पुराणों में, विशेषतः भागवत के अष्टम स्कन्ध में वामन अवतार का वर्णन राजा बलि के प्रसंग में किया गया है। लोक में, भागवत् में वर्णित

---

१११. द्रष्टव्यः—ब्रह्म० २१३, ३२-३६, वायु० ६, १६-३२, ब्रह्माण्ड० १,५,१६-२३, विष्णु० १, ४, ३२-३६, मत्स्य० २४८, ६६-७४, भाग० ३, १३, ३५-३६, अग्नि० ५, १-३।

वामनचरित, जिसमें बलि को छलने की बात मुख्य है; प्रधानतया कही और सुनी जाती है। शिवमहापुराण का ऊपर लिखा हुआ श्लोक संक्षेप में भागवत की कथा का ही प्रतिनिधित्व करता है।

(५) नृसिंहावतार

श्लोकः—प्रह्लादेन स्वपुत्रेण हरिभक्तेन दैत्यराट्।
यदा विद्वेषमकरोद्धरिवैरी विशेषतः॥
सभास्तम्भात्तदा विष्णुरभूदाविद्रुतं मुने।
सन्ध्यायां क्रोधमापन्नो नृसिंहवपुषा ततः॥ शिव० ३,१०,१७।

मूलस्रोतः—नृसिंहावतार की ठीक रूप से सूचना 'तैत्तिरीय आरण्यक' के प्रपाठक १० के प्रथम अनुवाक में दी गई है। वहां नृसिंह की गायत्री इस प्रकार है:–

'वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि।
तन्नो नारसिंहः प्रचोदयात्॥'

इस गायत्री में नृसिंह अवतार के लिये 'वज्रनख' तथा 'तीक्ष्णदंष्ट्र' पदों का प्रयोग उनकी करालता को पूर्ण द्योतित कर रहा है। इसी का उपबृंहण हिरण्यकशिपुहन्ता, प्रह्लादरक्षक भगवान् नृसिंह के चरित्र-चित्रण के अवसर पर पुराणों में किया गया है। भागवत के सप्तम स्कन्ध के ८, ९ १० अध्यायों में नृसिंह-चरित वर्णित है।

शिवमहापुराण की 'शतरुद्रसंहिता' के दशम अध्याय में नृसिंहावतार का चरित्र वर्णित है। अन्य अवतारों की अपेक्षा इस अवतार का वर्णन शिव-महापुराण में विशद रूप में प्राप्त होता है, किन्तु शिवमहापुराण में नृसिंहावतार के साथ प्रबलरूप से साम्प्रदायिक भावना भी संलग्न है। क्योंकि वहाँ यह दिखलाया गया है कि उग्र नृसिंह के क्रोध को उपशमित करने के लिये भगवान् शिव ने 'शरभ' का रूप धारण कर उनके गर्व को दूर किया था[११२]।

(६) परशुराम

श्लोक :—नमः परशुरामाय क्षत्रनिःक्षत्रकारिणे।
मातुर्हितकृते तुभ्यं कुपितायाऽसतां द्रुहे॥ शिव० २,५,१६, ८।

मूलस्रोत :—इस अवतार के लिये वेद में पोषक सामग्री नहीं मिलती। परशुराम के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है क्षत्रियों का (२१ बार) वध। इनका चरित महाभारत तथा पुराणों में बहुत्र वर्णित है। इन कथाओं के मूल

११२. देखिये—शिवमहापुराण :—३, ११-१२ अध्याय।

स्रोत हैं रामायण एवं महाभारत। इनकी कथा अध्याय, विष्णु-पुराण ४, ७, ४, ११, भागवत १, ३, २०; २, ७, २२; ६, १५-१६ में है। परशुराम का अवतार षष्ठ माना जाता है—वामन तथा राम के बीच में।

(७) रामावतार

श्लोकः--रामाय लोकरामाय मर्यादापुरुषाय ते।
रावणान्तकरायाशु सीतायाः पतये नमः॥ शिव० २, ५, १६, ६।

मूलस्रोतः —

रामावतार की कथा वेदों में उपलब्ध नहीं होती। इस कथा के कुछ पात्रों का नाम वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र अवश्य उपलब्ध होता है। इनमें 'इक्ष्वाकु'[११३] शब्द ऋग्वेद में एक बार तथा अथर्ववेद[११४] में भी एक बार आया है। दशरथ का उल्लेख वैदिक साहित्य में एक ही बार हुआ है—ऋग्वेद की एक दान-स्तुति में जहाँ अन्य राजाओं के साथ दशरथ की भी प्रशंसा की गई है वहां कहा गया है कि दशरथ के चालीस भूरे रंग के अश्व एक सहस्र भूरे रंग के अश्वों का नेतृत्व करते हैं[११५]।

राम नामक अनेक व्यक्तियों का उल्लेख वैदक साहित्य में उपलब्ध होता है[११६]। ऋग्वेद में (१०, ९३, १४) एक राजा के रूप में भी 'राम' नाम का उल्लेख मिलता है। इसी तरह वैदिक साहित्य में जनक वैदेह[११७] और सीता[११८] का भी बहुत उल्लेख हुआ है। किन्तु इन पात्रों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं निर्दिष्ट किया गया है जिससे कथा का सूत्र विच्छिन्न ही रहता है।

प्रतीत होता है वैदिक साहित्य में रामकथा के मूलतः वर्तमान न रहने पर भी यह कथा वैदिक काल में ही धीरे धीरे लोक में अंकुरित होकर पल्ल-

---

११३. ऋग्वेद, १०, ६०, ४।

११४. अथर्ववेद १९, ३९, ९।

११५. ऋग्वेद —'चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति'।
१, १२६, ४।

११६. 'रामभार्गवेय' (ऐत० ब्रा० ७, २७, ३४)
'राम औपतस्विनी' (शत० ब्रा० ४, ६, १, ७)
'रामक्रातुजातेय' जैमिनीय उपब्राह्मण के दो स्थलों पर निर्दिष्ट।

११७. तैत्तिरीय एवं शतपथ ब्राह्मण।

११८. तैत्तिरीय ब्रा० (२, ३, १०); कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में —ऋग्वेद सूक्त ४, ५७, अथर्वसूक्त, ३, १७।

वित हो रही थी। इसका प्रचार सामान्य लोगों में हो चुका था। यह भी हो सकता है कि यह लोकप्रचलित कथा उक्त वैदिक पात्रों को ही एकसूत्र में पिरोकर ग्रथित की गई हो। लोक में ख्याति प्राप्त करने के अनन्तर ही मुनि वाल्मीकि ने इसे अपने आदि काव्य का उपजीव्य बनाया होगा। ऐसा न होने पर यह कथमपि सम्भव न था कि एकाएक महर्षि वाल्मीकि इस कथा को गढ़कर एक विशालकाय काव्य का निर्माण करते। सर्वप्रथम इस कथा को वाल्मीकि रामायण में ही वृहत् स्थान उपलब्ध हुआ है। इसके बाद उसी के आधार पर अनेक साहित्यों का निर्माण हुआ। रामकथा किसी न किसी रूप से प्रायः सम्पूर्ण पुराणों में चर्चित पायी जाती है।

शिवमहापुराण की रुद्रसंहिता के सतीखण्ड में (अध्याय २४) रामकथा का किंचिद्वर्णन प्रस्तुत किया गया है। महात्मा तुलसीदास ने अपने 'रामचरित मानस' के बालकाण्ड के प्रारम्भ में वर्णित "शिवकथा" का वर्णन शिवपुराण के उक्त स्थल के आधार पर ही किया है। यह वर्णन इतना अधिक साम्य रखता है कि कहीं-कहीं पर भाव एवं वर्णनशैली के अतिरिक्त श्लोकों का हिन्दी में तुलसी दास जी ने अनुवाद मात्र कर दिया है।[११९]

(८) कृष्णावतार

श्लोकः– नमस्ते ज्ञानगूढाय कृष्णाय परमात्मने।
राधाविहारशीलाय नानालीलाकराय च॥ शिव० २, ५, १६, १०,।

मूलस्रोत :—कृष्ण का संकेत वैदिक साहित्य में है। छान्दोग्य उपनिषद् (३, १७, ६) ने घोर आंगिरस के शिष्य जिस देवकीपुत्र कृष्ण की चर्चा की है वे पुराणों में वर्णित देवकी तथा वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं प्रतीत होते। 'वासुदेव' शब्द का उल्लेख न होने पर भी 'देवकीपुत्र' विशेषण ही दोनों के ऐक्यसाधन के लिये पर्याप्त माना जाता है। अतः कृष्णावतार की सूचना वेदनिर्दिष्ट ही है।

शिवमहापुराण में अनेक स्थानों पर कृष्ण कथाओं का उल्लेख हुआ है। इनमें 'ऊषा अनिरुद्ध' चरित एवं 'कृष्णवाणासुरयुद्ध' का वर्णन 'युद्धखण्ड' के ५१-५५ अध्यायों में विशद रूप से किया गया है। 'उत्तरवायवीय संहिता' के श्रोता भगवान् श्रीकृष्ण ही निर्दिष्ट किये गये हैं।

---

११९. तुलना कीजिये :—

प्रेमतस्त्वं सति ब्रूहि क्व शम्भुस्ते नमो गतः।
एका हि विपिने कस्मादागता पतिना विना॥ शिव० २, २, २४ ४६।

तुलना—कहेउ बहोरि कहां वृषकेतू। विपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥ बालकाण्ड॥

कृष्ण के चरित्रों को प्रधानरूप से वर्णित करने के लिये ही श्रीमद्भागवत की रचना की गई है। भागवत के दशम स्कन्ध में इनकी कोमल कथाओं का बड़े ही मार्मिक रूप से उपस्थापन किया गया है। इनकी लोकप्रियता के कारण ही अनेक कवियों ने इनके चरित को अपने काव्यों का उपजीव्य बनाया है।

(९,१०) बुद्धदेव एवं कल्कि अवतार

श्लोकः – नमस्ते गूढदेहाय वेदनिन्दाकराय च।
योगाचार्याय जैनाय बौद्धरूपाय मापते॥ शिव० २, ५, १६, ११।
नमस्ते कल्किरूपाय म्लेच्छानामन्तकारिणे।
अनन्तशक्तिरूपाय सद्धर्मस्थापनाय च॥ शिव० २,५, १६, १२।

इन दो अवतारों के विषय में जाना जाता है कि बुद्ध को जन्म लिये केवल ढाई हजार वर्ष हुये तथा कल्कि का अवतार अभी भविष्य में होने वाला है। यह अवतार पुराणों के अनुसार इसी कलियुग में ही होगा, महाभारत (वन, १९०-९१, हरिवंश (१, ४१), ब्रह्म० (१०४अ०), मत्स्य० (४७, २४८-२४९), तथा भागवत (१, ३, २५) आदि में कल्कि का वर्णन प्राप्त होता है।

शिवमहापुराण में दूसरे पुराणों में वर्णित उपाख्यानों को अतिसंक्षिप्त रूप से उल्लिखित कर दिया गया है। भगवान् विष्णु के ये ही दश अवतार प्रायः सभी पुराणों में प्रधानतया स्वीकृत एवं वर्णित किये गये हैं। इनका अवतार सर्वदा भूमि के भार को उतारने के लिये हुआ करता है। जब जब लोक में किसी भी प्रकार का दुःख उत्पन्न होता है तब तब भगवान् विष्णु अवतीर्ण होकर उसे निरामय करते हैं[१२०]। इनसे अधिक अथवा इनके समान कोई दूसरा शिवपरायण नहीं है। इनके द्वारा वेद एवं धर्म शुभ मार्ग पर प्रतिष्ठित किये जाते हैं[१२१]।

शिवमहापुराण के अनुसार भगवान् विष्णु के लोक का नाम है गोलोक' गोलोक की स्थिति शिवलोक के ही अन्दर बतलाई गई है[१२२]। वैष्णव लोग भी यही मानते हैं।

---

१२०. यदा यदा हि लोकस्य दुःखं किंचित्प्रजायते।
तदा तदाऽवतीर्णस्त्वं करिष्यसि निरामयम्॥ शिव० ३, ११, २१।

१२१. नाधिकस्त्वत्समोऽप्यस्ति हरे शिवपरायणः।
त्वया वेदाश्च धर्माश्च शुभमार्गे प्रतिष्ठिताः॥ शिव० ३, ११, २२।

१२२. मम लोके तदेवं वै स्थानं च परमर्द्धिमद्।
गोलोक इति विख्यातं भविष्यति महोज्ज्वलम्॥ वही, २, २, २५, २८।

ब्रह्मा अथवा ब्रह्मदेव

पुराण में हम जिन्हें ब्रह्मदेव के नाम से वर्णित पाते हैं, उन्हें वेदों में 'प्रजापति' के नाम से अभिहित किया गया है। अथर्ववेद में ब्रह्मा का आवाहन, प्रजनन तथा जीवित प्राणियों के रक्षक के रूप में किया गया है। ऋग्वेद के एक सूक्त (१०, १२१) में ब्रह्मा को (प्रजापति को) आकाश, पृथिवी, जल तथा समस्त जीवित प्राणियों का रचयिता कहा गया है। इनका प्रजापति नाम सार्थक है, क्यों कि ये उत्पन्न होने वाले समस्त जीवों के पति माने गये हैं। ये सम्पूर्ण गतिशील एवं श्वास लेने वाले प्राणियों के राजा हैं, देवों में श्रेष्ठ हैं। इनके विधानों का पालन देवों को भी करना पड़ता है। इन्होंने ही आकाश और पृथिवी को स्थापित किया है। ये ही अन्तरिक्ष के सब स्थानों में व्याप्त हैं। ये समग्र विश्व एवं सम्पूर्ण प्राणियों को अपनी भुजाओं से आलिंगित करते हैं। ऋग्वेद के इस वर्णन से प्रजापति की देवों में प्रमुखता की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है ऋग्वेद में प्रजापति की प्रधानता का निर्देश एक ही बार हुआ है, परन्तु अथर्ववेद और वाजसनेयी संहिता में सामान्य रूप से और ब्राह्मणों में नियमतः ये ही सर्वप्रधान देव के रूप में कल्पित किये गये हैं। ये देवों के पिता हैं (शतपथ ११, १, ६, १४)। सृष्टि के प्रारम्भ में अकेले इन्हीं का अस्तित्व था[१२३]। (शतपथ ब्रा० २, २, ४, १)। प्रजापति का यही वेदवर्णित स्वरूप है।

प्रजापति को ही पुराणों में 'ब्रह्मा' के रूप में स्वीकार किया गया है। वेदवर्णित प्रजापति की सम्पूर्ण कथायें ब्रह्मा से सम्बद्ध की गई हैं। उदाहरणार्थ प्रजापति एवं उनकी दुहिता की कथा पुराणों में ब्रह्मा के विषय में उल्लिखित की गई है। त्रिदेवों में ब्रह्मा का स्थान प्रथम है। किन्तु पंचदेवों की कल्पना में ब्रह्मा का महत्व और स्थान विष्णु, सूर्य, शिव और गणेश की अपेक्षा गौण है। इनकी महत्ता गणेश से भी कम है। इस प्रकार के दृष्टिकोण का प्रभाव इनकी उपासना पर भी पड़ा है। ब्रह्मा के आधार पर भारतवर्ष में कोई भी सम्प्रदाय खड़ा न हो सका। वैसे पौराणिक मान्यता में भी ब्रह्मा सृष्टि के स्रष्टा बने रहे। ब्रह्मा के मन्दिर भी बहुत ही कम बने और अकेले ब्रह्मा की पूजा केवल वैदिक ब्राह्मणों के द्वारा ही विधि-सम्मत कही गई है[१२४]। ब्रह्मा की यह दुःस्थिति शिवमहापुराण के अनुसार इनको विष्णु के साथ प्रतिद्वन्द्विता के कारण हुई है। इस विषय में शिवमहापुराण में इस प्रकार की आख्यायिका उपलब्ध होती है :—

---

१२३. तुलना कोजिए–हिरण्यगर्भं देवानां प्रथमं जनयेदयम्। शिव०, ७, १, ६, १७।

१२४. बनर्जी—डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ५१२-१३।

एक बार 'कौन सर्वश्रेष्ठ एवं परब्रह्म है ?' इसी बात को लेकर ब्रह्मा एवं विष्णु में भीषण संग्राम छिड़ा। दोनों ही अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहते थे। किन्तु कोई निर्णय न हो पाता था। उनके द्वारा प्रयुक्त अस्त्रों की ज्वाला से त्रिलोकी दग्ध हो रही थी। इस प्रकार अकाल में ही समुत्थित प्रलय को देखकर भगवान् शंकर ने उन दोनों के मध्य में अपना एक, आदि-अन्तविहीन ज्वालामाला से वेष्टित लिंग प्रकट किया[१२५]। उस अतिन्द्रिय, मध्य में ही उत्थित, अग्निरूप स्तम्भ को देखकर दोनों ने ही उसके आदि एवं अन्त का पता लगाने का निश्चय किया। ब्रह्मा हंस का रूप धारण कर ऊपर की ओर चले और विष्णु सूकर का रूप धारण कर नीचे की ओर[१२६]। किन्तु एक सहस्र वर्ष बीत जाने पर भी जब किसी को आदि एवं अन्त का पता न चला तो श्रान्त होकर वे दोनों भूतल पर लौट आये। किन्तु इसी बीच ब्रह्मा ने एक षडयंत्र रच लिया था। वे जब ऊपर की ओर जा रहे थे तो उन्हें मार्ग में एक केतकी-पुष्प दिखलाई पड़ा, जो बहुत वर्ष पहले से ही शिव के मस्तक से च्युत हुआ था[१२७]। ब्रह्मा उसे साथ ले वापस लौट आये और विष्णु से कहा कि मैंने लिङ्ग (स्तम्भ) का अन्त देख लिया है। इस विषय में यह केतकी पुष्प साक्षी है। ब्रह्मा के पूर्व अनुरोध के कारण उस पुष्प ने भी उनकी बात प्रमाणित कर दी[१२८]। इस बात से अपनी पूर्वप्रतिज्ञा के कारण भगवान् विष्णु ने ब्रह्मा को श्रेष्ठ एवं परब्रह्म मानते हुए उनका सम्मान किया[१२९]। किन्तु भगवान् शिव को यह कपट-प्रपंच सह्य न हुआ। अतः ब्रह्मा को दण्डित एवं हरि को अनुगृहीत करने के लिये उस अग्नि-लिङ्ग से साकार भगवान् शिव प्रकट हुए। उन्हें देखकर विष्णु ने क्षमा याचना कर उन्हें प्रसन्न कर लिया। विष्णु की सत्यप्रियता को देखकर भगवान् शंकर ने कहा—विष्णु ! ईशत्व की वांछा रखते हुए भी आप जो सत्यवाक्य ही बोले अतः मैं आप पर प्रसन्न हूँ। आज से लोक में भी हमारे समान तुम्हारा सत्कार होगा

१२५. महानलस्तम्भविभीषणाकृतिर्बभूव तन्मध्यतले स निष्कलः ॥ शिव० १, ७, ११।
मध्ये समाविरभवल्लिङ्गमैश्वरमद्भुतम् ।
ज्वालामालासहस्राढ्यमप्रमेयमनौपमम् ॥ वही, ७, २, ४३, ३३ ।

१२६. इत्युक्त्वा सूकरतनुर्विष्णुस्तस्यादिमीयिवान् ॥ वही, १, ७ १६ ।
तथा ब्रह्मा हंसतनुस्तदन्तं वीक्षितुं ययौ । वही, १, ७, १७ ।

१२७ ददर्श केतकीपुष्पं किंचिद्विच्युतमद्भुतम् ॥ वही, १, ७, १९ ।
अतिसौरभ्यमम्लानं बहुवर्षच्युतं तथा । वही, १, ७, २० ।

१२८. ततोऽवदत्तत्र हि केतकं मृषा तथेति तद्धातृवचस्तदन्तिके । वही, १, ७, २७ ।

१२९. हरिश्च तत्सत्यमितीव विनयं चकार तस्मै विधये नमः स्वयम् । वही, १, ७, २७

और पृथक् रूप से तुम्हारी क्षेत्रप्रतिष्ठा, उत्सव एवं पूजन होगा[१३०]।

इसके बाद ब्रह्मा को दण्डित करने के लिये भगवान् शंकर ने अपनी भ्रुकुटि के मध्य से भैरव को उत्पन्न किया। उन्होंने शिव की आज्ञा से ब्रह्मा के असत्य-भाषी पंचम शिर को खड्ग से काट लिया। किन्तु विष्णु की प्रार्थना से भगवान् शंकर ने भैरव को उनका वध करने से रोक दिया। इतने पर भी शंकर का क्रोध शान्त न हुआ, उन्होंने ब्रह्मा को शाप दिया–'आज से लोक में आप की प्रतिष्ठा (स्थान) एवं उत्सव आदि न होंगे'[१३१]।' शाप सुनते ही भयविह्वल ब्रह्मा ने उनकी स्तुति कर प्रसन्न किया। फिर क्या था प्रसन्न हुये ईश ने उन्हें वरदान दिया। 'वैतानिक एवं गृह्ययज्ञों में आप ही गुरु होंगे, आप के बिना साङ्ग एवं भूरिदक्षिणा वाला यज्ञ भी निष्फल होगा'[१३२]।'

यह कथा इस देश में शैव एवं वैष्णव मत के प्रचार, प्रसार एवं अभ्युत्थान तथा ब्रह्मा के महत्त्व-ह्रास के ऊपर पर्याप्त प्रकाश डालती है। प्रतीत होता है कि पुराण काल से पूर्व, जबकि वैदिक कर्मकाण्ड का युग समाप्त हो रहा था और शनैः शनैः पौराणिक भक्तिकाल के आगमन का ब्राह्ममुहूर्त होने वाला था, इस देश में वैष्णवों एवं ब्रह्मा के भक्तों का प्राबल्य तथा प्रचुर-प्रचार अथवा प्रसार था। उस समय शैवमत का अभ्युत्थान मन्द मन्द गति से हो रहा था। वैदिक रुद्र पौराणिक शिव का रूप धारण कर रहे थे। याज्ञिकों के द्वारा उनके विरोध की उत्ताल-तरंगित-भावना मधुर अगाध एवं प्रशान्त भक्तिरस की धारा में तिरोहित होती जा रही थी। किसका मत श्रेष्ठ है और किसके मान्य देवता ही परब्रह्म कहे जाने के पात्र हैं, इस बात को लेकर वैष्णवों एवं ब्रह्मा के भक्तों में संघर्ष प्रारम्भ हो चुका था। धीरे-धीरे संघर्ष का यह स्वरूप विस्तृत और भयावह होता गया। फलतः उक्त दोनों मत शान्ति के स्थान में अशान्ति के ही कारण बने। सामान्य जनता सघर्ष की इस भावना से ऊब चुकी थी, अतः उसे अब इन दोनों के अतिरिक्त एक ऐसे मत की आवश्यकता थी जो उसे सत्यं शिवं एवं सुन्दरं का मार्ग दिखला सके। परि-

---

१३०. ब्रूयास्ततस्ते भविता जनेषु साम्यं मया सत्कृतिरप्यलप्सि ॥ शिव०, १, ७, ३१।
इतः परं ते पृथगात्मनश्च क्षेत्रप्रतिष्ठोत्सवपूजनं च ॥ वही, १, ७, ३२।

१३१. नातस्ते सत्कृतिर्लोके भूयात्स्थानोत्सवादिकम्। वही, १, ८, १०।

१३२. वरं ददामि वे तत्र गृहाण दुर्लभं परम्।
वैतानिकेषु गृह्येषु यज्ञेषु च भवान् गुरुः। वही, १, ८, १३।
निष्फलस्त्वदृते यज्ञः साङ्गश्च सहदक्षिणः। वही, १, ८, १४।

णाम यह हुआ कि जनभावना शैव धर्म की ओर आकृष्ट हुई[१३३]। उन दोनों के मध्य में एक तृतीय धर्म पल्लवित होने लगा। उस समय इसका प्रचार घर घर हो गया। चतुर्दिक् इसके तीर्थ एवं मन्दिर बन गये। जनता शैवों को श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगी। इसके अभ्युत्थान से ब्रह्मा एवं उनके अनुयायियों के महत्त्व एवं सम्मान का ह्रास होने लगा, क्योंकि इस सम्प्रदाय ने अपनी महत्त्व वृद्धि के लिये असत्य एवं आडम्बर का सहारा ले लिया था। यही कारण था कि जनभावना इसके विपरीत हो गई थी। अतः इसका पतन अवश्यम्भावी था। फलतः ब्रह्मा के मन्दिर, मठ एवं तीर्थ का निर्माण न हो सका और बाद में धीरे-धीरे जनसमुदाय से इसका लोप ही हो गया। चूंकि वैदिक युग के ब्राह्मण-कर्मकाण्ड में पहले से ही ब्रह्मा का स्थान प्रबलरूप से प्रतिष्ठित हो चुका था, अतः इनका वही रूप अवशिष्ट रह गया।

ब्रह्मा एवं उनके सम्प्रदाय के ह्रास एवं शैवमत के अभ्युत्थान के बाद भी विष्णु एवं उनके अनुयायियों का महत्त्व अक्षुण्ण बना रहा। इसका कारण यह था कि उक्त साम्प्रदायिक संघर्ष ब्रह्मा के अनुयायियों के द्वारा उस समय हठात् प्रारम्भ किया गया था जबकि वैष्णव जन अपने मार्ग का अवलम्बन कर रहे थे[१३४]। इसके अतिरिक्त दूसरा यह भी कारण था कि ये लोग अपनी

१३३. इत्थं बभूव समरं ब्रह्मविष्ण्वोः परस्परम्।
ततो देवगणाः सर्वे विषण्णा भृशमाकुलाः।
ऊचुः परस्परं तात राजक्षोभे यथा द्विजाः॥ शिव० १, ८, १९।
सृष्टिः स्थितिश्च संहारस्तिरोभावोऽप्यनुग्रहः।
यस्मात्प्रवर्तते तस्मै ब्रह्मणे च त्रिशूलिने॥ वही, १, ६, २०।

१३४. पुरा त्रिभुवनस्यास्य प्रलये समुपस्थिते।
वारिशय्यागतो विष्णुः सुष्वापानाकुलः सुखम्।
यदृच्छया गतस्तत्र ब्रह्मा लोकपितामहः॥
कस्त्वं वदेत्यमर्षेण प्रहृत्योत्थाप्य माधवम्।
स तु हस्तप्रहारेण तीव्रेणाभिहतः क्षणात्॥
प्रबुद्धोत्थाय शयनाद्ददर्श परमेष्ठिनम्।
तमाह चान्तः संक्रुद्धः स्वयमक्रुद्धवद्धरिः॥
कुतस्त्वमागतो वत्स कस्मात्त्वं व्याकुलो वद॥
इति विष्णुवचः श्रुत्वा प्रभुत्वगुणसूचकम्॥
रजसा बद्धवैरस्तं ब्रह्मा पुनरभाषत।
वत्सेति मां कथं ब्रूषे गुरुः शिष्यमिवात्मनः। वही, ७, २, ३४, १७-२३।
इसी प्रकार की बात १, ६ में भी वर्णित है।

अभिवृद्धि चाहते हुए भी एकमात्र सत्यमार्ग के ही अवलम्बनकर्ता बने रहे। छल, कपट से इनका सम्पर्क न था। तीसरी बात यह भी है कि वैदिक काल में प्रजापति की अपेक्षा विष्णु की जड़ इतनी सुदृढ़ एवं जनमानस की गहराई में जा चुकी थी कि उसका उत्पाटन उतना सरल कार्य न था जितना कि ब्रह्मा के बहिष्कार का। चतुर्थ बात यह है कि विष्णु सर्वदा से देवों के पक्षपाती थे जबकि ब्रह्मा की आराधना देवों के साथ दानवों के द्वारा भी होती थी। दानवों के साथ इनका सम्पर्क-स्थापन इनके लिये आगे चलकर हितावह न सिद्ध हुआ।

ये ही कुछ कारण हैं, जिनके कारण वैष्णव मत का शैवमत के समानान्तर विकास इस देश में हुआ।

विविध पुराणों में ब्रह्मा को गौण पद दिया गया है तथा विष्णु की महत्ता प्रदर्शित करने के लिये उन्हें विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल पर आसीन बतलाया गया है। इस कथा से यही प्रमाणित किया गया है कि ब्रह्मा की उत्पत्ति विष्णु से हुई है। मार्कण्डेय पुराण में मधु-कैटभ का जो प्रसंग है, वह भी मुख्यतः ब्रह्मा की हीनता एवं विष्णु की श्रेष्ठता सूचित करने के लिये ही है।

शिवमहापुराण में एक ही स्थल ऐसा है जहाँ अन्य देवों के साथ ही यथावसर ब्रह्मा के भी पूजन का विधान किया गया है। तत्तद्दिनों में तत्तद्देवों के पूजन के प्रसग में कहा गया है कि— कृत्तिका नक्षत्र युक्त गुरुवार के दिन धन चढ़ाकर ब्रह्मा के पूजन एवं मधु, सुवर्ण तथा घी के दान से मनुष्यों की भोग-वृद्धि होती है[१३५]।

ब्रह्मपूजन के इस निर्देश को प्राचीन संस्कार का अवशेष ही कहा जा सकता है और दूसरी बात यह है कि यह वर्णन कार्तिक महीने के वारादि देवों के प्रसंग में आया है, अतः इसका स्वतः अपना कोई महत्त्व नहीं है[१३६]।

ब्रह्मा की इसी महत्त्वहीनता के कारण पुराणों में कहीं भी ब्रह्मा के अवतार का प्रसंग नहीं मिलता। पीडित मानवता के त्राणहेतु कभी इनका आविर्भाव नहीं होता। भूतल पर अवतार लेकर धर्म की संस्थापना एवं अधर्म का नाश प्रधानतया विष्णु, शिव एवं दुर्गा का ही कार्य बतलाया गया है। अतः लोक में इनकी पूजा, स्थापना बतलाई गई है। दुःख एवं कठिनाई में जो प्रजा का परिरक्षण नहीं करते लोक भला उनकी पूजा, स्थापना कैसे कर सकता है ?

१३५. कृत्तिकागुरुवारेषु ब्रह्मणो यजनाद्धनैः।
मधुस्वर्णाज्यदानेन भोगवृद्धिर्भवेन्नृणाम् ॥ शिव० १, १६, ५५।

१३६. वारादिदेवयजनं कार्तिके हि विशिष्यते ॥ वही, १, १६, ४५।

तृतीय अध्याय

लिङ्ग

लिङ्गार्चन एवं लिङ्ग का अर्थ तथा उसका विकास

माहेश्वर लिङ्ग की अर्चना अति प्राचीन काल से जगद्व्यापक[1] रही है। खीष्टीय धर्म के प्रचार के पूर्व पाश्चात्य देशों की प्रायः सभी जातियों में किसी न किसी रूप से लिङ्गपूजा सर्वत्र प्रचलित रही है। रोम एवं यूनान दोनों देशों में क्रमशः 'प्रियेपस' (Priapus) और 'फल्लुस' के नाम से लिङ्ग की सी अर्चा होती थी। इन दोनों राष्ट्रों के प्राचीन धर्म का लिङ्गपूजा प्रधान अङ्ग था। वृष को मूर्ति लिङ्ग के साथ ही पूज्य थी। पूजा की विधि में धूप, दीप, पुष्पादि हिन्दुओं की ही तरह काम में आते थे[२]।

हाडर एम॰ वेस्ट्रोप की एक पुस्तक 'Primitive symbolism as illustrated in Phallic Worship' लन्दन से प्रकाशित हुई है। इसमें लेखक ने अतीत एवं वर्तमान में, अनेक देशों—ग्रीस 'Greece', मिस्र 'Egipt' रोम, असीरिया, प्राचीन अमेरिका आदि—में प्रचलित लिङ्ग पूजा के सम्बन्ध में बहुत-सी सूचनायें एकत्रित की है। लिङ्गपूजा अथवा प्रियेपस (Priapus) की पूजा अथवा प्राइप गैला (Pripe-gala) की पूजा, बौडिन (Boudin) के अनुसार १२ वीं शताब्दी तक जर्मनी, स्लोवाकिया और फ्रांस में बराबर प्रचलित रही। मिस्री, रोमन और ग्रीक लोग मन्दिरों का निर्माण कर उसे प्रियेपस को समर्पित करते थे। इसराइल की जनता भी प्रियेपस, जो लिङ्ग के ही आकार प्रकार का होता था, के समान ही आकार की पूजा किया करती थी[3]। मिस्र देश में तो हर और ईशिः की उपासना उनके धर्म का प्रधान अंग था। रोम, यूनान एवं मिस्र में प्रायः फाल्गुन मास में ही वसन्तोत्सव के रूप में लिङ्गपूजा वार्षिक समारोह से हुआ करती थी[४]।

---

1. Eliments of Hiudu Iconography, Page 70 of Vol. II.
२. कल्याण १९३६, अंक १ में प्रकाशित रामदास गौड के 'लिंगरहस्य' नामक लेख से।
3. History and Philosophy of Lingayat Religion by M. R. Sakhar, P. 305.
४. लिंग रहस्य, लेखक रामदास गौड।

कर्नल टाड के अनुसार 'फल्लुस' शब्द की व्युत्पत्ति अद्भुत है। उनका कहना है कि यह शब्द संस्कृत में 'फलेश' से निकला[5] है, क्योंकि भगवान् शंकर यजन का सद्यः फल देते हैं और उन्हें वसन्तारम्भ के ऋतुफल निवेदन भी किये जाते हैं।

प्राचीन चीन और जापान के साहित्य में भी लिङ्ग-पूजा का साक्ष्य उपलब्ध होता है। पुरानी मूर्तियों की उपलब्धि से इतना तो निश्चय ही हो जाता है कि अमेरिका के महाद्वीपों के प्राचीन निवासी भी लिङ्ग पूजा किया करते थे।

ईसाइयों के वेद के दो विभाग हैं। पुराने सुसमाचार नामक विभाग में राजाओं की पुस्तक के पन्द्रहवें अध्याय में (Seripture I Kings XV) यह कथा है कि रेहोबोयम (Rehoboam) के पुत्र आशा (Asa) ने अपनी माता 'मालाकाह (Malachah)' को लिङ्ग के सामने बलि देने से रोका था। पीछे क्रोध में आकर उन्होंने उस लिङ्ग की मूर्ति को तोड़ फोड़ डाला। यहूदियों के देवता बेलफेगोर (Belphegor) की पूजा लिङ्ग-मूर्ति की होती थी। उनका एक गुप्त मन्त्र था, जिसकी दीक्षा यहूदी किया करते थे। मोयाबी और मरिनावासी यहूदियों के उपास्यलिङ्ग की स्थापना 'फेगोशैल' Mount Phegot पर हुई थी। इनकी उपासना विधि मिस्रवासियों से मिलती-जुलती थी। पहाड़ के ऊपर जंगल में और बड़े वृक्ष के नीचे यहूदियों ने लिङ्ग और बछड़े की मूर्ति स्थापित की, इस पर यहूदियों के परम पिता उनसे रुष्ट हो गये थे। ये बालेश्वर शिवलिङ्ग पत्थर पर बनाते और स्थापित करते थे। और बाल (Baal) नाम से ही पूजते भी थे। बालेश्वर की वेदी के सामने ये धूप जलाते थे और लिङ्ग के सामने वाले वृष (नन्दी) को हर अमावस्या को पूजा चढ़ाते थे। मिस्र के ओसिरिस (Osiris) के लिङ्ग के सामने भी बैल रहता था[६]।

कर्नल टाड का कहना है कि मुहम्मद साहब के पहले 'लात' नामक अरब के देवता की उपासना 'लिङ्ग' के रूप में हुआ करती थी और सोमनाथ के शिवलिङ्ग को भी पश्चिमी लोग 'लात' (Lat or Alhat) ही कहते थे। 'लात' की मूर्तियां दोनों जगह बहुत विशाल और रत्नों से सुसज्जित थीं। यह एक ही पत्थर का विशालकाय लिङ्ग था। जिस मन्दिर में यह स्थापित था उसमें इस लिङ्ग को सभालने के लिये ठोस सुवर्ण के छप्पन खम्भे थे[७]।

5. Tod's Rajasthan, Vol. I. P. 603.

६. रामदास गौड के लिंगरहस्य एवं ५म० आर० साखर की 'लिंगायत धर्म का इतिहास एवं दर्शन' के पृ० ३०६ में समानरूप से द्रष्टव्य।

७. Richardson's Dictionary (1829) में 'लात' शब्द द्रष्टव्य।

महमूद गजनवी इसे ध्वंस करके सोना ढो ले गया था। दोनों देशों में नाम एक ही था। 'लात' अथवा 'लाट' यह एक और विचित्रिता थी। आकार और लम्बाई के हिसाब से 'लाट' कहना तो ठीक ही था परन्तु कोषकार रिचर्डसन लिखते हैं कि 'लात' अल्लाह की सबसे बड़ी पुत्री का नाम था और उसका चिह्न या मूर्ति लिङ्ग की तरह थी। जो हो, परन्तु मुसलमानों ने 'लात' का ध्वंसावशेष भी न रक्खा, परन्तु मक्केश्वर तो अब तक लिङ्गरूप में काबे में पधराये हुये हैं। इस मक्केश्वर लिङ्ग की चर्चा भविष्यपुराण के ब्राह्मपर्व में आयी है।

मक्केश्वर लिङ्ग काले पत्थर का है। मुसलमान बन्धु इसे 'असवद' कहते हैं। पहले इसराइली और यहूदी इसकी पूजा किया करते थे। मुहम्मद साहब के समय में इसकी पूजा-अर्चा चार कुलों के पण्डे किया करते थे। जब काबे में इसके लिये एक स्थान बनाया गया और इसके प्राचीन स्थान से वहाँ ले जाकर स्थापित करने का प्रश्न आया तब चारों पण्डों में यह झगड़ा उठा कि मूर्ति को उठाकर निश्चित स्थान तक पहुँचाने का गौरव किसे प्राप्त हो? हजरत मुहम्मद साहब का निर्णय सर्वमान्य हुआ और एक चादर पर चारों ने उसे पकड़कर उस स्थान पर ले जाकर मूर्ति को स्थापित किया। काबे में इस मूर्ति की पूजा नहीं होती, परन्तु जो मुसलमान हज करने जाता है, इस मूर्ति का चरण-चुम्बन करके आता है।

यद्यपि अब पहले की तरह पूजा नहीं होती तो भी फ्रांस के अनेक प्रसिद्ध स्थानों में अब तक लिङ्ग देखने में आते हैं। फ्रांस ही नहीं और देशों के भी गिरजाघरों में, धर्म मन्दिरों में, अजायबघरों में, लिङ्गरूप के पत्थर स्मारक रूप से रखे देखे जाते हैं। लिङ्गपूजा का पाश्चात्य देशों में इतना प्रचार था कि 'लिङ्गार्चा' अथवा (Phallicism) एक सम्प्रदाय ही समझा जाता था, जिसका अस्तित्व प्रायः सभी देशों में उपलब्ध होता है।

पणिः जाति के लोगों की चर्चा हमारे वैदिक साहित्य में आयी है। यह पाश्चात्य वणिक् समाज था, जिसका आना-जाना भारत से लेकर भूमध्य-सागर तक हुआ करता था। इन व्यापारियों का उल्लेख शिवमहापुराण में भी हुआ है[८]। पाश्चात्य जगत् में यही लोग 'फणिश्' कहे जाते थे और इब-रानी जाति इन्हीं के विकास का फल है, जिनके यहाँ बालेश्वर लिंग की उपासना विधिवत् होती थी। मन्दिरों का निर्माण भी भारतीय आकृति के

८. एतस्मिन्नन्तरे तत्र नावो बहुतराः शुभाः।
आगता बहुधा तत्र सर्वतो लोकसंवृताः॥ शिव० ४, २६, ३८।
तेषां मध्ये च योऽधीशः स वैश्यः सुप्रियाभिधः। वही, ४, २६, ४२।

अनुसार होता था, जैसाकि उनके ध्वंसावशेषों से अवगत होता है। इस बालेश्वर लिंग को बाइबिल में 'शिउन' कहा गया है। इसी घोर सादृश्य को देखकर कुछ विद्वान् कहते है कि भारत ने पाश्चात्य देशों से लिंगपूजा सीखी है, मिस्र में सेवा' देवता के साथ सर्प का सम्बन्ध है। स्पष्ट ही यह व्यालमालधारी भगवान् शिव ही हैं।

हमारे देश में तो हिमालय में मानसरोवर और कैलास से लेकर कन्याकुमारी और रामेश्वर जी तक और अटक से लेकर कटक तक लिङ्गों और शिवालयों की गणना नहीं की जा सकती। असंख्य लिङ्ग और असंख्य शिवालय हैं। यह देश शिवमय ही है। शिवलिङ्ग और शिवालय भारतीय संस्कारों में, रक्त के अणु अणु में भिना चला आया है—इस बात की साक्षी भूगर्भ में गड़ी पड़ी है। छोटी छोटी खुदाइयों में, नीवों और कुओं के भीतर तो शिवलिङ्ग बहुधा मिलते ही रहते हैं। कुछ समय पूर्व काशी में कपड़े के चौक बाजार के बीच में दो-तीन पोरसा (पुरुष) नीचे शिवलिङ्ग और मन्दिर का मिलना कोई मूल्य नहीं रखता जबकि 'मोहंजोदरो' और 'हरप्पा' की खुदाई में ऐसी तहों में शिवलिङ्ग मिलते हैं जो समय को निकट से निकट खींच लाने वाले कट्टर आनुमानिकों की अटकल से आज से कम से कम छः हजार और भारतीय महायुद्ध से कम से कम एक हजार वर्ष पहले के ठहरते हैं।

सर जान मार्शल 'मोहंजोदरो' और 'हरप्पा' की खुदाई में अनेक लिङ्ग के प्रादुर्भाव से आश्चर्यचकित हो कहते हैं कि शैवधर्म कलकालिथिक युग (Chalcolithic age) या इससे भी पहले का है और इस सम्बन्ध के अपने ग्रन्थ में उस समय के इन शैवों को आर्यजाति के पूर्वगामी किसी अधिक सभ्य राष्ट्र के मनुष्य ठहराते हैं, क्योंकि उनके मत से तब तक आर्य लोग भारत में आकर बसे ही न थे। मार्शल महोदय यह कहकर मोहंजोदरो की उस लिङ्ग-प्राप्ति को अनार्य ठहराते हैं कि 'शिव' जी का वैदिक-विश्व-देवता में कोई स्थान नहीं है। किन्तु यह सब मार्शल जी की वैदिक अज्ञानता को ही प्रमाणित करता है। रुद्राध्याय तो शिव के नामों से भरा है ही, रुद्र की स्तुतियां चारो संहिताओ में उपलब्ध होती हैं।

वाल्मीकि रामायण उत्तर काण्ड में रावण के कथाप्रसंग में आया है कि 'शिवभक्त रावण जहां-जहां जाता है वहां वहां स्वर्णलिङ्ग भी जाता है और बालुका की वेदी पर पधराकर वह विधिवत् पूजा करता हैं तथा लिङ्ग के

सम्मुख नृत्य भी करता है" ।

महाभारत अनुशासन पर्व में चतुर्दश अध्याय से भगवान् महेश्वर का प्रसंग चलता है, जिसके अन्तर्गत 'शिव सहस्रनाम' कहा गया है और सौप्तिक पर्व में तो अश्वत्थामा की स्तुति पर रीझ कर भगवान् शंकर ने उनके शरीर में ही प्रवेश किया है। भगवान् श्रीकृष्ण का उपमन्यु से दीक्षा पाना और भगवान् शंकर के प्रीत्यर्थ तपस्या करना न केवल अनुशासन पर्व में ही वर्णित है अपितु प्रायः सभी वैष्णव और शैव पुराणों में यह कथा आयी है। पुनः लिङ्गपूजा की चर्चा भी प्रायः सभी पुराणों में है।

इस प्रकार लिङ्ग-पूजा के प्राग्वैदिक सिद्ध हो जाने पर और महाभारत काल में भी इसकी व्यापकता से यह बात अप्रामाणिक हो जाती है कि यह ईसवी सम्बत् के प्रारम्भ में बाह्य देशों से भारत में लाई गई थी। वस्तुतः तथ्य यही है कि लिङ्गपूजा भारत से अन्य देशों में गई है।

लिङ्ग-अर्चा की अतिप्राचीनता एवं वाङ्मय में उसकी व्यापकता बतलाने के बाद यहां उन धारणाओं के निराकरण का प्रयास किया जा रहा है जो शिव-लिङ्ग के विषय में भ्रान्तभावना उद्भावित करती हैं। प्रायः सभी धर्म एवं दर्शन के विद्वान् शिव-लिङ्ग को शिव जी का लिङ्ग Phallus समझते हैं। शिवलिङ्ग को शिव जी का लिङ्ग Phallus सिद्ध करने के निम्न कारण बतलाये जाते हैं।

(१) प्राचीन युग के मनुष्यों में लिङ्ग-पूजा 'Phallic worship' प्रचलित थी। द्राविण जाति भी लिङ्ग-पूजा 'Phallic worship' किया करती थी।

(२) ऋग्वेद के दो स्थलों पर (७-२१-५ एवं १०-९९-३) उल्लिखित 'शिश्नदेवाः' वाक्य की अनुचित व्याख्या।

(३) शब्दकोशों में लिङ्ग के माने लिङ्ग Phallus का दिया जाना।

(४) सामान्यतः लिङ्ग की भांति ही शिवलिङ्ग का निर्मित होना।

(५) शाक्ततन्त्रों में लिङ्गपूजा के विषय में बहुत से श्लोकों का उपलब्ध होना।

---

९. यत्र यत्र च याति स्म रावणो राक्षसेश्वरः।
जाम्बूनदमयं लिंगं तत्र तत्र स्म नीयते ॥
बालुकावेदिमध्ये तु तल्लिंगं स्थाप्य रावणः।
अर्चयामास गन्धैश्च पुष्पैश्चामृतगन्धिभिः ॥ ३१, ४२-४३ ।

यहां हम देखेंगे कि लिङ्ग की व्याख्या लिङ्ग 'Phallus' करना कहाँ तक न्याय-संगत है। सर्वप्रथम हम स्वीकृत तत्वों 'Data' का ही परीक्षण करते हैं, जिनके आधार पर सम्पूर्ण व्याख्या अवलम्बित है; उसके बाद ही हम 'प्रतीक' की विवेचना करेंगे। तथ्य यह है कि प्रथम दृष्टि में तो उक्त स्वीकृत तत्त्व सत्य से प्रतीत होते हैं। किन्तु जब हम उक्त तत्त्वों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करते हैं तो वे पूर्णतया असत्य प्रतीत होते हैं। फिर भी सामान्य विचारक को अनुचित मार्ग पर अग्रसर करने में वे पूर्णरूप से समर्थ हैं।

पूर्वप्रतिपादित लिङ्गपूजा की अति प्राचीनता एवं विश्वव्यापकता से यह बात सरलता से अप्रमाणित हो जाती है कि लिङ्गपूजा आदिम जातियों एवं द्रविणों में प्रचलित लिङ्ग Phallus पूजा का विकसित परिणाम है; क्योंकि तत्तद् देशों में वहाँ के तत्तद् देवों की उपासना लिङ्गाकार में ही हुआ करती थी। मोहंजो-दरों एवं हरप्पा की खुदाई से यह बात निःसन्दिग्ध रूप से प्रमाणित हो जाती है कि ईसवी संबत् से, कम से कम छः हजार वर्ष पूर्व वहां विश्व की सर्वाधिक सभ्य जाति निवास करती थी जिसकी अपनी उच्चकोटि की कला एवं लिपि थी। वे आज के मानव-समाज की ही भांति संघबद्ध एवं शासित थे। वहां शिवलिंग एवं वृषभ की मूर्ति साथ ही साथ मिली है। क्या हम आशा कर सकते हैं कि वे लिङ्ग Phallus की पूजा किया करते थे? ऐसा सोचना उनकी सभ्यता के साथ अन्याय होगा।

जब कि हम शिवलिङ्ग के स्वरूप के विषय में और उस दार्शनिक विचार-धारा के विषय में, जिस पर कि यह लिङ्ग आधृत है, निरपेक्ष भाव से विचार करते हैं तो यह तथ्य पूर्ण स्पष्ट हो जाता है कि कुछ आदिवासी लोगों में प्राचीन अथवा वर्तमान काल में प्रचलित लिङ्गपूजा Phallic worship द्रविणों में प्रचलित शिवलिङ्गम् की पूजा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती। यतः कुछ आदिवासी लोग लिङ्ग Phallus की पूजा करते थे, इसके माने यह नहीं होते कि द्रविण लोग भी उसी की पूजा किया करते थे। इस धारणा का मूल कारण यह है कि कुछ लोग समझते हैं कि आर्यों के भारत आक्रमण के पूर्व द्रविण लोग सभ्यताविहीन जंगली निवासी ही थे। यह सोचा जाता है कि लिङ्गपूजा आर्यों के द्वारा बाहर से लाई गई और सम्पूर्ण भारत में फैल गई। किन्तु मोहं-जो-दरों की खुदाई इस भ्रान्त धारणा को अप्रमाणित कर देती है।

दक्षिण शैव दर्शन के अवलोकन से परिलक्षित होने वाली द्राविणों की पूर्वगामी परम्परा इस तथ्य को भाषित कराता है कि वे लोग शिवलिङ्ग को

लिङ्ग Phallus के तुल्य समझने की तुच्छ धारणा नहीं रखते थे। वे शिव को संसार का उत्पादक, रक्षक एवं विनाशक समझते थे। वे उन्हें अलौकिक शक्ति से सम्पन्न मानते थे। ऐसी अवस्था में क्या यह संभव है कि वे ऐसी सत्ता को फल्लुस (शिश्न) से सम्बद्ध करते ? क्या यह संभव है कि वे उक्त श्रेष्ठता एवं महानता फल्लुस को प्रदान कर सकते थे ? यह बिलकुल असंभव है कि वे वैसा करते।

(२) ऋग्वेद के दो स्थलों में (७, २१, ५; १०, ६६, ३) आये हुये 'शिश्नदेवाः' शब्द से लिङ्गपूजा (Phallic worship) को प्रमाणित किया जाता है। कहा जाता है कि उस समय भी शिश्न की पूजा होती थी। किन्तु यह व्याख्या एकदम भ्रमात्मक है। निरुक्तकार आचार्य यास्क 'शिश्नदेवाः' का अर्थ 'अब्रह्मचर्याः' बतलाते हैं। यास्क की व्याख्या सर्वाधिक प्रामाणिक मानी जाती है। वे सर्वाधिक प्राचीन और अपेक्षाकृत ऋग्वेद के समीप भी पड़ते हैं। निरुक्त के व्याख्याकार 'दुर्गाचार्य' इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं - 'शिश्नेन प्रकीर्णाभिः पुंश्चलीभिः दीव्यन्ति क्रीडन्ति इति'। आचार्य सायण भी इसकी व्याख्या इसी प्रकार करते हैं :—'शिश्नेन दीव्यन्ति क्रीडन्ति इति।'

ऐसी तर्कसम्मत एवं बुद्धिमत्तापूर्ण व्याख्या के होते हुये भी प्रो० मैकडानल कहते हैं कि 'वैदिक काल में लैंगिक-सम्प्रदाय' 'Phallic Cult' जीवित था। 'शिश्नदेवाः' शब्द का अर्थ, उनके अनुसार, 'शिश्नपूजक' ही है[१०]। ऐसी पूजा ऋग्वेद को धार्मिक विचारधारा के प्रतिकूल थी, क्योंकि इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वे 'शिश्नदेवों' को यज्ञ के समीप न पहुँचने दें। (७, २१,५)। और उनसे 'शिश्नदेवों' के बध की भी प्रार्थना को गई है (१०,६६,३)। किन्तु मैकडानल साहब को यास्क की व्याख्या मानने पर भी उक्त दोनों सन्दर्भों के अर्थों में कोई विप्रतिपत्ति नहीं दीख पड़ती। म्यूर महाशय 'Muir' मैकडानल के विपरीत एवं यास्क की व्याख्या से कुछ मिलता जुलता ही अर्थ करते हैं। उनके अनुसार 'शिश्नदेवाः' का अर्थ स्त्रीलम्पट होना चाहिये[११]।

प्रोफेसर आफ्रेक्ट aufrecht का भी कहना है कि 'शिश्नदेवाः' शब्द बहुव्रीहि है अतः इसका अर्थ कामुक ही होना चाहिये। अन्त में एक लम्बे तर्क-वितर्क के बाद वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'वैदिक ऋषियों के समकालीन प्राचीन जाति में Phallic पूजा सिद्ध करना एक मनोरंजक बात है, किन्तु यह बात

---

१०. वैदिक माइथालाजो, पृ० १५५।

११. Muir's Sanskrit text, IV, p. 409.

अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी कि 'शिश्नदेवाः' यह वाक्य लिंगपूजा Phallic worship' के लिये साक्ष्य नहीं देता[१२]।'

किन्तु डा० भण्डारकर उक्त युक्ति-युक्त एवं बौद्धिक व्याख्या से सहमत नहीं होते। वे कहते हैं कि 'यहां पर वे लोग वैदिक आर्यों के शत्रु के रूप में उल्लिखित हैं, जिनके देव शिश्न Phallus थे। ये लोग धार्मिक कृत्यों में विघ्न डाला करते थे। वस्तुतः ये देश की अतिप्राचीन जाति के लोग थे[१३]।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'शिश्नदेवाः' शब्द केवल ऋग्वेद के दो स्तोत्रों में ही उपलब्ध होता है। यदि यह अनार्यों की लिंगपूजा होती तो आर्य लोग, जो प्रत्येक अवसर पर अपने शत्रु की भर्त्सना करते हैं, उनके लिंगपूजन की भर्त्सना करने में कभी भी न चूकते। उक्त दो स्थलों के अतिरिक्त वेद, ब्राह्मण और उपनिषद् साहित्य में कहीं भी फाल्लिक 'Phallic' पूजा का सन्दर्भ नहीं मिलता।

(३) शब्दकोश से ज्ञात होता है कि फाल्लिक 'Phallic' लिंग शब्द का एक माने है। किन्तु यह शब्द का प्रारम्भिक एवं प्रधान माने नहीं है, इसका विकास बाद में हुआ है। अमरकोश में पुरुष की जननेन्द्रिय के निम्न पर्याय दिये गये हैं:—

श्लोक—भगं योनिर्द्वयोः शिश्न मेढ्रं मेहनशेफसी।
मुष्कोऽण्डकोशो वृषणः पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्॥

अमरकोश के केवल नानार्थवर्ग में ही लिंग शेफस् का पर्याय दिया गया है (लिंगं चिह्नशेफसोः)। हलायुध अपनी अभिधानरत्नमाला में लिंग को शिश्न के पर्याय के रूप में नहीं उधृत करता—

श्लोक—भगो योनिरुपस्थश्च वराङ्गं स्मरमन्दिरम्।
शिश्नः शेफोथ मेढ्रश्च तुल्ये मेहनशेफसी॥ ११, ३५९।

कहीं-कहीं लिंग के माने साधन अथवा हेतु बतलाया गया है:—

श्लोक—अपकरणे करणे द्रविणे लिङ्गे च यातनायां च।
सेनाङ्गे संसिद्धौ साधनशब्द प्रयोगः स्यात्॥ वैजयन्ती ८६।

यादवप्रकाश की वैजयन्ती में सेफस् लिङ्ग का एक वैकल्पिक अर्थ है—

श्लोक—लिंगं शेफसि वेषेऽशे चिह्ने बुद्ध्यादिसंहितौ॥

---

१२. History and Philosophy of lingayat Religion—by M R. Sakhar, p. 311.

१३. Vasnavism and Shaivism, p. 163.

ये सभी प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि फाल्लिक लिंग शब्द का द्वितीय स्थानीय माने है, न कि प्राथमिक। लिंग का प्राथमिक माने है 'चिह्न'। बहुधा यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त भी हुआ है। किन्तु बाद में अर्थ-विकास के साथ इसका 'शिश्न' अर्थ भी होने लगा। अर्थविकास न केवल संस्कृतभाषा की विशिष्टता है अपितु ऐसा संसार की सभी भाषाओं में हुआ करता है।

उपनिषदों में लिंग शब्द बहुधा चिह्न के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है:—

(क) अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च। (कठ० ६-७)।

(ख न चेशिता नैव च तस्य लिंगम्। (श्वे० ६-९)।

(ग) महादाद्यं विशेषान्तं लिंगम्। (मै० ६, १०।)

(घ) पुरुषः अध्यवसायसंकल्पाभिधानलिंगः। (मै० ६, ३०)।

(ङ) स्वकैर्लिंगैरुपगृह्यः (मै, ६, ३१)। आदि आदि।

ऐसी अवस्था में यहाँ आश्चर्य यह होता है कि लोग शिव०लिंग का अर्थ फाल्लुस (Phallus) करते हैं न कि शिव का चिह्न अथवा उपलक्षक, जो कि पूर्वापेक्षा सरल है।

(४) गुडिमल्लम्, कलात्तूर और कुडुमिया मलाई के शिवलिंगों की विलक्षण बनावट ने यह भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है कि शिवलिङ्ग फाल्लुस (Phallus) ही है। किन्तु भारत के द्वादशज्योतिर्लिङ्गों एवं अन्य प्रमुख लिंगों की बनावट उक्त शिवलिंगों की भाँति न होकर एक अन्य प्रकार से ही है, जो लिंग (Phallus) से साम्य नहीं रखता। वस्तुतः उत्तर भारत में पाये जाने वाले शिवलिंगों से यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि लिंग फाल्लुस (Phallus) ही है।

(५) योनि-लिंग-पूजा विषयक तन्त्रों के बहुत से श्लोक और उनकी लिंग की लैंगिक (Sexual) व्याख्या उन अधम शाक्तों के कारण हुई जो शाक्त विश्वास के अनुसार प्रचलित श्रीचक्र और चक्र-पूजा के महत्त्व को न समझ सके और ये लोग ही अधम अभ्यास की ओर गिरे भी।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि तन्त्र में बहुधा ऐसे स्थलों में ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिनका स्थूल अर्थ तो अवश्य अश्लील होता है किन्तु उसका यथार्थ भाव निगूहित रहता है, जिसकी व्याख्या के लिये प्रकाण्ड वैदुष्य की आवश्यकता रहती है। अतः इसकी यथार्थ व्याख्या जान लेने पर यह भ्रम भी दूर हो जाता है।

श्रद्धेय स्वामी विवेकानन्द ने इस बात को निर्दिष्ट किया है कि लिङ्ग फाल्लुस 'Phallus' नहीं है। उनका कहना है कि शिव लिङ्ग की पूजा

यूपस्तम्भ की प्रशंसा में गाये गये अथर्ववेद संहिता में प्रसिद्ध लिङ्गम् से उत्पन्न हुई है। उस स्तोत्र में आदि-अन्त-रहित स्तम्भ का वर्णन मिलता है और वहां यह भी दिखलाया गया है कि उक्त स्तम्भ शाश्वतिक ब्रह्म के स्थान में गड़ा हुआ है। कालान्तर में यज्ञोय वह्नि, धूम, भस्म, लपटें, सोमलता, वृष, जिसकी पीठ पर लाद कर सोमलता लाई जाती थी, वैदिक यज्ञ के लिए प्रयुक्त किये गये शब्द ये सभी मिलकर शिव जी की शरीर को—उनके पीछे घुंघराले बाल, उनको कृष्ण ग्रीवा, उनके बाहन नन्दी (बृष) को—जन्म दिये हैं। यूपस्तम्भ ने ही शिव-लिङ्ग को जन्म दिया है। अथर्ववेद में यज्ञोय बृष ब्रह्मन् के विशेषणों से प्रशंसित किया गया है। शिवलिङ्ग को फल्लुस Phallus समझने की प्रक्रिया पराधीन भारत में प्रारम्भ हुई थी[१४]।

डा० ए० के० कुमारस्वामो का कहना है कि 'लिङ्ग, शिश्न का उपयुक्त उदाहरण नहीं है। संभवतः शिश्न लिङ्ग का मूल नहीं है। लिङ्ग 'स्तूप' से ग्रहण किया गया है और इस समय शिव का उच्चतम चिन्ह माना जाता है[१५]।

यदि लिङ्ग की सत्ता अथवा पूजा प्राग्वैदिक न मानी जाय तब तो श्रद्धेय स्वामी विवेकानन्द का मत पूर्ण सत्य प्रतीत होता है। शिवमहापुराण के अनुसार इस भूतल पर जो शिवलिङ्ग सर्वप्रथम आविर्भूत हुआ था वह आदि-अन्त-विहीन था[१६]। उसे भी स्तम्भ ही कहा गया है[१७]। उसी समय से सुर, असुर, ऋषि, नर, नाग, नारी सब ने लिङ्ग प्रतिष्ठा एवं लिङ्ग में शिव की पूजा प्रारम्भ की है[१८]। सर्वप्रथम आविर्भूत होने वाला उक्त शिव लिङ्ग ज्वालामालासे आवृत बतलाया गया[१९] है। यह कथा शिवमहापुराण में समान

१४. सिद्धान्तदीपिका, १०–२१।

१५. आमिष आफ इण्डियन आर्ट, कैम्पडन, १९०८।

१६. क्षयवृद्धिविनिर्मुक्तमादिमध्यान्तवर्जितम्। शिव० २, १, ७, ४८ और ७, २, ३४, ३४ में समानरूप से उपलब्ध।

१७. अधो गमिष्याम्यनलस्तम्भस्याऽनुपमस्य च ॥ वही, २, १, ७, ५१।
निष्कलस्तम्भरूपेण स्वरूपं समदर्शयत् ॥ वही, १, ५, २८।
स्तम्भान्तो वीक्षितो धात्रा तत्र साक्ष्यमहमच्युत ॥ वही, १, ७, २५।

१८. ततः प्रभृति शक्राद्याः सर्व एव सुरासुराः।
ऋषयश्च नरा नागा नार्यश्चापि विधानतः।
लिंगप्रतिष्ठां कुर्वन्ति लिंगे तं पूजयन्ति च ॥ वही, ७, २, ३५, ८५।
तदा प्रभृति लोकेऽस्मिंल्लिगपूजाविधिः स्मृतः। वही, २, १, १०, ३३।

१९. ज्वालामालासहस्राढ्यमप्रमेयमनौपमम् ॥ वही, ७, २, ३४, ३३।

रूप से दो स्थलों (२, १, ७ और ७, २, ३४) पर उल्लिखित है। स्पष्ट ही यह कथा-स्थल स्वामी जी के द्वारा निर्दिष्ट अथर्ववेद संहिता के उक्त स्थल के आधार पर ही वर्णित है। शिवमहापुराण एवं अथर्वसंहिता के कथास्थल के साम्य को देखते हुये यह निश्चय होता है कि लिङ्ग-पूजा का आधार उक्त-वैदिक स्तम्भ-स्तुति एवं पूजन ही है।

किन्तु लिङ्ग-पूजा एवं लिङ्ग-सत्ता के प्राग्वैदिक सिद्ध हो जाने पर पूज्य स्वामी जी का उक्त तर्क सन्तोषजनक समाधान नहीं उपस्थित करता। ऐसी अवस्था में लिङ्ग-पूजा एवं लिङ्ग-निर्माण के मूल का पता लगाने के लिये किसी अन्य तथ्यात्मक समाधान को खोजने की आवश्यकता है, जो, वस्तुतः सन्तोषप्रद समाधान उपस्थित कर सके।

सम्पूर्ण संसार में, जबकि सभ्यता का विकास नहीं हुआ था, प्राणी आरण्यक दशा में अपना जीवन बिताते थे। अपनी उस दशा में उन्हें दुर्गम जंगलों, पहाड़ों एवं भीषण नदियों तथा मानुषाद हिंस्र जीवों से निरन्तर सामना करना पड़ता था। ऐसी अवस्था में उनके मन में भय एवं आश्चर्य आदि का आविर्भाव स्वाभाविक ही था। अपनी विवशावस्था में अन्य किसी का सहारा न प्राप्त कर किसी अज्ञात सत्ता की ओर प्रकृत्या उनका मन खिंच जाता था। किन्तु अभी उस समय तक उन लोगों के पास उस कल्पनाशक्ति का अभाव था जिसके सहारे अप्रत्यक्ष सत्ता के विषय में चिन्तन अथवा विचार किया जाता था। फलतः वे उसी के समक्ष ईश्वर-भाव से मस्तक झुकाने लगे जहां कि वे रहते थे, जिस पर चढ़ कर अपनी जान हिंस्र जन्तुओं से बचाते थे, जिसे फेंक कर उन्हें मारते एव भगाते थे। पर्वतपूजा, एवं शिलापूजा (जो बाद में शिव-लिङ्ग-पूजा के रूप में मान्य हुई) इसी के परिणाम हैं। उस समय उन लोगों के पास वह शक्ति न थी, जो अपनी चिन्तित देवता को आकृति प्रदान करती क्योंकि मूर्तिकला अथवा किसी भी प्रकार की कला का उस समय पूर्ण अभाव था। सम्पूर्ण संसार में लिङ्गपूजा का यही मूल कारण है। शनैः शनैः उस प्रस्तर-खण्ड ने वर्तमान शिवलिङ्ग का रूप धारण कर लिया है। इसी लिङ्ग को परम चतुर शैवों ने शिव के ब्रह्मत्व (निराकारत्व) का बोधक माना है। उनका कहना है कि लिङ्ग एवं वेर (मूर्ति) में पूजित होने के कारण शिव निर्गुण एवं सगुण दोनों ही हैं और एकमात्र मूर्ति में ही पूजित होने वाले विष्णु आदि देव केवल सगुण ही हैं।

किन्तु धीरे-धीरे जब लोगों के मानसिक स्तर एवं उनकी कल्पना शक्ति का विकास हुआ और उन लोगों ने ऐश्वर्य-सत्ता के विषय में चिन्तन प्रारम्भ किया तो लिङ्ग पूजा गौड हो गयी। यह, ईश्वर की विशुद्ध चिन्तन-धारा

तक पहुँचने के लिए एकमात्र उन लोगों को ही सहारा रह गई जिनका कि मानसिक स्तर परिपक्व न था। कर्मयज्ञ में रत रहने वाले लोग ही स्थूल लिङ्ग का अर्चन करते थे। उस समय लिङ्ग दो प्रकार का माना जाने लगा–पहला स्थूल (काष्ठ, मृत्तिका एवं प्रस्तर का) दूसरा आध्यात्मिक। जो लोग आध्यात्मिक लिङ्ग (शिवलिङ्ग) का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते थे वे ही स्थूल लिङ्ग का आश्रयण लिया करते थे। ज्ञानीजन अपने भाव के द्वारा सूक्ष्म, अमल लिङ्ग का ध्यान करते थे :—

श्लोक—लिंगं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं द्विजाः।
बाह्यं स्थूलं समुद्दिष्टं सूक्ष्ममाभ्यन्तरं मतम्॥
कर्मयज्ञरता ये च स्थूललिंगार्चने रताः।
असतां भावनार्थाय सूक्ष्मेण स्थूलविग्रहाः॥
आध्यात्मिकं तु यल्लिगं प्रत्यक्षं यस्य नो भवेत्।
स तल्लिगे तथा स्थूले कल्पयेच्च न चान्यथा॥
ज्ञानिनां सूक्ष्ममलं भावात् प्रत्यक्षमव्ययम्। शिव० २,१,१२,५१-५४

शिवमहापुराण के उक्त सन्दर्भ, जिसमें बाह्य एवं आध्यात्मिक लिंगों की चर्चा आई है, इस बात का भी साक्ष्य देता है कि शिवलिंग, फाल्लुस Phallus न होकर शिवबोधक 'चिह्न' ही है। प्रारम्भ में जो शिलाखण्ड देवता का एकमात्र उपलक्षक था, चिह्न था, कालान्तर में समय की गति के साथ शिवलिंग का रूप धारण कर शिव की निराकारता का बोधक बना। इसके अतिरिक्त शिवमहापुराण में इस बात का भी संकेत किया गया है कि शिवलिंग शिवबोधक चिह्न ही है : —

श्लोक : ततः स्वलिंगचिह्नत्वात्स्तम्भतो निष्कलं शिवः।
स्वलिंगं दर्शयामास जगतां हितकाम्यया॥ शिव० १, ५, २९।

यद्यपि शिव महापुराण में ऐसा स्थल दुर्लभ नहीं जहां पर कि शिवलिंग को लिंग Phallus लक्षण से युक्त बतलाया गया है[२०]। किन्तु स्पष्ट ही ऐसा स्थल प्रक्षिप्त है, जिसे किसी शैवम्मन्य विद्वान् ने बाद में जोड़ दिया है, क्योंकि उक्त श्लोक से तत्काल बादवाले श्लोक में कहा गया है कि:- 'शिवलिंग मदात्मक (शिवात्मक) है और यह मेरे सान्निध्य का कारण है। लिंग (चिह्न) एवं लिंगी (यहाँ शिव) में नित्य ही अभेद होने के कारण यह लिंग बड़े लोगों के लिये पूज्य है'[२१]। यहां पर लिंग एवं लिंगी शब्द से जिस

२०. लिंगलक्षणयुक्तस्तन्ममलिङ्गं भवेदिदम्। शिव० १, ९, ४२।
२१. मदात्मकमिदं नित्यं मम सान्निध्यकारणम्।
महत्पूज्यमिदं नित्यमभेदाल्लिङ्गलिङ्गिनोः॥ वही० १, ९, ४३।

भाव एवं अर्थ की अभिव्यक्ति हो रही है वह पूर्व श्लोक के अर्थ से पूर्ण भिन्न है। उत्तर श्लोक का भाव शिव महापुराण में कतिपय स्थलों में आवृत्त हुआ है। ऐसी अवस्था में स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि पूर्व श्लोक प्रक्षिप्त एवं बाद का है। अतः शिवलिंग का अर्थ शिवज्ञापक चिह्न ही करना अधिक युक्ति-युक्त है।

लिङ्ग

लिंगार्चन एवं उसके अर्थ तथा विकास को दिखलाने के अनन्तर यह आवश्यक प्रतीत होता है कि भारतवर्ष के कुछ अतिप्राचीन शिवलिंगों की चर्चा की जाय। ये शिवलिंग प्राचीन काल से आजतक जनता की श्रद्धा और भक्ति के केन्द्र बने हुये हैं। भारतीय जनता इनका दर्शन कर अपने ऐहिक-कल्याण के साथ ही पारलौकिक विभूति की कामना करती है। इस प्रकार के शिवलिंगों में द्वादश ज्योतिर्लिंगों का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। भारत की विभिन्न दिशाओं में स्थित ये ज्योतिर्लिङ्ग आध्यात्मिक प्रेरणा के साथ ही इस देश की एकता एवं अखण्डता के भी प्रतिपादक रहे हैं। आज भी श्रद्धालु जनता इनका दर्शन कर अपने को कृतकृत्य मानती है।

यद्यपि भूतल पर जितने भी शिवलिङ्ग हैं, उनकी गणना नहीं की जा सकती और नहीं शिवपुराण में वर्णित लिंगों की समग्र सूची यहाँ एक साथ उपस्थित की जा सकती है, तथापि द्वादश ज्योतिर्लिंगों एवं काशी के कुछ अति प्रसिद्ध लिंगों तथा अन्य भी कुछ लिंगों का वर्णन एवं विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है:—

द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग

(१) सोमनाथ॥

भगवान् शंकर का यह अवतार सौराष्ट्र के प्रभास नामक क्षेत्र में हुआ था[२२]। शिवमहापुराण के अनुसार प्रजापति दक्ष ने अपनी सत्ताइस सुलोचनी, अश्विनी आदि कन्याओं का विवाह चन्द्रमा के साथ कर दिया था, किन्तु चन्द्रमा का सर्वाधिक प्रेमपात्र थी सुन्दरी रोहिणी। रोहिणी के बिना चन्द्रमा का जीना भी कठिन था। उसके प्रेमपाश में आबद्ध चन्द्र अन्य स्त्रियों का कुछ भी ध्यान न रखते थे। फलतः वे बहुत दुःखी हुईं और अपने पिता दक्ष से भी इसके विषय में कहा। दक्ष ने प्रथमबार चन्द्र को सम्पूर्ण स्त्रियों के साथ समान व्यवहार करने के लिये सुझाव दिया, किन्तु जब चन्द्र ने उस

२२. सौराष्ट्रे सौमनाथश्च............। शिव० ३, ४२, २।

पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया तब उन्होंने उसे क्षयी होने का शाप दिया[२३]। शाप को सुनकर चन्द्र के द्वारा विज्ञापित सम्पूर्ण देव ब्रह्मा जी के समीप जाकर उसका सम्पूर्ण कष्ट कह सुनाये। तदनन्तर ब्रह्मा जी ने कहा कि यह चन्द्रमा सम्पूर्ण देवों के साथ प्रभास क्षेत्र में जाय और वहां भगवान् ईश की मूर्ति स्थापित कर, मृत्युंजय विधान से, उनकी आराधना करते हुये वहीं तपस्या करे। पुनः प्रसन्न हुये शिव जी चन्द्र को अक्षय बना देंगे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी उपाय नहीं है।

ब्रह्मा के आदेश को शिरोधार्य कर सम्पूर्ण देवता चन्द्र को लेकर प्रभास क्षेत्र गये और वहां सरस्वती आदि नदियों का आवाहन करके, मृत्युंजय विधान से, शिव की पूजा कर, चन्द्र को वहीं तपस्या के लिये छोड़कर, अपने अपने लोक को चले गये। निरन्तर छः मास चन्द्रमा की आराधना से प्रसन्न हुये भगवान् शंकर एक दिन उनके सामने प्रकट होकर कहने लगे—'मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूं। वर मांगो।' 'हे देव! मेरे शरीर का क्षय वारित करो', ऐसा चन्द्रमा के कहने पर भगवान् शंकर ने कहा—'एक पक्ष में प्रतिदिन तुम्हारी एक कला क्षीण होगी और दूसरे पक्ष में वह उसी क्रम से बढ़ा करेगी।'[२४]

भगवान् शंकर जी के द्वारा चन्द्र को वर देने की बात ज्ञात कर संपूर्ण देवगण प्रभास क्षेत्र में जाकर चन्द्रमा को आशीष प्रदान किये और भगवान् शंकर से प्रार्थना किये कि 'आप उमा के सहित यहीं स्थित हो जायं।' देवों के ऊपर प्रसन्न हुये ईश क्षेत्र के माहात्म्य और चन्द्र के यश के लिये 'सोमनाथ' के नाम से वहीं स्थिर हो गये[२५]।

सोमनाथ के पूजन से क्षय, कुष्ठ, आदि रोगों का विनाश हो जाता है। वहीं पर सम्पूर्ण देवों के द्वारा प्रतिष्ठापित एक सोमकुण्ड (चन्द्रकुण्ड) भी है। उसे सम्पूर्ण पापों का नाशक बतलाया गया है। बुद्धिमान् पुरुष उसमें स्नान कर सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाते हैं।

---

२३. श्रूयतां चन्द्र यत्पूर्वं प्रार्थितो बहुधा मया।
न मानितं त्वया यस्मात्तस्मात्त्वं च क्षयी भव ॥ शिव० ४, १४, १८।

२४. पक्षे च क्षीयतां चन्द्र कला ते च दिने दिने।
पुनश्च वर्द्धतां पक्षे सा कला च निरन्तरम् ॥ वही, ४, १४, ४५।

२५. प्रसन्नश्च स देवानां क्षेत्रमाहात्म्यहेतवे।
चन्द्रस्य यशसे तत्र नाम्ना चन्द्रस्य शंकरः ॥ वही, ४, १४, ५०।
सोमेश्वरश्च नाम्नासीद्विख्यातो भुवनत्रये। वही, ४, १४, ५१।

प्रत्येक ज्योतिर्लिङ्ग का एक एक उपलिङ्ग भी है। पृथिवी और सागर के संयोग में 'अन्तकेश' नाम वाला सोमेश्वर का उपलिंग है।[२६] ज्योतिर्लिङ्गों में सोमनाथ प्रथम कहे गये हैं।[२७]

(२) मल्लिकार्जुन

द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में भगवान् शंकर का द्वितीय ज्योतिर्लिङ्ग मल्लिकार्जुन के नाम से विख्यात है। यह अवतार श्रीशैल में हुआ था।[२८] एक समय गणेश और स्कन्द में विवाद हुआ कि किसका विवाह पहले हो। दोनों ही सर्व प्रथम अपना ही विवाह कराना चाहते थे। इसलिए भगवान् शंकर ने निर्णय दिया कि 'जो सर्वप्रथम पृथिवी की परिक्रमा करके आयेगा उसी का विवाह पहले किया जायगा।'[२९] महाबली स्कन्द तो पृथिवी की परिक्रमा करने निकल पड़े, किन्तु गणेश के सामने समस्या थी – पृथिवी की परिक्रमा कैसे की जाय? यह कार्य उनके सामर्थ्य से बाहर था। अतः उन्होंने सोच-विचार कर शिव पार्वती की पूजाकर उन्हीं की परिक्रमा की और उसी से अपने को पृथिवी की परिक्रमा करने के फल का भागीदार बतलाया।[३०] उनके तर्कों को यथार्थ मानते हुए शंकर-पार्वती ने उनका विवाह कर दिया।

जिस समय पार्वतीपुत्र, तारकारि, महाबली स्वामिकार्तिकेय सम्पूर्ण पृथिवी की परिक्रमा समाप्त कर कैलास को लौटे उस समय, सर्वप्रथम महर्षि नारद जी ने कुमार की बुद्धि को भ्रमित कराते हुये गणेश के विवाहादि सम्पूर्ण वृत्तान्त को कह सुनाया। इस पर जननी एवं जनक के निवारण करने पर भी वे कैलास का परित्याग कर क्रौंच पर्वत पर चले गये।

जब देवों एवं ऋषियों के समझाने पर भी कुमार कैलास को न लौटे तब दुःखी एवं दीन के समान लोकाचार करने वाले पार्वती एवं शिव पुत्र-स्नेह के वशीभूत होकर स्वयं क्रौंच पर्वत को गये। जब कुमार ने अपने जननी-जनक को समीप आया जाना तब वे अप्रसन्नतापूर्वक क्रौंच पर्वत से तीन योजन दूर

---

२६. सोमेश्वरस्य यल्लिंगमन्तकेशमुदाहृतम्।
मह्याः सागरसंयोगे तल्लिंगमुपलिंगकम्॥ शिव० ४, १, ३५।

२७. सोमनाथश्च तेषां वै प्रथमः परिकीर्तितः।...॥ वही, ४, १४, ४।

२८. श्रीशैले मल्लिकार्जुनः ... ...। वही, ४, ४२, २।

२९. यश्चैव पृथिवीं सर्वां क्रान्त्वा पूर्वमुपाव्रजेत्।
तस्यैव प्रथमं कार्यो विवाहः शुभलक्षणः॥ वही, २, ४, १९, १८।

३०. पित्रोश्च पूजनं कृत्वा प्रक्रान्तिं च करोति यः।
तस्य वै पृथिवीजन्यं फलं भवति निश्चितम्॥ वही, २, ४, १९, ३९

चले गये। अपने पुत्र कुमार को दूर चला गया जानकर वे दोनों ज्योतिःस्वरूप का आश्रयण कर वहीं पर स्थित हो गये।[31]

शिव महापुराण के अनुसार पुत्र के स्नेह से वशीभूत भगवान् शंकर एवं पार्वती क्रमशः अमावास्या एवं पूर्णिमा के दिन उनको देखने के लिए जाया करते हैं। जिस समय से भगवान् शंकर वहाँ निवास करने लगे उसी समय से यह मल्लिकार्जुन से उत्पन्न हुआ शिव जी का ज्योतिर्लिङ्ग त्रिलोकी में विख्यात हुआ है।[32] उसमें पार्वती एवं शिव दोनों की ज्योतियाँ प्रतिष्ठित हैं। 'मल्लिका' का अर्थ पार्वती है और 'अर्जुन' शब्द शिव का वाचक है। इस लिङ्ग के दर्शन से सम्पूर्ण पाप विनष्ट हो जाते हैं और समग्र मनोरथों की सिद्धि भी होती है।

भृगुकक्ष में मल्लिकार्जुन से उत्पन्न हुआ, सुखप्रद, रुद्रेश्वर नामक उपलिङ्ग वर्तमान है[33]।

उपर्युक्त कथा से इस शंका का समाधान बड़ी ही उपयुक्त रीति से हो जाता है कि गणेश की ही भांति शिव-पार्वती से सम्बद्ध होने के बाद भी गणेश की ही तरह लोक में स्कन्द की महत्ता क्यों नहीं स्वीकृत हुई। पुराण इस बात के साक्षी हैं कि देवमण्डल का जो उपकार कार्तिकेय ने राक्षसों का बध एवं देवसेना का नेतृत्व करके किया है वह गणेश कभी भी नहीं कर सके हैं। प्रारम्भ में गणेश उपकारक के स्थान में अपकारक ही बतलाये गये हैं। स्कन्द की उत्पत्ति के लिये देवमण्डल को जो प्रयास (शिव-पार्वती का विवाह करना आदि) करना पड़ा है, जो कष्ट सहना पड़ा है, वह सब अपूर्व ही है। इतना होने पर भी गणेश की क्यों लोकप्रियता, लोकप्रसिद्धि बढ़ी और देव-पक्षपाती कार्तिकेय को वह मान्यता लोक में क्यों न प्राप्त हो सकी? गणेश की पूजा, उनकी स्थापना प्रत्येक मन्दिर में, प्रत्येक पर्व एवं धार्मिक कृत्य में होती है, किन्तु स्कन्द को मूर्ति एवं उनकी पूजा का प्रचलन लोक में बहुत ही कम उपलब्ध होता है। इसका कारण है कार्तिकेय का शिव-पार्वती से अलग हो जाना, दूर चला जाना। कार्तिकेय एवं गणेश को जो लोकप्रियता प्रारम्भ में मिली

---

३१. क्रौंचे च पर्वते दूरं गते तस्मिन् स्वपुत्रके।
तौ च तत्र समासीनौ ज्योतीरूपं समाश्रितौ ॥ शिव० ४, १५, १६।

३२. तद्दिनं हि समारभ्य मल्लिकार्जुनसंभवम्।
लिंग चैव शिवस्यैकं प्रसिद्धं भुवनत्रये ॥ वही, ४, १५, १९।

३३. मल्लिकार्जुनसम्भूतमुपलिंगमुदाहृतम्।
रुद्रेश्वरमिति ख्यातं भृगुकक्षे सुखावहम् ॥ वही, ४, १, ३६।

उसका कारण था इन दोनों का शिव-पार्वती से संयुक्त होना। किन्तु कालान्तर में गणेश का सम्बन्ध तो शिव-पार्वती से अवश्य बना रहा, परन्तु स्कन्द ने उनसे अपना सम्बन्ध भंग कर दिया। अतः लोक में प्राप्त भी उनकी जनप्रियता शनैः शनैः विनष्ट हो गई, क्योंकि उस समय कोई भी देव एवं सम्प्रदाय शिव तथा विष्णु का विरोध करके चिरस्थायी नहीं रह सकता था। फलतः कार्तिकेय की उपासना लोक से उठ ही गई। स्कन्द की पूजा का यह लोप उत्तर से प्रारम्भ हुआ था, क्योंकि स्कन्द के रुष्ट होकर कैलास से श्रीशैल[३४] जाने की बात पुराण में बतलाई गई है।

(३) महाकाल

भगवान् शंकर का अति प्रसिद्ध महाकाल नामक अवतार उज्जयिनी नगरी में हुआ था[३५]। इस ज्योतिर्लिङ्ग के प्रादुर्भाव की कथा, शिवमहापुराण में इस प्रकार है—

उज्जयिनी नगरी में वेदप्रिय नामक एक ब्राह्मण रहते थे। वे सदाचारप्रिय एवं भगवान् शंकर के अनन्य भक्त थे। शंकर की पार्थिवमूर्ति बनाकर उसकी पूजा करना उनका दैनन्दिन कार्य था। उनके देवप्रिय, मेधाप्रिय, सुकृत और धर्मवाही, ये चार धर्मात्मा पुत्र थे। पिता की ही भांति वे लोग भी भगवान् शंकर के अनन्य भक्त थे। शिव की आराधना ही उनका प्रधान कार्य था। उनके पुण्य-प्रताप से पृथिवी में चारों ओर कल्याण की वृद्धि होने लगी। अपने सद्गुणों के लिए वे प्रसिद्ध थे।

उसी समय 'रत्नमाल' नामक पर्वत पर दूषण नामक एक दैत्यराज निवास करता था। पृथिवी पर से धर्म का समूलोन्मूलन ही उसका प्रधान उद्देश्य था। देव उससे पराजित थे। तीर्थ तीर्थ भ्रमण कर उसने धर्म को वहां से दूर कर दिया था। अभी तक 'अवन्ती नगरी' (उज्जयिनी) ही उसके अत्याचार से बची थी अतः अबकी बार उसने उसे भी विनष्ट करने के विचार से जाकर घेर लिया। लोगों को, उसने विविध यातनायें भी देनी प्रारम्भ की।

---

३४. श्री मल्लिकार्जुन नामक ज्योतिर्लिंग जिस पर्वत पर विराजमान है, उसका नाम श्रीशैल अथवा श्रीपर्वत है। यह स्थान मद्रास प्रान्त के कृष्णा जिले में कृष्णा नदी के तट पर है। इसे दक्षिण का कैलास कहते हैं।

३५. उज्जयिन्यां महाकालः………………॥ शिव० ३, ४२, ३।
महाकाल का वर्णन महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' एवं महाकवि 'बाण' की कादम्बरी में बड़े ही मनोहर ढंग से किया गया है।

उन दैत्यों से संत्रस्त जनों ने जब जाकर देवप्रियादि ब्राह्मणों से उनके अत्याचार की कथा कही तब वे लोग भगवान् शिव के प्रभावादि को कहकर धैर्यावलम्बन कराकर ध्यान परायण हो शंकर की पार्थिव समर्चा में तल्लीन हो गये।

जब दूषण ने ध्यानमग्न उन ब्राह्मणों को देखा तो 'मारो, मारो' कहकर अपने सेनानियों को ललकारा। किन्तु फिर भी ध्यानपरायण वे विप्र उस पर कुछ भी ध्यान न दिये और न भयभीत ही हुये। यह देखकर क्रुद्ध हुआ वह दुष्टात्मा जब उन ब्राह्मणों का बध करने के लिये आगे बढ़ा तभी पार्थिव के स्थान में बड़े शब्द के साथ एक गर्त हो गया। उसी गर्त से तत्काल विकटरूपधारी, दुष्टहन्ता, आगे 'महाकाल' नाम से विख्यात होने वाले, 'तुम जैसे दुष्टों का महाकाल मैं प्रादुर्भूत हुआ हूं' ऐसा दूषण से कहते हुये, भगवान् शंकर प्रादुर्भूत हुये[३६]। उन्होंने अपने हुङ्कारसे ही ससैन्य दूषण का बध कर डाला।

तदनन्तर स्तुति से प्रसन्न हुये भगवान् शंकर से उन ब्राह्मणों ने अपनी मुक्तियाचना पूर्वक, लोकरक्षार्थं, वहीं स्थित होने को प्रार्थना की[३७]। उनकी प्रार्थना को स्वीकार करते हुये उसी गर्त में ही, महाकाल नाम से, भगवान् शंकर स्थित हो गये। उनके दर्शन से सम्पूर्ण दुःख विनष्ट हो जाते हैं और मोक्ष की भी प्राप्ति होती है।

नर्मदा नदी के किनारे महाकाल नामक ज्योतिर्लिङ्ग से सम्भूत, सम्पूर्ण पापों का हरण करने वाला, 'दुग्धेश' नामक उपलिंग है[३८]।

वस्तुतः महाकाल की कथा से एक आध्यात्मिक तथ्य की ओर संकेत किया गया है। यह कथा मूर्त जगत् से अमूर्त जगत् की ओर भी ध्यान आकृष्ट करती है। यह अकाट्य तथ्य है कि 'वेदप्रिय' (वेदाध्यायी) व्यक्ति 'शिव' (कल्याण एवं देव) की उपासना करता ही है और 'वेदप्रिय' तथा 'शिव' के संयोग के अनन्तर वेदप्रिय से 'देवप्रिय' (देवों का प्रिय), 'मेधाप्रिय' (बुद्धि के प्रिय अर्थात् बुद्धि के अधिष्ठातृ देव), 'सुकृत' (धर्म) एवं 'धर्मवाही' (धर्म का वहन करने वाला देव-धर्मराज) का प्रादुर्भाव अर्थात् संयोग होना निश्चित ही

३६. अथ यावत्स दुष्टात्मा हन्तुमैच्छद् द्विजांश्च तान्।
तावच्च पार्थिवस्थाने गर्तं आसीत् सशब्दकः॥ शिव० ४, १६, ३६।
गर्त्तात्तत: समुत्पन्नः शिवो विकटरूपधृक्...॥ वही, ४, १६, ३७।

३७. ......मुक्तिं प्रयच्छ नः शम्भो संसाराम्बुधितः शिव। वही, ४, १६, ४६।
अत्रैव लोकरक्षार्थं स्थातव्यं हि त्वया शिव।......॥ वही, ४, १६, ४७।

३८. महाकालभवं लिंगं दुग्धेशमिति विश्रुतम्।
नर्मदायां प्रसिद्धं तत्सर्वपापहरं स्मृतम्॥ वही, ४, १, ३७।

है। और इन सबके संयुक्त होने पर 'दूषण' (दोष एवं राक्षस) का हुंकार मात्र से विनष्ट होना स्वाभाविक भी है। उक्त संयोग 'दूषण' के लिये अवश्य ही 'महाकाल' का काम करता है।

(४) अमरेश्वर ओंकारेश्वर)

भगवान् शंकर का यह अवतार ओंकार नामक स्थान में हुआ था[३९]। शिवमहापुराण के अनुसार एक समय महर्षि नारद 'गोकर्ण' नामक शिव (गोकर्ण नामक स्थान में स्थित भगवान् शिव) की आराधना करके भ्रमण करते हुये 'नगेश विन्ध्य' के यहाँ पहुँचे। उसने इनकी महती शुश्रूषा की। किन्तु प्राणियों के मान को भंग करने वाले मुनि नारद से जब विन्ध्य ने उनके उच्छ्‌वास का कारण पूछा तब उन्होंने उत्तर दिया—'यद्यपि तुम्हारे समीप सभी वस्तुएं हैं फिर भी मेरु उच्चतर है, क्योंकि उसका देवों में विभाग (स्थान) है, तुम्हारा नहीं[४०]।

महर्षि नारद के चले जाने पर सन्तप्त हुए विन्ध्य ने भगवान् शंकर की आराधना कर श्रेष्ठता प्राप्त करने का निश्चय किया। उसने, जहां भगवान् स्वयं ओंकार स्थित थे वहां जाकर शिव की पार्थिव मूर्ति निर्मित कर छः महीने तक निश्चल होकर उन का ध्यान करते हुये तप किया[४१]।

उसकी तपस्या से प्रसन्न हुये भगवान् शंकर ने अपना दुर्लभ दर्शन देते हुये 'जो कुछ चाहोगे वह कर सकोगे' ऐसा वरदान दिया। उसी समय वहां आये हुये देवों एवं ऋषियों की प्रार्थना से भगवान् शंकर वहीं पर स्थित हो गये। किन्तु उसके साथ ही साथ एक और बात हुई कि जो भगवान् शकर का ओंकार लिङ्ग था वह द्विधा हो गया। वे सदाशिव एक भाग से प्रणव में निवास करने लगे। इसी से प्रणव ओंकार भी कहा जाता है[४२]। और दूसरा जो भाग पार्थिव मूर्ति में समाविष्ट हुआ वह परमेश्वर (अमरेश्वर) नाम से विख्यात हुआ[४३]।

---

३९. ………………ओंकारे परमेश्वरम् ।। शिव० ४, १, २१।

४०. विद्यते त्वयि सर्वं हि मेरुरुच्चतरः पुनः।
देवेष्वपि विभागोऽस्य न तवास्ति कदाचन ।। वही, ४, १८, ६।

४१. आराध्य च तदा शम्भुं षण्मासं स निरन्तरम्।
न चचाल तपस्थानाच्छिवध्यानपरायणः ।। वही, ४, १८, १३।

४२. ओंकारं चैव यल्लिङ्गमेकं तच्च द्विधा गतम्।
प्रणवे चैव ओंकारनामासीद् स सदाशिवः ।। वही, ४, १८, २२।

४३. पार्थिवे चैव यज्जातं तदासीत्परमेश्वरः। वही, ४, १८, २३।

ओंकार से उत्पन्न हुआ 'कर्मदेश' नामक उपलिङ्ग 'विन्दुसरोवर' में स्थित है। यह सम्पूर्ण कामनाओं का दाता कहा गया है[४४]। ओंकारेश्वर की उपासना से सम्पूर्ण अभीष्ट की सिद्धि बतलाई गई है[४५]।

केदारेश्वर

हिमालय पर्वत के एक भाग केदार पर्वत पर केदारनाथ महादेव का ज्योतिर्लिङ्ग[४६] है। शिवमहापुराण में कथा आती है कि भगवान् विष्णु के अवतार नर, नारायण ने एक समय वदरिकाश्रम में तप किया। अपने तपस्याकाल में उन लोगों ने भगवान् शंकर से प्रार्थना की कि वे आकर उनके द्वारा पूजित पार्थिव लिङ्ग में नित्य निवास किया करें और इस प्रकार उनके द्वारा की गई पूजा को भी ग्रहण किया करें। भगवान् शंकर जी भी भक्तवश्यता प्रदर्शित करते हुये वैसा ही करते थे। इस प्रकार शिव का पूजन करते हुए धर्मपुत्र, विष्णु के अवतार नर-नारायण को बहुत समय बीत गया। एक समय प्रसन्न हुए भगवान् शंकर ने उन लोगों से वर मांगने को कहा। इस बात को सुनकर लोक की कल्याण कामना से नर-नारायण ने कहा 'यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और हमें इच्छित वर देना चाहते हैं तो आप स्वयं पूजा के निमित्त, अपने रूप से यहां निवास करें[४७]।

उनकी उक्त प्रार्थना को सुनकर हिमालय के 'केदार' नामक स्थान में स्वयं भगवान् शंकर जी ज्योतीरूप हो स्थित हो गये। मानव वहां नर-नारायण एवं केदारेश्वर का दर्शन कर मुक्ति का भागी बनता है। जो भक्त केदारेश्वर महादेव के मार्ग में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, निःसन्देह वे भी मुक्त हो जाते हैं। जो व्यक्ति वहां पूजन कर जलपान करता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

---

४४. ओंकारजं च यल्लिगं कर्मदेशमिति श्रुतम् ।
प्रसिद्धं विन्दुसरसि सर्वकामफलप्रदम् ।। शिव० ४, १, ३८ ।

४५. ओंकारेश्वर का स्थान मध्यप्रदेश (पहले के मालवा प्रान्त) में नर्मदा नदी के तट पर है। उज्जैन से खंडवा जाने वाली रेलवे की छोटी लाइन पर मोरटक्का नामक स्टेशन है। वहां से यह स्थान ७ मील दूर है। यहां ओंकारेश्वर और अमरेश्वर नामक दो पृथक् पृथक् लिङ्ग हैं। परंतु दोनों एक ही ज्योतिर्लिङ्ग के दो स्वरूप माने गये हैं।

४६. ……………केदारो हिमवत्पृष्ठे ……………।।शिव० ३, ४२, ३ ।

४७. यदि प्रसन्नो देवेश यदि देयो वरस्त्वया ।
स्थीयतां स्वेन रूपेण पूजार्थं शंकर स्वयम् ।। वही, ४, १९, ६ ।

यमुना के तट पर केदारेश्वर लिङ्ग से उत्पन्न हुआ 'भूतेश' नामक उप-लिङ्ग है। उसका दर्शन तथा पूजन करने वालों के सब महापाप दूर हो जाते हैं। केदारखण्ड के स्वामी 'केदार' नामक शम्भु ही हैं[४८]।

केदारेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग का महत्त्व एक अन्य दृष्टि से भी है। यह ज्योतिर्लिङ्ग विष्णु के अवतार नर-नारायण के द्वारा स्थापित किया गया है और स्वयं नर-नारायण भी उस स्थान के समीप ही स्थित हैं। अतः शैव एवं वैष्णव दोनों ही इस स्थान की यात्रा करते एवं दोनों का पूजन तथा दर्शन करते हैं। यहां उन्हें अन्तिम सत्ता, शिव एवं विष्णु की जिस एकता का आभास होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। यद्यपि 'रामेश्वरम्' में भगवान् राम के द्वारा ज्योतिर्लिङ्ग की स्थापना हुई थी किन्तु स्वयं भगवान् राम न तो वहां बाद में रहे और नहीं वह स्थल उनकी साधना का केन्द्र रहा। अतः शैवों एवं वैष्णवों की एकता की दृष्टि से जो स्थान केदारनाथ का है वह अन्य किसी ज्योतिलिंग का नहीं है। यहां आये वैष्णव भक्त भी ज्योतिलिंग की पूजा करते ही हैं। ऐसा न करने से उन्हें अपने पूज्य नर-नारायण के विरोध का पाप लगेगा। यह पुण्य क्षेत्र दोनों-शैवों एवं वैष्णवों के लिये संसेव्य माना गया है।

(६) भीमशंकर

भगवान् शंकर का षष्ठ ज्योतिर्लिंगात्मक अवतार 'डाकिनी' नामक स्थान में हुआ था। यह स्थान कामरूप (आसाम) में पड़ता है[४९]। इस अवतार का कारण इस प्रकार है :—

राक्षस कर्कट से पुष्करी में उत्पन्न कर्कटी नाम की एक राक्षसी थी। वह विराध की विधवा थी। एक बार सह्य पर्वत पर जाकर रावणानुज कुम्भकर्ण ने उसके साथ संभोग किया। समय प्राप्त होने पर उसने एक बालक का प्रसव किया, जिसका नाम, आगे चलकर, 'भीम' हुआ। भीम ने जब अपनी मां से सुना कि उसके सम्पूर्ण परिवार का विनाश भगवान् हरि से हुआ है तो उसने बदला लेने की भावना से ब्रह्मा को उद्देश्य करके तप किया और उनसे अतुल बल प्राप्त किया। अब क्या था? उसने सम्पूर्ण देवों को अधिकारच्युत कर उनको स्थान से निकाल दिया। उसने युद्ध में हरि को भी पराजित किया।

४८. श्रीकेदारनाथ अथवा केदारेश्वर हिमालय के केदार नामक शिखर पर स्थित हैं। शिखर के पूर्व की ओर अलकनन्दा के तट पर श्री बदरीनाथ अवस्थित हैं और पश्चिम में मन्दाकिनी के किनारे श्री केदारनाथ विराजमान हैं। यह स्थान हरिद्वार से १५० मील और ऋषिकेश से १३२ मील दूर है।

४९. ....डाकिन्यां भीमशंकरः। शिव० ३, ४२, ३।

देवविजय के अनन्तर उसने पृथिवी को जीतने के प्रसङ्ग में सबसे पहले 'कामरूपेश्वर' को, जो भगवान् शिव के एक प्रबल भक्त थे, जीत कर सपत्नीक उन्हें कारागार में डाल दिया। सम्पूर्ण राज्य-कार्य से अवकाश प्राप्त कर वहां वह नृप सर्वदा पार्थिवपूजन एवं ध्यान में संलग्न रहा करते थे। एक दिन किसी अनुचर ने जाकर राक्षस-राज भीम से कहा कि 'राजा आपको मारने के लिये कुछ आभिचारिक क्रिया कर रहे हैं'।

अनुचर के उपर्युक्त कथन को सुनकर वह राक्षस तलवार को हाथ में लेकर वहां पहुँचा जहां कामरूपेश्वर ध्यानरत थे। उस राक्षस के पूछने पर इन्होंने सत्य-सत्य बतला दिया कि वे क्या कर रहे थे। पुनः उन दोनों में भगवान् शंकर की महत्ता के विषय में विवाद भी हुआ। तदनन्तर अतिक्रुद्ध उस राक्षस ने अपने कराल तलवार से उस पार्थिव लिङ्ग पर प्रहार किया। जब तक वह तलवार उस पार्थिव का स्पर्श करती उसके पूर्व ही उस पार्थिव से स्वयं भगवान् हर प्रकट हुये[५०]। घोर युद्ध के अनन्तर अपने हुङ्कारास्त्र से भगवान् शंकर ने ससैन्य भीम को जलाकर भस्म कर दिया[५१]।

राक्षस परिवार को विनष्ट देखकर देवों आदि ने भगवान् शंकर की स्तुति की और उनसे सर्वदा वहीं निवास करने के लिये अनुरोध किया। तभी से भगवान् शंकर 'भीमशंकर' नाम से वहीं स्थित हो गये। इनके दर्शन से सम्पूर्ण आपत्तियां विनष्ट हो जाती हैं[५२]।

---

५०. करवालः पार्थिवं च यावत् स्पृशति नो द्विजाः।
तावच्च पार्थिवात्तस्मादाविरासीत् स्वयं हरः॥ शिव० ४, २१, ३२।

५१. हुङ्कारेणैव चास्त्रेण भस्मसात् कृतवांस्तदा। वही, ४, २१, ४३।

५२. आसाम के कामरूप जिले में गोहाटी के पास 'ब्रह्मपुर' पहाड़ी पर भीमशंकर का मन्दिर स्थित है। कुछ लोगों के अनुसार 'भीमशंकर' का स्थान बम्बई से पूर्व और पूना से उत्तर भीमा नदी के किनारे उसके उद्गमस्थान सह्यपर्वत पर है। यह स्थान लारी के रास्ते से जाने पर नासिक से लगभग १२० मील दूर है। सह्यपर्वत के उस शिखर का नाम, जहां इस ज्योतिर्लिंग का प्राचीन मन्दिर है, डाकिनी है। किन्तु शिवमहापुराण के अनुसार यह उपलिंग है। मतिभ्रम का कारण ज्योतिर्लिंग एवं उपलिंग के नाम साम्य तथा सह्य पर्वत के शिखर के 'डाकिनी' नाम का होना ही है। कुछ लोग कहते हैं कि नैनीताल जिले के 'उज्जनक' नामक स्थान में एक विशाल शिव मन्दिर है, वही भीमशंकर का स्थान है। देखिये—'कल्याण' (मासिकपत्रिका), वर्ष ३६, संख्या १, पृ० ३३६।

भीमशङ्कर से प्रकट हुआ 'भीमेश्वर' नामक उपलिङ्ग सह्य पर्वत पर विराजमान है। उसके दर्शन एवं पूजन से बल की वृद्धि होती है[५३]।

पुराणों में हुंकार से प्राणियों एवं अस्त्र-शस्त्रों को जलाने की बात बहुधा आया करती है। इसे लोग मुखनिर्गत क्रोधात्मक शब्द समझते हैं। किन्तु इस स्थल के देखने से ऐसा परिज्ञात होता है कि 'हुङ्कार' किसी ऐसे अस्त्र का नाम था जो अग्न्यस्त्र था और उससे एक प्रकार का शब्द, उसके प्रयोगकाल में निकला करता था; जो सम्भवतः हुङ्कार से मिलता जुलता रहा होगा। अन्यथा 'हुंकार' के विशेष्य रूप में प्रयुक्त 'अस्त्र' शब्द की संगति कैसे बैठेगी?

उक्त कथा के अध्ययन से कामरूप के विषय में दो बातें ज्ञात होती हैं। पहली यह कि—वहां आभिचारिक क्रियाओं का विशेष प्रचलन था[५४]। और दूसरी यह कि पुराणकाल में कामरूप एक कुत्सित प्रदेश माना जाता था। सम्भव है इसकी कुत्सित भावना के मूल में उक्त आभिचारिक क्रियायें ही रही हों। वहां कभी डाकिनी और भूतों का निवास भी रहा, ऐसा प्रतीत होता है। यह प्रदेश अयोध्यानिवासियों को सर्वदा दुःखदायक भी रहा है। इसके मूल में उक्त दोनों स्थानों की समीपता ही है। आज भी आसाम में कुछ वन्य जातियां रहती हैं, इनमें नागा लोग मुख्य हैं। सम्भवतः ये जातियां समय-समय पर अयोध्यावासियों और उनके निकट के भू-भागों पर आक्रमण कर उन्हें कष्ट पहुँचाती रहीं[५५]।

(७) विश्वेश्वर

काशी में भगवान् शंकर का 'विश्वेश्वर' नामक अतिप्रसिद्ध ज्योतिर्लिङ्ग है[५६]। इस ज्योतिर्लिङ्ग की अन्य ज्योतिर्लिङ्गों की अपेक्षा यह विशेषता है कि इसकी पृष्ठभूमि में दार्शनिक भावना का संयोग भी है। शिवमहापुराण के अनुसार इसके आविर्भाव की कथा इस प्रकार है :—

इस संसार में जो कुछ वस्तुमात्र दृष्टिगोचर होता है, वह सब निर्विकार, सनातन, चिदानन्दस्वरूप है। जब कैवल्यरति (ज्ञानस्वरूप) ब्रह्म की द्वितीय होने की इच्छा हुई, तब वही सगुणरूप से उत्पन्न होकर शिव कहलाये[५७]।

---

५३. भीमशंकरसंभूतं भीमेश्वरमिति स्मृतम्।
सह्याचले प्रसिद्धं तन्महाबलविवर्धनम्॥ शिव० ४, १, ४०।

५४. ··· ········राजा किंचित् करोत्येवं त्वदर्थं ह्याभिचारिकम्॥ वही, ४, २१, ३।

५५. अयं वै कुत्सितो देशोऽयोध्यालोकदुःखदः। ·· ···॥ वही, ४, २१, ५२।

५६. ·····वाराणस्यां च विश्वेशः······। वही, ३, ४२, ३।

५७. तस्यैव कैवल्यरतेर्द्वितीयेच्छा ततोऽभवत्।
स एव सगुणो जातः शिव इत्यभिधीयते॥ वही, ४, २२, ३।

वही शिव पुरुष तथा स्त्री-प्रभेद से दो हो गये। जो पुरुष था वह शिव कहा जाता था और जो स्त्री थी वह शक्ति कही जाती थी[५८]। उन अदृष्ट, चिदानन्दस्वरूप से स्वभावतः प्रकृति (विष्णु की शक्ति) और पुरुष (स्वयं विष्णु) निर्मित हुये[५९]।

उत्पत्ति के अनन्तर वे प्रकृति एवं पुरुष-अपने उत्पादक को न देखकर बहुत खिन्न हुये। उसी समय निर्गुण परमात्मा से वाणी उत्पन्न हुई कि 'सृष्टिहेतु आप को तप करना चाहिए'। उस वाणी को सुनकर प्रकृति एवं पुरुष ने कहा–'हे प्रभो शिव! तपस्या के लिए तो कोई स्थल ही नहीं है। हमलोग कहां स्थित होकर तप करें'। तदनन्तर सम्पूर्ण तेजों के साररूप पंचक्रोशसीमात्मक, समग्रसाधनसम्पन्न, शोभायमान, सुन्दर एक नगर का निर्माण कर, शिव ने, अपनी प्रेरणा से अन्तरिक्ष में पुरुष के समीप उसे स्थित किया। वहां स्थित होकर विष्णु ने सृष्टि रचने की इच्छा से शिव जी का ध्यान करके बहुत काल तक तप किया। श्रम के कारण विष्णु के शरीर से अनेक जलधारायें प्रकट हुईं, उनसे वह शून्य व्याप्त हो गया। उसके कारण और कुछ दिखलाई न पड़ता था। जब उस जलौघ से पंचक्रोशी प्लाव्यमान हो गई तब भगवान् शिव ने उसे उठाकर अपने त्रिशूल पर धारण किया। भगवान् विष्णु अपनी प्रकृति के साथ वहीं सो गये और भगवान् शंकर की आज्ञा से, उनके नाभिकमल से, ब्रह्मा जी उत्पन्न हुये, जिन्होंने सृष्टि का निर्माण किया।

तदनन्तर भगवान् शंकर जी ने काशी में स्वयं अविमुक्त लिङ्ग की स्थापना की। यह लिङ्ग शंकर का अंशभूत है। स्थापना के अनन्तर शिव जी ने अपने लिङ्ग को कभी काशी का परित्याग न करने को कहा[६०]। काशी में मुक्तिप्रद अविमुक्तेश्वर नामक लिङ्ग सर्वदा विराजमान रहता है[६१]। अन्यत्र प्राणियों को सारूप्यादि मुक्ति प्राप्त होती है, किन्तु यहां जीवों को सायुज्य

---

५८. स एव हि द्विजाः जातः पुंस्त्रीरूपप्रभेदतः।
यः पुमान् स शिवः ख्यातः स्त्री शक्तिः सा हि कथ्यते ॥ शिव० ४, २२, ४।

५९. चिदानन्दस्वरूपाभ्यां पुरुषावपि निर्मितौ।...... । वही, ४, २२, ६।
अदृष्टाभ्यां तदा ताभ्यां स्वभावान् मुनिसत्तमाः ॥ वही, ४, २२, ७।

६०. अविमुक्तं स्वयं लिंगं स्थापितं परमात्मना।
न कदाचित्त्वया त्याज्यमिदं क्षेत्रं ममांशक ॥ वही, ४, २२, २१।

६१. अविमुक्तेश्वरं लिंगं काश्यां तिष्ठति सर्वदा।
मुक्तिदातृ च लोकानां महापातकिनामपि ॥ वही, ४, २२, २५।

मुक्ति मिलती है[६२]।

काशी के ज्योतिर्लिङ्ग को स्वयं भगवान् शंकर ने अपने हाथ से स्थापित किया था, अतः इसका अपना एक अलग ही महत्त्व है। इसके अतिरिक्त यहां यह भी स्मरण रखना चाहिये कि विश्वेश, त्र्यम्बक एवं वैद्यनाथ ज्योतिर्लिङ्गों के उपलिङ्गों का वर्णन शिवमहापुराण की कोटिरुद्रसंहिता के प्रथम अध्याय में; जहाँ कि उपलिङ्गों का वर्णन किया गया है; नहीं मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि इनके उपलिङ्ग हैं ही नहीं।

(८) त्र्यम्बक

भगवान् शंकर का त्र्यम्बक[६३] नामक अवतार गौतमी नदी के तट पर हुआ था। आविर्भाव का प्रसंग इस प्रकार है :—

एक समय ऋषियों के वैमनस्य के कारण महर्षि गौतम को गोहत्या का पातक लगा। उससे मुक्त होने के लिये वे ऋषियों के द्वारा निर्दिष्ट होकर तपस्या कर रहे थे। उनकी तपस्या से सन्तुष्ट अतएव प्रत्यक्ष आविर्भूत भगवान् शंकर ने उन्हें पवित्र करने के लिये गंगा को दिया और उनसे (गंगा से) कहा भी 'हे देवि! जब तक कलियुग आता है और अट्ठाइसवें वैवस्वतनामक मनु होते हैं तब तक तुम यहीं निवास करो[६४]।

भगवान् शंकर जी के कथन को शिरोधार्य करती हुई गंगा जी ने भी उनसे निवेदन किया 'आप भी सुन्दर शरीर धारण कर अम्बा एवं गणों के साथ मेरे पास वास करें[६५]।' गंगा की इस प्रार्थना को सुनकर भगवान् शंकर ने पुनः कहा 'तुम धन्य हो। मैं तुमसे भिन्न नहीं हूँ तथापि मैं यहाँ तुम्हारे समीप स्थित रहूँगा।'

इसके बाद देवों ने भी गंगा और शंकर जी की स्तुति करते हुये निवेदन किया 'जब-जब सर्वसुहृत्तम बृहस्पति सिंहराशि में स्थित होंगे तब तब हम सभी देव, तीर्थ, ऋषि, क्षेत्र, निःसंशय यहां आयेंगे और जब तक बृहस्पति

---

६२. अन्यत्र प्राप्यते मुक्तिः सारूप्यादिर्मुनीश्वराः।
अत्रैव प्राप्यते जीवैः सायुज्या मुक्तिरुत्तमा॥ शिव० ४, २२, २६।

६३. ...... त्र्यम्बको गौतमी तटे। वही, ३, ४२, ३।

६४. त्वया स्थातव्यमत्रैवाव्रजेद्यावत् कलियुगः।
वैवस्वतो मनुर्देवि ह्यष्टाविंशत्तमो भवेत्॥ वही, ४, २६, २६।

६५. किंचान्यच्च शृणु स्वामिन् वपुषा सुन्दरेण ह।
तिष्ठ त्वं मत्समीपे वै सगणः साम्बिकः प्रभो॥ वही, ४, २६, ३२।

सिंहराशि पर रहेंगे तब तक हम लोग यहाँ निवास करेंगे, त्रिकाल गंगाजल में स्नान एवं भगवान् शंकर का दर्शन कर अपने पापों को क्षालित करेंगे।'

इस प्रकार गौतम एवं महर्षियों की प्रार्थना से भगवान् शंकर एवं सरिद्वरा गंगा जी वहाँ स्थित हुईं। बृहस्पति के सिंहस्थ होने पर सम्पूर्ण देवता एवं तीर्थ वहाँ जाया करते हैं[६६]।

यह ज्योतिर्लिंग 'त्र्यम्बक' नाम से विख्यात है और गौतमी गंगा के किनारे पर स्थित है। इसके दर्शन से सम्पूर्ण पाप विनष्ट हो जाते हैं[६७]। उस समय गौतम के द्वारा प्रार्थित स्वयं गंगा जी उस ब्रह्मगिरि से शीघ्र ही निकलीं। शिवमहापुराण के अनुसार इनका प्रथम स्रोत 'गूलर' की शाखा से निकला था[६८]। पुनः प्रसन्न-मानस गौतम ने उसमें स्नान कर अपना मनोरथ पूर्ण किया।

अन्य ज्योतिर्लिंगों की अपेक्षा यह ज्योतिर्लिंग अर्वाचीन है। शिव महापुराण के आधार पर इसकी स्थापना हुये ८०० आठ सौ वर्ष के लगभग व्यतीत हुये हैं। इसका एवं इस कथा की अन्य उपलब्धियों की चर्चा हम यथावसर आगे के प्रकरण में करेंगे।

(९) वैद्यनाथ

चिताभूमि में, भगवान् शंकर का नवम, वैद्यनाथ संज्ञक, ज्योतिर्लिङ्ग स्थित है[६९]। इस ज्योतिर्लिंग की कथा अत्यधिक लोकप्रसिद्ध है। शिवमहापुराण में कथा आती है कि राक्षसाधिप रावण कैलाश पर्वत पर भगवान् शंकर की पार्थिव मूर्ति निर्मित कर अपनी उग्रसेवा और तपश्चर्या से उन्हें प्रसन्न करने में सफल हो गया। जब भगवान् शंकर उसके समक्ष प्रकट होकर उसे अतुल बलशाली होने का वर दिये तब उसने नतस्कन्ध हो उन प्रभु से इस प्रकार कहा:—'प्रभो ! आप प्रसन्न हों, मैं आप को (आपके इस ज्योतिर्लिंग को जिससे आप आविर्भूत हुये हैं) लङ्का ले चल रहा हूँ। मैं आपकी शरण

---

६६. तद्दिनं हि समारभ्य सिंहस्थे च बृहस्पतौ।
आयान्ति सर्वतीर्थानि क्षेत्राणि देवतानि च। शिव० ४, २६, ५१।

६७. त्र्यम्बक लिंग की स्थिति बम्बई प्रान्त के नासिक जिले में नासिक पंचवटी से १८ मील दूर गोदावरी के उद्गमस्थान ब्रह्मगिरि के निकट गोदावरी के तट पर ही है।

६८. औदुम्बरस्य शाखायास्तत्प्रवाहो विनिःसृतः।
तत्र स्नानं मुदा चक्रे गौतमो विश्रुतो मुनिः॥ शिव० ४, २७, ४।

६९. ....वैद्यनाथश्चिताभूमौ.......... ॥ वही, ३, ४२, ४।

में हूँ, आप मेरे मनोरथ को पूर्ण करें[७०]।

रावण की उक्त प्रार्थना को सुनकर भगवान् शंकर ने कहा—'राक्षस श्रेष्ठ! तुम तुम मेरे सारगर्भित वचन को सुनो। तुम अपनी सद्भक्ति से मेरे इस उत्तम लिंग को अपने घर ले जाओ। किन्तु तुम्हें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यदि तुम कहीं मार्ग में इस लिंग को भूमि पर रख दोगे तो यह वहीं पर स्थित हो जायगा, अतः तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो।'[७१]।

भगवान् शंकर की आज्ञा पाकर रावण ने उस लिंग को लेकर लङ्का की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में शिव को माया के कारण उसे मूत्रोत्सर्ग की इच्छा हुई, जिसे वह रोक न सका। वहाँ उसने एक गोप को देखा जिसे उसने उस लिङ्ग को देकर मूत्रोत्सर्ग करना प्रारम्भ किया। किन्तु एक क्षण में ही लिङ्ग के भार से पीडित एवं विकल उस गोप ने उसे पृथिवी पर रख दिया। तभी से वज्रसार से उत्पन्न सा वह लिङ्ग वहीं पर स्थित हो गया। इसके दर्शन से सम्पूर्ण पाप विनष्ट होते हैं और सम्पूर्ण मनोरथ भी पूर्ण होते हैं।

वैद्यनाथ संज्ञा के विषय में शिवमहापुराण में कहा गया है कि 'प्रत्यक्ष हुये शंकर जी ने अपनी अमोघ दृष्टि से देखकर, वैद्य की भांति, रावण के शिरों को जोड़ दिया था। यही कारण है कि वे वैद्यनाथेश्वर नाम से भुवनत्रय में विख्यात हुये हैं'[७२]।

(१०) नागेश

भगवान् शंकर का नागेश नामक दशम अवतार दारुका वन में हुआ था।

---

७०. प्रसन्नो भव देवेश लङ्कां च त्वां नयाम्यहम्।
सफलं कुरु मे कामं त्वामहं शरणं गतः॥ शिव० ४, २८, १२।

७१. भूमौ लिंगं यदा त्वं च स्थापयिष्यसि यत्र वै।
स्थास्यत्यत्र न संदेहो यथेच्छसि तथा कुरु॥ वही, ४, २८, १५।

७२. अमोघया सुदृष्ट्या वै वैद्यवद्योजितानि मे।
शिरांसि संधयित्वा तु दृष्टानि परमात्मना॥ वही, ४, २८, ५५।

टिप्पणी :—चिताभूमि नामक स्थान संथाल परगने में ई० आई० रेलवे० के जसीडीह स्टेशन के पास वैद्यनाथ धाम के नाम से प्रसिद्ध है। पुराणों के अनुसार यही चिताभूमि है। कहीं कहीं 'परल्यां वैद्यनाथं च' ऐसा पाठ मिलता है। इसके अनुसार परली में वैद्यनाथ की स्थिति है। दक्षिण हैदराबाद नगर से इधर परभनी नामक एक जङ्कसन है। वहां से परली तक एक ब्रांच लाइन गयी है। इस परली स्टेशन से थोड़ी दूर पर परली गांव के निकट श्रीवैद्यनाथ नामक ज्योतिर्लिंग है। देखिये-कल्याण, वर्ष ३६, सं० १, पृ० ३३९।

यह वन पश्चिम सागर के बीच में स्थित है[७३]। पहले पश्चिम सागर के तट पर धर्मध्वंसी राक्षसों का एक कुल था जिसका राजा था दारुक। उसकी स्त्री दारुका पार्वती की बड़ी भक्त थी। जब देवों ने उन सब पर आक्रमण किया तब उन लोगों ने अपनी सम्पत्ति आदि ले जाकर समुद्र के मध्य अपना नगर बसाया। और्व ऋषि के 'शाप' के कारण वे पृथिवी पर नहीं आ सकते थे[७४]।

पृथिवी पर से उन राक्षसों का उपद्रव तो अवश्य समाप्त हो चुका था किन्तु अब वे नाविकों एवं नाव से यात्रा करने वालों को पकड़ते एवं उनकी सम्पत्ति को लूटते थे। यात्रियों को वे कभी मारते थे तो कभी उन्हें बन्धनागार में बन्द कर देते थे। जिस प्रकार उनसे पहले स्थल में लोगों को भय था उसी प्रकार अब जल में भी भय होने लगा था[७५]।

इसी प्रसंग में एक बार उन लोगों ने नाविकों के एक ऐसे समूह को पकड़ कर कारागार में डाल दिया जिसका नेता 'सुप्रिय' नामक वैश्य था। वह भगवान् शंकर का दृढ भक्त शैव था। उसका नियम था कि वह बिना शिव की पूजा किये कुछ खाता-पीता न था। उसके शरीर पर सर्वदा भस्म एवं रुद्राक्ष शोभित होते थे। वह स्वयं तो शिव-पूजा करता ही था किन्तु साथ साथ अन्य लोगों को भी शैव-शिक्षा दिया करता था[७६]।

एक समय दारुक के किसी सेवक ने सुप्रिय के समक्ष भगवान् शंकर के सुन्दर रूप को देखकर अपने स्वामी से यथादृष्ट सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। दारुक के पूछने पर भी जब उस वैश्यपति ने अपने ध्येय (जिसका वह ध्यान करता था) के विषय में बतलाने से अस्वीकार कर दिया तब उसने अपने अनुचरों को सुप्रिय के बध का आदेश दिया। वैसी विषम परिस्थिति में उस वैश्य ने रक्षार्थ भगवान् शिव का स्मरण किया। वे भक्त भयहारी ठहरे ही। ठीक उसी समय एक विवर से भगवान् शम्भु निर्गत हुए। चतुर्द्वार युक्त उस उत्तम भवन के मध्य ज्योतिःस्वरूप भगवान् शिव के रूप को देखकर उस

---

७३. ··· ··· ···नागेशो दारुकावने। शिव० ३, ४२, ४।
पश्चिमे सागरे तस्य वनं सर्वसमृद्धिमत्।··· ··· वही, ४, २९, ४।

७४. राक्षसाश्च पृथिव्यां वै नाजग्मुश्च कदाचन।
मुनेः शापभयादेव बभ्रमुस्ते जले तदा॥ वही, ४, २९, ३३।

७५. यथापूर्वं स्थले लोके भयं चासीन्निरन्तरम्।
तथा भयं जले तेषामासीन्नित्यं मुनीश्वराः॥ वही, ४, २९, ३६।

७६. कारागृहगतः सोऽपि बहूँश्चाशिक्षयत्तदा।
शिवमन्त्रं च पूजां च पार्थिवीं ऋषिसत्तमाः॥ वही, ४, २९, ४५।

वैश्यपति ने उनका अभिनन्दन किया। इसके बाद भगवान् शिव ने दारुक सहित उन राक्षसों का वध कर डाला[७७]। किन्तु दारुका नामक राक्षसी के द्वारा तोषित पार्वती के हठ किये जाने पर भगवान् शंकर ने राक्षसवंश को बढ़ने की आज्ञा देकर कहा :—

'प्रिये ! इस प्रकार यदि तुम राक्षसों के समूलोन्मूलन न करने की बात कहती हो तो मेरा भी अभिप्राय सुनो —'मैं भी अपने भक्तों के रक्षार्थ एवं पालनार्थ प्रीतिपूर्वक दारुकवन में निवास करूंगा'[७८]। जो मनुष्य अपने वर्णधर्म में स्थित होकर प्रीतिपूर्वक यहां मेरा दर्शन करेगा वह चक्रवर्ती होगा।'

वहां ज्योतिर्लिङ्ग स्वरूप शिव 'नागेश' नाम से तथा पार्वती नागेश्वरी नाम से प्रसिद्ध हुईं[७९]।

यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि अन्य ज्योतिर्लिङ्गों की भांति 'नागेश' नाम पड़ने का कारण शिवमहापुराण में नहीं बतलाया गया है।

मल्लिका सरस्वती के किनारे नागेश्वर महादेव से प्रकट हुआ भूतेश्वर नामक शिवलिङ्ग है, जिसके दर्शनमात्र से ही सम्पूर्ण पापों का हरण हो जाता है[८०]। भूतेश्वर उपलिङ्ग है।

(११) रामेश्वर

भगवान् शिव का रामेश्वर नामक ज्योतिर्लिङ्ग दक्षिण सागर के तटपर सेतुबन्ध में स्थित है —'...... सेतु बन्धे च रामेशः ......' (३, ४२, ४)। इस

---

७७. जघान सोपकरणांस्तान् सर्वान् सगणान् द्रुतम्। शिव०, ४, ३०, १३।

७८. स्थास्याम्यस्मिन् वने प्रीत्या भक्तानां पालनाय च ॥ वही, ४, ३० २७।
ज्योतिर्लिङ्गस्वरूपो हि नाम्ना नागेश्वरः शिवः।
नागेश्वरी शिवा देवी बभूव च सतां प्रियौ ॥ वही, ४, ३०, ३२।

७९. नागेश नामक ज्योतिर्लिंग का स्थान बड़ौदा राज्य के अन्तर्गत गोमती द्वारा से ईशान कोण में बारह तेरह मील की दूरी पर है। दारुकावन इसी का नाम है। कुछ लोग दारुकावन के स्थान में 'द्वारकावन' पाठ मानते हैं। इस पाठ के अनुसार भी यही स्थान सिद्ध होता है; क्योंकि वह द्वारका के निकट और उस क्षेत्र के अन्तर्गत है। कुछ लोग दक्षिण हैदराबाद के अन्तर्गत औढ़ा ग्राम में स्थित शिवलिंग को ही नागेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग मानते हैं। कुछ लोगों के मत से 'अल्मोड़ा' से १७ मील उत्तर-पूर्व में स्थित (जागेश्वर) शिवलिंग ही नागेश ज्यतिर्लिङ्ग है॥ कल्याण, वर्ष ३६, अंक १, पृ० ३३९।

८०. नागेश्वरसमुद्भूतं भूतेश्वरमुदाहृतम्।
मल्लिकासरस्वतीतीरे दर्शनात् पापहारकम् ॥ शिव०, ४, १, ४१।

अवतार की कथा के अतिप्रसिद्ध होने के कारण यहाँ इसका अति लघुकाय विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

जिस समय सीतान्वेषण के प्रसङ्ग में भगवान् श्रीराम ससैन्य दक्षिण सागर के तट पर स्थित थे और विचाररत थे कि यह दुस्तर सागर कैसे उत्तीर्ण किया जाय। उसी समय एक दिन जब वे शिव की पूजा में तल्लीन थे तभी उनके समक्ष ज्योतिःस्वरूप भगवान् महेश्वर प्रकट हुए और संग्राम में विजयी होने का वरदान उन्हें दिये।

भगवान् राम ने पुनः उनकी स्तुति करते हुए प्रार्थना की कि—'यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो संसार को पवित्र करने के लिये और दूसरों के उपकार के निमित्त आप यहाँ निवास करें'[८१]। इस प्रकार राम के वचन को सुनकर शिव जी वहाँ लिङ्गरूप होकर रामेश्वर नाम से पृथिवी में प्रसिद्ध हुये[८२]।

रामेश्वर से प्रकट हुआ उपलिंग गुप्तेश्वर नाम से प्रसिद्ध है[८३]।

(१२) घुश्मेश

दक्षिण दिशा में देवगिरि के निकट 'शिवालय' नामक सरोवर में भगवान् शंकर का घुश्मेश नामक बारहवाँ ज्योतिर्लिंगात्मक अवतार हुआ था[८४]।

देवगिरि के समीप भारद्वाज गोत्रोत्पन्न सुधर्मा नाम से प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे। जब उनकी प्रथम पत्नी 'सुदेहा' से कोई भी सन्तति न हुई तब उसके अनुरोध पर सुधर्मा ने उसी की कनिष्ठा भगिनी 'घुश्मा' से द्वितीय-विवाह किया। घुश्मा भगवान् शंकर की महान् भक्त थी। एक सौ एक पार्थिव लिंग की पूजा करना उसका दैनन्दिन कार्य था। प्रारम्भ में 'सुदेहा' और 'घुश्मा' में प्रगाढ़ प्रेम था, किन्तु जब घुश्मा को एक पुत्र हुआ तब सब का स्नेह 'घुश्मा' पर अधिक होता देख कर 'सुदेहा' का सन्ताप एवं ईर्ष्याभाव बढ़ने लगा। अतः उसने निश्चय किया कि वह 'घुश्मा' के पुत्र को मार कर अपने सन्ताप को दूर करेगी।

---

८१. त्वया स्थेयमिह स्वामिन् लोकानां पावनाय च।
परेषामुपकारार्थं यदि तुष्टोऽसि शंकर॥ शिव० ४, ३१, ३९।

८२. इत्युक्तस्तु शिवस्तत्र लिङ्गरूपोऽभवत्तदा।
रामेश्वरश्च नाम्ना वै प्रसिद्धो जगतीतले॥ वही, ४, ३१, ४०।

८३. रामेश्वराच्च यज्जातं गुप्तेश्वरमिति स्मृतम्। वही, ४, १, ४२।

८४. ....घुश्मेशश्च शिवालये। वही, ३, ४२, ४।
दक्षिणस्यां दिशि श्रेष्ठो गिरिर्देवेति संज्ञकः॥ ....। वही, ४, ३२, ४।

एक दिन जब घुश्मा का पुत्र 'प्रियवादी' अपनी नवपरिणीता पत्नी के साथ शयन कर रहा था तब 'सुदेहा' ने अवसर प्राप्त कर तीक्ष्ण क्षुरिका से उसकी इह लीला समाप्त कर दी। उसे मारकर एवं उसके शरीर को भागशः कल्पित कर समीप के उसी सरोवर में उसे प्रक्षिप्त कर दिया जहाँ घुश्मा प्रतिदिन अपने द्वारा पूजित पार्थिवों को फेंका करती थी।

प्रातःकाल सुधर्मा-दम्पति जब पूजा-रत थे तब विलाप करती हुई उनकी पुत्रबधू ने सूचना दी कि किसी अज्ञात व्यक्ति ने उनके पुत्र की हत्या कर दी है। किन्तु दृढ भगवद्भक्त वे दोनों न तो अपनी पूजा का परित्याग करके उठे और न शोक का ही अनुभव किये, क्योंकि ईश्वर के विधान एवं कार्य पर उन्हें पूर्ण विश्वास था।

नित्य की भांति मध्याह्न में अपनी पूजा को समाप्त कर 'घुश्मा' जब उस सरोवर में पार्थिव फेंक कर लौटने लगी तब उसे उसका पुत्र यह कहते हुये वहां दिखलाई पड़ा कि 'मातः! मैं तुमसे मिलूंगा। मैं मर कर पुनः जीवित हो गया हूं। यह तुम्हारे ही पुण्य का प्रभाव है'।

अपने पुत्र को जीवित देखकर घुश्मा उसी प्रकार प्रसन्न नहीं हुई जिस प्रकार वह उसकी मृत्यु जानकर दुःखी नहीं हुई थी। उसी समय ज्योतिः-स्वरूप से प्रकट हुये भगवान् महेश्वर ने कहा—'घुश्मे! मैं प्रसन्न हूं, वर मांगो[८५]।' उत्तर में 'घुश्मा' ने निवेदन किया 'देव! संसार की रक्षा के निमित्त मेरे नाम से आप यहां निवास करें।'

घुश्मा की प्रार्थना पर भगवान् शंकर ने पुनः कहा – मैं 'घुश्मेश' इस नाम से यहाँ निवास करूंगा। मेरा यह लिङ्ग संसार में प्रसिद्ध होगा और यह सरोवर भी लिङ्गों का आयतन होने के कारण 'शिवालय' नाम से त्रिलोकी में विख्यात होगा[८६]।

---

८५. एतस्मिन् समये तत्र स्वविवराच्छिवो द्रुतम्।
ज्योतीरूपो महेशश्च सन्तुष्टः प्रत्युवाच ह ॥ शिव० ४, ३३, ३४।

८६. ...– स्थास्येऽत्र तव नाम्नाऽहं घुश्मेशाख्यः सुखप्रदः ॥ वही, ४, ३३, ४४।
घुश्मेशाख्यं सुप्रसिद्धं लिङ्गं मे जायतां शुभम्।
इदं सरस्तु लिङ्गानामालयं जायतां सदा ॥ वही, ४, ३३, ४५।

विशेष :—श्री घुश्मेश्वर को घुसृणेश्वर या घृष्णेश्वर भी कहते हैं। इनका स्थान हैदराबाद राज्य के अन्तर्गत दौलताबाद स्टेशन से १२ मील दूर 'बेरुल' गांव के पास है। इस स्थान को ही शिवालय कहते हैं। देखिये—कल्याण, वर्ष ३६, अंक १, पृ० ३३९।

द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों का वर्णन करने के अनन्तर यहां पर प्रत्येक दिशा के कुछ प्रसिद्ध शिवलिङ्गों का नाम एवं उनके स्थान का संकेत किया जा रहा है। पुराणकार ने जिस प्रकार से दिशाओं का विभाजन किया है उससे प्रतीत होता है कि उनकी साधना का पुण्यस्थल प्रयाग से पश्चिम एवं चित्रकूट से उत्तर कोई स्थान रहा। इस स्थान को प्रयाग एवं चित्रकूट से बहुत अधिक दूर नहीं होना चाहिये। आगे के वर्णन से यह बात स्वयमेव विस्पष्ट हो जायगी।

'पूर्वा दिक्'[८७]

पुराण लेखक सर्वप्रथम पूरब दिशा के शिवलिङ्गों के प्रसङ्ग से प्रयाग में स्थित कुछ प्रसिद्ध लिङ्गों का नाम निर्देश करते हुये कहता है— 'पूर्वकाल में ब्रह्मा जी के द्वारा स्थापित किया गया ब्रह्मेश्वर नामक शिवलिङ्ग प्रयाग में दशाश्वमेध तीर्थ पर स्थित है, जो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का दाता बतलाया गया है[८८]। वहीं पर सर्वापद्विनिवारक सोमेश्वर, भरद्वाजेश्वर शूलटंकेश्वर, माधवेश्वर शिवलिङ्ग भी वर्तमान हैं।

काशी लिङ्गमयी कही गई है। यहां जितने भी शिवलिङ्ग हैं उनकी गणना नहीं की जा सकती। किन्तु फिर भी यहां के अतिप्रसिद्ध शिवलिङ्ग हैं:- कृत्तिवासेश्वर, तिलभाण्डेश्वर, दशाश्वमेधेश्वर, केदारेश्वर, (केदारनाथ), त्रिलोचन, तारकेश्वर, मध्यमेश्वर। मध्यमेश्वर की ही आराधना से महर्षि व्यास ने पुराणकर्तृत्वशक्ति प्राप्त की थी[८९]। तुम्बुरु नामक गन्धर्व और देवर्षि नारद इन्हीं भगवान् मध्यमेश्वर की आराधना करके गान-विद्या में विशारद हुये थे[९०]। यह लिङ्ग काशी के मध्य में विराजमान होने से मध्यमेश्वर कहा जाता है[९१]।

अयोध्या नगरी में 'नागेश' नामक शिव जी का प्रसिद्ध लिङ्ग है। नागेश शिव सूर्यवंशियों को विशेष सुखदायक कहे गये हैं। पुरुषोत्तमपुरी में भुव-

---

८७. पूर्वस्यां दिशि जातानि शिवलिङ्गानि यानि च।
सामान्यान्यपि चान्यानि तानीह कथितानि ते॥ शिव० ४, २, ३०।

८८. ब्रह्मेश्वरः प्रयागे च ब्रह्मणा स्थापितः पुरा।
दशाश्वमेधतीर्थे हि चतुर्वर्गफलप्रदः॥ वही, ४, २, १३।

८९. वही, ५, ४४ अ०।

९०. तुम्बुरुर्नाम गन्धर्वो देवर्षिर्नारदस्तथा।
अमुमाराध्य सम्पन्नो गानविद्याविशारदौ॥ वही, ५, ४४, ८१।

९१. यः प्रधानतया काश्या मध्ये तिष्ठति शंकरः।
स्वपुरीजनसौख्यार्थमतोऽसौ मध्यमेश्वरः॥ वही, ५, ४४, ८०।

नेश्वर, सिन्धु नदी के तटपर कपालेश, वक्त्रेश, धौतपापेश्वर आदि, अर्बुदाचल पर कोटीश, अचलेश शिव लिङ्ग विराजमान हैं।

गंगा सागर के संगम पर 'सङ्गमेश्वर, कौशिकी के समीप में नारीश्वर एवं भूतेश्वर, गण्डकी नदी के तट पर बटुकेश्वर, फल्गु नदी के तट पर पूरेश्वर, उत्तर पत्तन में दूरेश्वर, तक्षका नदी के तट पर कुमारेश्वर, सिद्धेश्वर तथा सेनेश नामक लिङ्ग विख्यात हैं।

दक्षिणा दिक्

ब्रह्मपुरी में चित्रकूट पर्वत पर ब्रह्मा जी के द्वारा स्थापित सम्पूर्ण मनोरथों एवं सिद्धियों को देने वाला मत्तगजेन्द्र नामक शिवलिङ्ग है। उससे पूर्व दिशा में 'कोटीश' लिङ्ग की स्थिति बतलाई गई है। गोदावरी की पश्चिम दिशा में पशुपति, दक्षिण दिशा में लोकोपकारी, अनुसूया सुखकारी अत्रीश्वर नामक शिव जी का लिङ्ग है। अत्रीश्वर लिङ्ग चित्रकूट के समीप कामद-वन में स्थित है[९२]।

कालिंजर नामक पर्वत पर नीलकण्ठ, रेवानदी के तट पर आर्तेश्वर, परमेश्वर, सिंहेश्वर, शर्मेश, कुमारेश, पुण्डरीकेश्वर, मण्डपेश्वर, तीक्ष्णेश, नर्मदा नदी के तट पर धुन्धुरेश्वर, शूलेश्वर, कुम्भेश्वर, कुबेरेश्वर, सोमेश्वर, हनुमान् जी के द्वारा स्थापित महाकपीश, हत्याकोटि निवारक नन्दिक शिवलिङ्ग विख्यात हैं।

पश्चिमा दिक्

कपिला नगरी में कालरामेश्वर, पश्चिम सागर के तट पर महासिद्धेश्वर नामक शिवलिङ्ग हैं।

पश्चिमाम्बुधि के तट पर गोकर्ण नामक अति पवित्र क्षेत्र है। वैसे तो वहां असंख्य शिवलिङ्ग हैं किन्तु महाबल नामक लिङ्ग सर्वप्रधान है[९३]। इस लिङ्ग के विषय में शिवमहापुराण में कहा गया है कि यह कृतयुग में 'श्वेत, त्रेता में अतिलोहित, द्वापर में पीतवर्ण और कलियुग में श्यामता को प्राप्त

---

९२. दक्षिणस्यां दिशि महत् कामदं नाम यद्वनम्।
चित्रकूटसमीपेऽस्ति तपसां हितदं सताम्॥ शिव० ४, ३, ७।
यदि प्रसन्नो देवेश प्रसन्ना जगदम्बिका।
अस्मिंस्तपोवने तिष्ठ लोकानां सुखदो भव॥ वही, ४, ४, ५४।

९३. गोकर्णे शिवलिंगानि विद्यन्ते कोटिकोटिशः।
असंख्यातानि तीर्थानि तिष्ठन्ति च पदे पदे॥ वही, ४, ८, १।

होगा[९४]। महाबल के विषय में कहा गया है कि रावण नामक राक्षस के द्वारा तपस्या से प्राप्त उस महाबल नामक लिङ्ग को गणनायक ने गोकर्ण नामक स्थान में स्थापित किया था[९५]। यद्यपि ज्योतिर्लिंगों में इनकी गणना नहीं है तथापि शिवमहापुराण में इनकी महिमा, ज्योतिर्लिङ्गों के समान ही, बड़े विस्तार के साथ गाई गई है।

उत्तरा दिक्

उत्तरदिशा में महापातक नाश करने वाले गोकर्ण नामक क्षेत्र में एक अतिविस्तृत एवं पवित्र महावन है। वहां चन्द्रभाल नामक अति प्रसिद्ध शिवलिंग स्थित है। उसकी स्थापना रावण के द्वारा हुई थी[९६]। इसके अतिरिक्त वहां पर दधीचि मुनि के द्वारा स्थापित दधीचेश्वर नामक एक और विख्यात लिंग है।

नैमिषारण्य में सम्पूर्ण ऋषियों के द्वारा प्रतिष्ठापित ऋषीश्वर नामक प्रसिद्ध, सुखदायक शिवलिङ्ग है। देवप्रयागतीर्थ में 'ललितेश्वर' की प्रसिद्धि कही गई है।

भूतल में प्रसिद्ध नयपाल (नैपाल) नामक पुरी में सम्पूर्ण कामनाओं एवं फलों को देने वाला 'पशुपतीश' नामक शिवलिंग है[९७]। यह लिंग शिरोभाग स्वरूप से स्थित है[९८]। इसके शिरोभाग स्वरूप से स्थिति के विषय में शिवमहापुराण में एक कथा आती है—'एक समय पाण्डव लोग केदारखण्ड में यात्रा कर रहे थे। उन्हें देखकर लीला विशारद शिव (केदारेश्वर) को लीला करने की सूझी। अतः वे मायापूर्वक महिष का रूप धारण कर भागने लगे। पाण्डवों ने उनकी पूंछ पकड़ ली। वे अवाङ्मुख होकर वहीं स्थित हो गये।

---

९४. कृते युगे स हि श्वेतस्त्रेतायां सोऽपि लोहितः।
द्वापरे पीतवर्णश्च कलौ श्यामो भविष्यति ।। शिव० ४, ८, ८।
प्राप्ते कलियुगे घोरे मृदुतामुपयास्यति ।। वही, ४, ८, ९।

९५. घोरेण तपसा लब्धं रावणाख्येन रक्षसा।
तल्लिगं स्थापयामास गोकर्णे गणनायकः ।। वही, ४, ८, १४।

९६. रावणेन समानीतं सद्भक्त्या सर्वसिद्धिदम् ।। वही, ४, ११, ५।

९७. नयपालाख्यपुर्य्यां तु प्रसिद्धायां महीतले।
लिंगं पशुपतीशाख्यं सर्वकामफलप्रदम् ।। वहो, ४, ११, १८।

९८. शिरोभागस्वरूपेण शिवलिंगं तदस्ति हि। वही, ४, ११, १९।

भक्त-वत्सल शिव उसी दिन से उसी रूप से वहां स्थित हैं और उनका शिरो-भाग 'नयपाल' में चला गया तथा उसी रूप से वहां स्थित हो गया[९९]। उन्होंने वहां उसी रूप से अपने पूजन की आज्ञा दी है[१००]।

पशुपतीश नामक लिंग के समीप ही 'मुक्तिनाथ' नामक लिंग भी है।

---

९९. तद्रूपेण स्थितस्तत्र भक्तवत्सलनामभाग्।
नयपाले शिरोभागो गतस्तद्रूपतः स्थितः ॥ शिव० ४, १९, १५।

१००. तथैव पूजनान्नित्यमाज्ञां चैवाप्यदात्तथा। वही, १, १९, १६।

चतुर्थ अध्याय

पूजा

शैवमत के अनुसार अन्य देवों का यजन, पूजन प्राणियों को केवल भोग ही प्रदान करता है, किन्तु भगवान् शिव का पूजन भोग के साथ ही साथ मोक्षदायक भी है मोक्षदानरूप कार्य भगवान् शिव के अतिरिक्त अन्य कोई देव नहीं करता। अतः केवल भोग की कामना वाले भक्त को भी चाहिये कि वह शिव की पूजा करे। ऐसा करने पर उसे भोग तो मिलेगा ही साथ ही साथ मोक्ष भी प्राप्त हो जायेगा।

बड़ा से बड़ा तप, सर्वस्व दक्षिणा वाले यज्ञ, ये सभी शिवपूजन के कोटि-अंश की भी समता नहीं कर सकते। दुर्लभ मनुष्य जन्म को प्राप्त करके जो प्राणी शिव की पूजा करते हैं, उनका जन्म सफल है और वे ही नरोत्तम कृतार्थ हैं। शीघ्रता से जीवन एव यौवन बीत रहा है, शीघ्र ही व्याधि आ रही है, अतः भविष्य की आशा पर शिवपूजन को न टालकर शीघ्र ही उसमें संलग्न हो जाना चाहिये। वस्तुतः त्रिलोकी में शिवार्चन के तुल्य अन्य धर्म नहीं है। अतः अपने जोवन को सफल बनाने की इच्छा वाले प्राणी को चाहिये कि वह सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग कर भगवान् शिव की पूजा, वन्दना एवं शरण का आश्रय ले।

भगवान् शिव की पूजा लिंग एवं प्रतिमा-दोनों में की जाती है। किन्तु पुराण और लोक में—उभयत्र—शिव प्रतिमा की अपेक्षा लिंगार्चन की महत्ता विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। शिवलिंग को शिवमूर्ति की अपेक्षा प्राथमिकता प्रदान की गई है[1]। शिवमहापुराण के आद्योपान्त अध्ययन से यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि अन्य लिंगों की अपेक्षा पार्थिव-लिंग सर्वाधिक प्रयुक्त एवं महत्त्वशाली है[2]। शिव-पूजा में पुरुषों एवं स्त्रियों का समान अधिकार है[3]। शिवलिंग के पूजन में प्राणिमात्र का, चाहे वे किसी भी जाति

---

१. लिंगं प्राधान्यतः स्थाप्यं तथा वेरं तु गौणकम्।
लिंगाभावेन तत्क्षेत्रं सवेरमपि सर्वतः ॥ शिव॰ १, ९, ४६।

२. उक्तेष्वेतेषु लिंगेषु पार्थिवं लिंगमुत्तमम्। वही, १, २१, ४।

३. पुरुषाणां च नारीणामधिकारोऽत्र निश्चितम्। वही, १, १६, ५।

के हों, अधिकार है[4]। द्विजों के लिये वैदिक पद्धति से ही शिवलिंग की पूजा करना श्रेष्ठ है, परन्तु अन्य लोगों के लिये वैदिक मार्ग से पूजा करने की सम्मति नहीं है। वेदज्ञ द्विजों को वैदिक मार्ग से ही पूजन करना चाहिये। अन्य मार्ग से नहीं[5]।

शिवमहापुराण की विद्येश्वर संहिता में पूर्ण विस्तार के साथ पार्थिव पूजा की पद्धति का वैदिक विधान वर्णित किया गया है। यह पूजा भोग और मोक्ष दोनों की प्रदात्री है। आह्निक सूत्रों में बताई हुई विधि के अनुसार सविधि स्नान एवं सन्ध्योपासन करके सर्वप्रथम ब्रह्मयज्ञ करना चाहिये। तत्पश्चात् देवताओं, ऋषियों, सनकादि मनुष्यों और पितरों के तर्पण का विधान है। अपनी रुचि के अनुसार सम्पूर्ण नित्यकर्म को पूर्ण करके शिवस्मरण पूर्वक भस्म तथा रुद्राक्ष धारण करना चाहिये। तत्पश्चात् सम्पूर्ण मनोवांछित फल की सिद्धि के लिये उच्च भक्ति भाव के साथ उत्तम पार्थिव लिंग का वेदोक्त विधि से सम्यक् पूजन करना चाहिये। नदी अथवा तालाब के किनारे, पर्वत पर, वन में, शिवालय में अथवा और किसी पवित्र स्थान में पार्थिवपूजा, करने का विधान है। ब्राह्मण के लिये श्वेत, क्षत्रिय के लिये लाल, वैश्य के लिये पीली और शूद्र के लिये काली मिट्टी से शिवलिङ्ग बनाने का विधान है। अथवा जो मिट्टी जहाँ प्राप्त हो जाय उसी से शिवलिङ्ग बनाना चाहिये।

शिवलिङ्गपूजन की वैदिक विधि इस प्रकार है :—

आराधक को चाहिये कि वह 'ओं नमः शिवाय' इस मन्त्र का उच्चारण करते हुये समस्त पूजन सामग्री का प्रोक्षण करे—उस पर जल छिड़के। इसके बाद 'भूरसि०[6]' इत्यादि मन्त्र से क्षेत्रसिद्धि करे। पुनः 'आपोऽस्मान्०[7]' इस

---

४. ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा प्रतिलोमजः।
पूजयेत्सततं लिंगं तत्तन्मंत्रेण सादरम् ॥
किं बहूक्तेन मुनयः स्त्रीणामपि तथान्यतः।
अधिकारोऽस्ति सर्वेषां शिवलिंगार्चने द्विजाः ॥ शिव० १, २१, ३९-४०।

५. द्विजानां वैदिकेनापि मार्गेणाराधनं वरम्।
अन्येषामपि जन्तूनां वैदिकेन न सम्मतम् ॥ वही, १, २१, ४१।
वैदिकानां द्विजानां च पूजा वैदिकमार्गतः
कर्त्तव्या नान्यमार्गेण इत्याह भगवाञ्छिवः ॥ वही, १, २१, ४२।

६. पूरा मन्त्र इस प्रकार है :—भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री, पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृंह पृथिवीं मा हिंसीः। (यजु० १३, १८)।

७. आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि। दीक्षातपसोस्तनूरसि तां त्वा शिवां शग्मां परिदधे भद्रं वर्णं पुष्यन्। यजु० ४, २।

मन्त्र से जल का संस्कार करे। इसके बाद 'नमस्ते रुद्र०'[8] इस मन्त्र से स्फाटिकाबन्ध (स्फटिकशिला का घेरा) बनाने की बात कही गई है। 'नमः शम्भवाय०'[9] इस मन्त्र से क्षेत्र-शुद्धि और पंचामृत का प्रोक्षण करे। तत्पश्चात् शिवभक्त पुरुष 'नमः' पूर्वक 'नीलग्रीवाय०'[10] मन्त्र से शिवलिङ्ग को उत्तम प्रतिष्ठा करे। इसके बाद वैदिक रीति से पूजन-कर्म करने वाला उपासक भक्तिपूर्वक 'एतत्ते रुद्रावसं०'[11] इस मन्त्र से रमणीय आसन दे। 'मा नो महान्तम्०'[12] इस मन्त्र से आवाहन करे, 'या ते रुद्र०'[13] इस मन्त्र से भगवान् शिव को आसन पर आसीन करे। 'यामिषुं०'[14] इस मन्त्र से शिव के अङ्गों में न्यास करे। 'अध्यवोचत्०'[15] इस मन्त्र से प्रेमपूर्वक अधिवासन करे। 'असौ यस्ताम्रो०'[16] इस मन्त्र से शिवलिङ्ग में इष्ट देवता शिव का न्यास करे। 'असौ योऽवसर्पति०'[17] इस मन्त्र से उपसर्पण (देवता के समीप गमन) करे। इसके बाद 'नमोस्तु नील-ग्रीवाय'[18] इस मन्त्र से इष्टदेव को पाद्य समर्पित करे।

---

८. नमस्ते रुद्रमन्यवे उतो त इषवे नमः बाहुभ्यामुत ते नमः। वही, १६, १।

९. नमः शम्भवाय च मयो भवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च। वही, १६, ४१।

१०. नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे। अथो ये अस्य सत्वानोऽहं तेभ्योऽकरं नमः। वही, १६, ८।

११. एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽती हि। अवतत धन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासा अहिं सन्नः शिवोऽतीहि। वही, ३, ६१।

१२ मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्। मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः। वही, १६, १५।

१३. या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी। या न स्तन्वा शन्तमया गिरिशान्ताभिचाकशीहि। वही, १६, २।

१४. यामिषुं गिरिशन्त हस्ते विभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्॥ वही, १६, ३।

१५ अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्।
अहींश्च सर्वा जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परासुव। वही० १६, ५।

१६. असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमंगलः। ये चैनं रुद्रा भातो दिक्षु श्रिताः सहस्रोऽवैषाँ हेड इमहे। वही, १६, ६।

१७. असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः। उतैनं गोपा अदृश्रन्न दृश्रन्नुदहार्यः स दृष्टो मृडयाति नः। वही, १६, ७।

१८. यह मन्त्र पहले दिया जा चुका है।

'रुद्रगायत्री०'[१९] से अर्घ्य दे। 'त्र्यम्बकं०'[२०] मन्त्र से आचमन कराये। 'पयः पृथिव्यां०'[२१] इस मंत्र से दुग्धस्नान कराये। 'दधिक्राव्णो०'[२२] इस मन्त्र से दधिस्नान कराये। 'घृतं घृतपावा०'[२३] इस मन्त्र से घृत-स्नान कराये। 'मधु वाता०'[२४], 'मधु नक्तं०'[२५], 'मधुमान्नो'[२६] इन तीन ऋचाओं से मधुस्नान और शर्करा-स्नान कराये। इन दुग्ध आदि पांच वस्तुओं को पंचामृत कहते हैं।

अथवा पाद्य समर्पण के लिये कहे गये 'नमोस्तु नीलग्रीवाय०' इत्यादि मन्त्र द्वारा पंचामृत से स्नान कराये। तदनन्तर 'मानस्तोके०'[२७] इस मन्त्र से प्रेमपूर्वक भगवान् शिव को कटिबन्ध (करधनी) अर्पित करे। 'नमो धृष्णवे०[२८]' इस मन्त्र का उच्चारण करके आराध्य देवता को उत्तरीय धारण कराये। 'या ते हेतिः०'[२९] इत्यादि चार ऋचाओं को पढ़कर वेदज्ञ भक्त प्रेम

---

१९. तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।

२०. त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः। यजु० ३, ६०।

२१. पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयोधाः। पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम्। वही, १८, ३६।

२२ दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः। सुरभि नो मुखाकरत्प्रण आयूंषि तारिषत्। वही, २३, ३२।

२३. घृतं घृत पावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा। दिशः प्रदिश आदिशो विदिश उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा। वही, ६, १०।

२४. मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः। सन्त्वोषधीः। वही, १३, २७।

२५. मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिव ँ रजः मधु द्यौरस्तु नः पिता। वही, १३, २८।

२६. मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्य्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः। वही, १३, २९।

२७. मानस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे। वही, १६, १६।

२८. नमो धृष्णवे च प्रमृषाय च नमो निषङ्गिणे चेषुधिमते च नमस्तीक्ष्णेषवे चायुधिने च नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च। वही, १६, ३६।

२९. या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः। तयास्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परि भुज। (११) परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः। अथो य इषुधिस्तवारे अस्मिन्नि-धेहि तम् (१२) अवतत्य धनुष्ट्वँ सहस्राक्ष शतेषुधे। निशीर्य्य शल्यानां मुखा शिवो न सुमना भव (१३)। नमस्त आयुधायानातताय धृष्णवे। उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने (१४)। वही, १६।

से विधिपूर्वक भगवान् शिव के लिये वस्त्र (एवं यज्ञोपवीत) समर्पित करे। इसके बाद 'नमः श्वभ्यः०'[३०] इत्यादि मन्त्र को पढ़कर शुद्ध बुद्धि वाला भक्त पुरुष भगवान् को प्रेमपूर्वक गन्ध (सुगन्धित चन्दन एवं रोली) चढ़ाये। 'नमस्तेक्षभ्यो०'[३१] इस मन्त्र से अक्षत अर्पित करे। 'नमः पर्याय०'[३२] इस मंत्र से पुष्प चढ़ाये।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि भगवान् शंकर को चम्पा और केतिको का पुष्प नहीं चढ़ाया जाता[३३]। 'नमः पर्याय'[३४] इस मन्त्र से बिल्वपत्र समर्पित करे। 'नमः कपर्दिने च०'[३५] इत्यादि मन्त्र से विधिपूर्वक धूप दे। 'नमः आशवे०'[३६] इस ऋचा से शास्त्रोक्त विधि के अनुसार दीप निवेदन करे। तत्पश्चात् (हाथ धोकर 'नमो ज्येष्ठाय०'[३७] इस मंत्र से उत्तम नैवेद्य अर्पित करे। फिरपूर्वोक्त त्र्यम्बक मन्त्र से आचमन कराये। 'इमा रुद्राय०'[३८] इस ऋचासे फल समर्पित करे पुनः नमो व्रज्याय०'[३९] इस मंत्र से भगवान् शिव को अपना सब कुछ सम-

---

३०. नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च। यजु० १६, २८।

३१. नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्यः पुंजिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः। वही, १६,२७।

३२. नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेनपाय च। वही, १६, ४२।

३३. चम्पकं केतकं हित्वा त्वन्यत् सर्वं समर्पयेत्। शिव० २, १, १४, ३६।

३४. नमः पर्णाय च पर्णशदाय च नम उद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च। नम आखिदते च प्रखिदते च नम इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमो नमो वः किरिकेभ्यो देवानां हृदयेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो नमो नम आ निर्हतेभ्यः। यजु० १६, ४६।

३५. नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च। वही, १६, २९।

३६. नमः आशवे चाजिराय च नमः शीघ्र्याय च शीभ्याय च नम ऊर्म्याय चावस्वन्याय च नमो नादेयाय च द्वीप्याय च। वही, १६, ३१॥

३७. नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च नमो मध्यमाय चाप्रगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च। वही, १६, ३२।

३८. इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः। यथा वशमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्न नातुरम्। वही, १६, ४८।

३९. नमो व्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमस्तल्प्याय च गेह्याय च नमो हृदय्याय च निवेष्प्याय च नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च। वही, १६, ४४।

पित कर दे। तदन्तर 'मा नो महान्तम्०' तथा 'मानस्तोके' इन पूर्वोक्त दो मन्त्रों द्वारा केवल अक्षतों से ग्यारह रुद्रों का पूजन करे। फिर 'हिरण्यगर्भ०'[४०] इत्यादि मन्त्र से जो तीन ऋचाओं के रूप में पठित है, दक्षिणा समर्पित करे[४१]। 'देवस्य त्वा०'[४२] इस मन्त्र से विद्वान् पुरुष आराध्य देव का अभिषेक करे। दीप के लिये बताये हुए 'नम आशवे०' इत्यादि मन्त्र से भगवान् शिव की नीराजना करे। तत्पश्चात् 'इमा रुद्राय०' इत्यादि तीन ऋचाओं से भक्तिपूर्वक रुद्रदेव को पुष्पांजलि अर्पित करे। 'मा नो महान्तम्०' इस मन्त्र से विज्ञ उपासक पूजनीय देवता की परिक्रमा करे। फिर उत्तम बुद्धिवाला उपासक 'मा नस्तोके०' इस मन्त्र से भगवान् को साष्टांग प्रणाम करे। 'एष ते०' इस मन्त्र से 'शिवमुद्रा का प्रदर्शन करे। 'यतो यतः०'[४४] इस मन्त्र से अभयनामक मुद्रा का, 'त्र्यम्बकं०' मन्त्र से ज्ञान नामक मुद्रा का तथा 'नमः सेना०'[४५] इत्यादि मन्त्र से महामुद्रा का प्रदर्शन करे। 'नमो गोभ्यः०'[४६] इस ऋचा द्वारा धेनुमुद्रा दिखाये। इस तरह पांच मुद्राओं का प्रदर्शन करके शिवसम्बन्धी मन्त्रों का जप करे अथवा वेदज्ञ पुरुष 'शतरुद्रीय'[४७] मन्त्र की आवृत्ति करे। तत्पश्चात् वेदज्ञ पुरुष पंचांग पाठ करे। तदनन्तर 'देवा गातु'[४८] इत्यादि मन्त्र से भगवान् शंकर

---

४०. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम। यजु० १६।

४१. यह मन्त्र यजुर्वेद के अन्तर्गत तीन स्थानों में पठित और तीन मन्त्रों के रूप में परिगणित, है यथा—वही, १३, ४; २३, १; २५, १०।

४२. देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसा याभिषिचामि सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायाभिषिचामीन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभिषिचामि। वही, २०, ३।

४३. एष ते रुद्रभागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा। एष ते रुद्रभाग आखुस्ते पशुः। वही, ३, ५७।

४४. यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु। शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः। वही, ३, २३।

४५. नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्यो अरथेभ्यश्च वो नमो नमः। क्षत्तृभ्यः संग्रहीतृभ्यश्च वो नमो नमो महद्भ्यो अर्भकेभ्यश्च वो नमः। वही, १६, २६।

४६. नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च। नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः। (गोमती विद्या)

४७. यजुर्वेद का वह अंश, जिसमें रुद्र के सौ या उससे अधिक नाम आये हैं और उनके द्वारा रुद्रदेव की स्तुति की गई है। देखिये—यजु० अध्याय १६।

४८. देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित। मनसस्पत इमं देव यज्ञँ स्वाहा वाते धाः। यजु० ८, २१।

का विसर्जन करे। इस प्रकार शिवपूजन की वैदिक विधि का विस्तार से प्रतिपादन किया गया।

अब संक्षेप से भी पार्थिवपूजन की वैदिक विधि का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है:—

'सद्यो जातं०'[४९] इस ऋचा से पार्थिव लिङ्ग बनाने के लिये मिट्टी लाये। 'वामदेवाय०'[५०] इत्यादि मन्त्र पढ़कर उसमें जल डाले। (जब मिट्टी सनकर तैयार हो जाय तब) 'अघोर०'[५१] मन्त्र से लिङ्ग निर्माण करे। फिर 'तत्-पुरुषाय'[५२] इस मन्त्र से विधिवत् भगवान् शिव का उसमें आवाहन करे। तदनन्तर 'इशान०'[५३] मन्त्र से भगवान् शिव को वेदी पर स्थापित करे। इनके अतिरिक्त अन्य सब विधानों को भी शुद्धबुद्धि वाला उपासक संक्षेप से ही सम्पन्न करे। इसके बाद विद्वान् पुरुष पंचाक्षर मन्त्र से अथवा गुरुप्रदत्त अन्य किसी शैवमन्त्र से षोडश उपचारों द्वारा विधिवत् पूजन करे। अथवा:—

श्लोक – भवाय भवनाशाय महादेवाय धीमहि।
उग्राय उग्रनाशाय शर्वाय शशिमौलिने ॥ शिव० १, २०, ४३।

इस मन्त्र द्वारा विद्वान् उपासक भगवान् शंकर की पूजा करे। वह भ्रम छोड़कर उत्तम भक्तिभाव से शिव की आराधना करे, क्योंकि भगवान् शिव भक्ति से ही मनोवांछित फल देते हैं।

उक्त वैदिक विधि के अतिरिक्त यहाँ पूजा की एक और विधि निर्दिष्ट की जा रही है जो उत्तम होने के साथ ही सर्वसाधारण के लिये उपयोगी बतलाई गई है। इस प्रकार की पार्थिव लिङ्ग की पूजा भगवान् शिव के नामों से निर्दिष्ट की गई है। वह इस प्रकार है: —

---

४९. सद्यो जातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः।
भवे भवे नातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः॥

५०. ॐ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मथाय नमः।

५१. ॐ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्र-रूपेभ्यः।

५२. ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।

५३. ॐ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणो ब्रह्मा शिवो मेऽस्तु सदा शिवोम्।

हर, महेश्वर, शम्भु, शूलपाणि, पिनाकधृक्, शिव, पशुपति और महादेव ये क्रमशः शिव के आठ नाम कहे गये हैं। इनमें से प्रथम नाम के द्वारा अर्थात् 'ॐ हराय नमः' का उच्चारण करके पार्थिव लिङ्ग बनाने के लिये मिट्टी लाये दूसरे नाम अर्थात् 'ॐ महेश्वराय नमः' का उच्चारण करके लिङ्ग का निर्माण करे फिर 'ॐ शम्भवे नमः' बोलकर उस पार्थिव लिङ्ग की प्रतिष्ठा करे। तत्पश्चात् 'ॐ शूलपाणये नमः' कह कर उस पार्थिव लिङ्ग में भगवान् शिव का आवाहन करे। 'ॐ पिनाकधृषे नमः' बोलकर उसकी पूजा करे। फिर 'ॐ पशुपतये नमः' कहकर क्षमा प्रार्थना करे और अन्त में 'ॐ महादेवाय नमः' कहकर आराध्य देव का विसर्जन कर दे। प्रत्येक नाम के आदि में ओंकार और अन्त में चतुर्थी विभक्ति के साथ 'नमः' पद लगाकर आनन्द और भक्तिभाव से पूजन सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य करना चाहिये [५४]।

निश्चय ही नाम-पूजा-पद्धति सर्वसाधारण, विशेषकर शूद्रों के लिये बनाई गई है। यह पूजन की एक अवैदिक विधि है। ग्रन्थाकार को, इस पूजा की पद्धति को निर्दिष्ट करने के कारण लोग वैदिक विधि के प्रति उदासीन न समझने लग जायं अतः उन्होंने वैदिक विधि के प्रति भी पूर्ण आदराभिव्यक्ति की है[५५]। वैदिकविधि के प्रति उनकी यह पूर्ण आदराभिव्यक्ति ही यह व्यक्त करती है कि पुराण के उक्त सन्दर्भ के लिखे जाने तक शैवधर्म में द्विजेतर जातियों का भी समावेश हो चुका था और उन्हें भी अन्य वर्णों की भांति पूजन आदि का पूर्ण अधिकार था। किन्तु इतना होते हुये भी वे वैदिक पूजा एवं विधि के अधिकारी नहीं माने जाते थे। यह ब्राह्मण शैवों के प्रभाव का फल था अथवा शैवधर्म को वेदाविरुद्ध बनाने के प्रयत्न का परिणाम, अथवा दोनों का प्रभाव इस विषय में कार्य कर रहा था, इसका निर्णय असम्भव है।

षडक्षर मन्त्र से अङ्गन्यास और करन्यास करके ध्यान करना चाहिये। इसके बाद पंचाक्षर मन्त्र का जप, स्तवन, शतरुद्रियपाठ, प्रार्थना, परिक्रमा, स्तुति, गलशब्द, विज्ञप्ति एवं विसर्जन का क्रमिक विधान है।

---

५४. हरो महेश्वरः शम्भुः शूलपाणिः पिनाकधृक्।
शिवः पशुपतिश्चैव महादेव इति क्रमात्॥
मृदाहरणं संघप्रतिष्ठाह्वानमेव च।
स्थापनं पूजनं चैव क्षमस्वेति विसर्जनम्॥
ओंकारादि चतुर्थ्यन्तैर्नमोऽन्तैर्नामभिः क्रमात्।
कर्त्तव्याश्च क्रियाः सर्वा भक्त्या परमया मुदा॥ शिव० १, २०, ४७-४९।

५५. इत्यपि प्रोक्तमादृत्य वैदिकक्रमपूजनम्।
प्रोच्यतेऽन्यविधिः सम्यक् साधारणतया द्विजाः॥ वही, १, २० ४५।

भगवान् शंकर की पूजा का एक संक्षिप्त वर्णन यहां प्रस्तुत किया गया है। अब उक्त पूजा में प्रयुक्त होने वाले रुद्राक्ष, भूति, मन्त्र एवं नैवेद्य आदि का विवरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है। इनके बिना उक्तपूजा कथमपि नहीं पूर्ण हो सकती और नहीं कोई शिवाराधक शैव ही कहा जा सकता है। शैवसम्प्रदाय में इनका अद्वितीय महत्त्व स्वीकृत है।

(१) 'रुद्राक्ष'

धार्मिक सम्प्रदायों में, विशेषकर शैवसम्प्रदाय में, रुद्राक्ष की माला का धारण एवं उससे जप का बड़ा पुण्य बतलाया गया है। शिवमहापुराण के अनुसार यदि कोई व्यक्ति भगवान् शिव की अन्य उपासनाओं को न कर सकने पर केवल रुद्राक्ष ही धारण करता है तो वह एक चतुर्थांश में शिव-भक्त कहा जाता है[५६]।

रुद्राक्ष की उत्पत्ति के विषय में शिवमहापुराण[५७] में एक बड़ी ही मनोरंजक कथा है। एक समय जब भगवान् शंकर तपस्या में लीन थे; उसी समय उनका मन क्षुभित हुआ। जब उन्होंने अपना नेत्र खोला तब उनके सुन्दर नेत्रपुटों से जल के बिन्दु भूतल पर टपक पड़े। बस क्या था? उन बिन्दुओं से ही रुद्राक्ष के वृक्ष प्रादुर्भूत हुये। भक्तों के ऊपर परम अनुग्रह के कारण रुद्राक्ष वृक्ष के रूप में परिणत शिव-नेत्र बिन्दु स्थावरत्व को प्राप्त हो गये। तदनन्तर वे देव शिव के द्वारा विष्णु भक्तों एवं चतुर्वर्णों को प्रदान कर दिये गये। प्रथम संहिता के पच्चीसवें अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में कहा गया है कि भगवान् शंकर जी के आदेश से भूतल पर रुद्राक्ष की (१ ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय (३) वैश्य, एवं ४) शूद्र—ये चार जातियां उत्पन्न हुईं। शुभाक्ष (भद्राक्ष) भी रुद्राक्ष की जाति का ही है; अतः यह भी प्रायः उतना ही पवित्र है। उन ब्राह्मणादि जाति वाले रुद्राक्षों के वर्ण, श्वेत, रक्त पीत तथा कृष्ण जानने चाहिये। मनुष्यों को चाहिए कि वे क्रमशः वर्ण के अनुसार अपनी जाति का ही रुद्राक्ष धारण करें। भोग और मोक्ष की इच्छा रखने वाले चारों वर्णों के लोगों को और विशेषतः शिवभक्तों को शिव-पार्वती की प्रसन्नता के लिए, रुद्राक्ष के फलों को अवश्य धारण करना चाहिये।

धात्री (आमला) के फल के बराबर होने वाला रुद्राक्ष सर्वश्रेष्ठ, बदरी फल (बेर) के बराबर का मध्यम और चने के बराबर का रुद्राक्ष अधम कहा

---

५६. ......रुद्राक्षधारणाद् पादम्...... । शिव० १, १६, ११६ ।

५७. देखिये—वही, १।२५ अ० ।

गया है। अब कैसे रुद्राक्ष के जप से कैसा फल होता है, इसका विवेचन करते हुए कहते हैं कि बदरी फल के बराबर होने वाला रुद्राक्ष सुख एवं सौभाग्य को बढ़ाने वाला, धात्री फल के बराबर का समग्र अरिष्टविनाशक और गुंजा-फल के बराबर का सम्पूर्ण अरिष्टों को प्रदान करने वाला कहा गया है। रुद्राक्ष जितना अधिक छोटा होता है उतना ही अधिक फल-प्रद कहा गया है। एक बड़े रुद्राक्ष से एक छोटे रुद्राक्ष को दसगुना अधिक फल देने वाला बतलाया गया है।

सम, स्निग्ध, दृढ़, स्थूल, कण्टकयुक्त (उभरे हुये छोटे-छोटे दानों वाले) और सुन्दर रुद्राक्ष समस्त कामनाओं एवं भुक्ति तथा मुक्ति को प्रदान करने वाले कहे गये हैं। जिसे कीड़ों ने दूषित कर दिया हो, जो टूटा-फूटा हो जिसमें उभरे हुए दानें न हों, जो व्रणयुक्त हो तथा जो पूरा-पूरा गोल न हो, इन पाँच प्रकार के रुद्राक्षों को त्याग देना चाहिये। जिस रुद्राक्ष में अपने आप ही डोरा पिरोने के योग्य छिद्र हो गया हो, वही उत्तम माना गया है। जिसमें मनुष्य के प्रयत्न से छिद्र किया गया हो, वह मध्यम श्रेणी का होता है।

रुद्राक्ष धारण बड़े-बड़े पातकों का नाशक कहा गया है। ग्यारह सौ, साढ़े पांच सौ, तीन सौ साठ (ऐसा तीन अर्थात् १०८०) रुद्राक्ष-धारण का विशेष फल बतलाया गया है। रुद्राक्ष में एक से लेकर चौदह मुख तक होते हैं। प्रत्येक मुख वाले रुद्राक्ष के धारण का मन्त्र अलग-अलग है[५८]।

शिव महापुराण में कहा गया है कि जो प्राणी रुद्राक्ष धारण करते हैं उन्हें कभी भी यमपुरी का दर्शन नहीं करना पड़ता। अतः अपनी कल्याण-कामना वाले व्यक्ति को चाहिये कि वे अवश्य ही रुद्राक्ष धारण करें। सभी आश्रमों, समस्त वर्णों, स्त्रियों और शूद्रों को भी भगवान् शिव की आज्ञा के अनुसार सदैव रुद्राक्ष धारण करना चाहिये[५९]।

(२) भूति (भस्म)

भारतीय धार्मिक सम्प्रदाय अपने साथ कुछ अपनी ऐसी विशेषताओं को धारण करते हैं, जिन्हें देखते ही लोग यह पहचान कर लेते हैं कि अमुक व्यक्ति अमुक सम्प्रदाय का सदस्य है। भस्म एवं रुद्राक्ष धारण शैवों के अपने विशेष लक्षण हैं।

५८. विशेष के लिए द्रष्टव्य :—शिव० १।२५ अ०।

५९. सर्वाश्रमाणां वर्णानां स्त्रीशूद्राणां शिवाज्ञया।
धार्या सदैव रुद्राक्षाः .... ।। वही, १, २५, ४७।

शैवसम्प्रदाय में भूतिधारण अपना एक अलग ही वैशिष्ट्य रखता है। यदि भगवान् शिवजी में श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति उनकी अन्य उपासनाओं को न कर सके और केवल श्रद्धापूर्वक भस्म ही धारण करे तो वह अर्द्धांश में शिवभक्त कहा जाता है[६०]।

धारण करने वाले के सम्पूर्ण मंगलों को प्रदान करने वाली भस्म दो प्रकार की कही गई है—(१) महाभस्म और (२) स्वल्पभस्म। महाभस्म तीन प्रकार की कही गई है–श्रौत, स्मार्त और लौकिक। स्वल्प भस्म भी कई प्रकार की कही गई है। श्रौत एवं स्मार्त भस्म एकमात्र द्विजों के लिये ही विहित है और अन्य लोगों के लिये लौकिक भस्म का ही विधान है। द्विजाति मात्र के लिये वैदिक मन्त्र के उच्चारणपूर्वक भस्मधारण का विधान है और अन्य जनों को विना मन्त्र के ही भस्मधारण करना चाहिये।

जले हुये गोबर से प्रकट होने वाला भस्म आग्नेय कहलाता है और यह भी त्रिपुण्ड्र धारण करने के कार्य में आने वाला द्रव्य है। विद्वानों को चाहिये कि वे अग्निहोत्र के अनन्तर उत्थित (प्राप्त) भस्म को धारण करें। इसके अतिरिक्त अन्य यज्ञों से प्रादुर्भूत भस्म त्रिपुण्ड्र धारण करने में प्रशस्त कही गई है।

गोबर जलाकर निर्मित भस्म उन लोगों के लिये होनी चाहिये, जिन्हें या तो अग्निहोत्र अथवा किसी यज्ञ के करने का अधिकार नहीं है, अथवा संकट की अवस्था में जबकि अग्निहोत्रादि कार्य असंभव हों। इस प्रकार की भस्म कार्य-निर्वाह के लिये ही होनी चाहिये।

भस्मधारण-विधि के विषय में शिवमहापुराण में कहा गया है कि जाबाल उपनिषद् में लिखे हुये 'अग्निरित्यादि' सात मन्त्रों द्वारा जलमिश्रित भस्म से उद्धूलन (शरीर में लेपन) करना चाहिये। महर्षि जाबाल ने सभी वर्णों और आश्रमों के लिये मन्त्र से या विना मन्त्र के भी आदरपूर्वक भस्म से त्रिपुण्ड्र लगाने की आवश्यकता बतलाई है[६१]। श्रुति कहती है कि मोक्षार्थी प्रमाद से भी भस्म से उद्धूलन एवं तिर्यक् (तिरछा) त्रिपुण्ड्र धारण करना न छोड़े।

शिवमहापुराण अतीत की प्रथा का उल्लेख करते हुये ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र, संकर एवं अपभ्रंशों के द्वारा भी त्रिपुण्ड्र धारण का विधान करता

---

६०. अर्द्धं वै भूतिधारणात्............ । शिव० १, १६, ११६।

६१. वर्णानामाश्रमाणां च मन्त्रतोऽमन्त्रतोऽपि च।
त्रिपुण्ड्रोद्धूलनं प्रोक्तं जाबालैरादरेण च॥ वही, १, २४, ९।

है[६२]। जो प्राणी श्रद्धापूर्वक भस्मसे त्रिपुण्ड्र धारण एवं उद्धूलन नहीं करता वह लक्ष जन्म ग्रहण करने पर भी इस संसार से मुक्त नहीं होता। भस्म न धारण करने से केवल पुण्य भर ी न हो ऐसी बात नहीं, अपितु उद्धूलन एवं त्रिपुण्ड्र के अभाव में प्राणी महापातकी बन जाता है, ऐसा शास्त्रीय विधान है। इस प्रकार वर्णाचार और वर्ण की क्रिया भी लुप्त करने वाला महापातकी भी एकबार के भी त्रिपुण्ड्र के धारण से सब पापों से निर्मुक्त हो जाता है।

भक्त ब्राह्मण एवं क्षत्रिय 'मानस्तोके०' मन्त्र से वैश्य 'त्र्यम्बकं०' मन्त्र से तथा शूद्र पंचाक्षर मन्त्र से अभिमन्त्रित भस्म को धारण करे। विधवा स्त्रियों को चाहिये कि वे भस्म धारण में शूद्रों की प्रक्रिया का अनुसरण करें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण वर्ग भस्म धारण के अधिकारी हैं। केवल तान्त्रिक, ऊर्ध्व पुण्ड्र को धारण करने वाला तथा संतप्त-चक्रचिह्न से लांछित व्यक्ति ही इस शिवयज्ञ का अधिकारी नहीं है[६३]।

जिसके गात्र में रुद्राक्ष सुशोभित है, ललाट में त्रिपुण्ड्र लगा हुआ है ऐसा चाण्डाल भी पूज्य एवं वर्णों में उत्तम है। भस्मविहीन मस्तक, शिवालय रहित ग्राम ईश्वर के अर्चनरहित जन्म, शिवाश्रयविहीन विद्या ये सभी धिक्कार के पात्र हैं।

सम्पूर्ण तीर्थों में निवास एवं स्नान से जो पुण्य तथा फल प्राप्त होता है, वही पुण्य एवं फल केवल भस्मस्नान से भी प्राप्त हो जाता है। उज्ज्वल भस्म से त्रिपुण्ड्र धारण करने वाले और शरीर में भस्म पोतने वाले लोग यमपुरी की यात्रा कभी नहीं करते। भस्म धारण का प्रकार इस प्रकार है :—

भौंह (भ्रुकुटि) के मध्य से प्रारम्भ कर जहां तक भौंह का अन्त हो उतने प्रमाण तक का मस्तक में त्रिपुण्ड्र धारण करना प्रशस्त है[६४]।

(३) मन्त्र

भारतीय उपासना पद्धति में मन्त्रों का सर्वोच्च स्थान माना गया है। कोई भी धार्मिक कार्य मन्त्र के बिना पूर्ण नहीं माना जाता। भारतोय इतिहास

---

६२. ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैरपि च संकरैः।
अपभ्रंशैर्धृतं भस्म त्रिपुण्ड्रोद्धूलनात्मना ॥ शिव० १, २४, १२।

६३. न तान्त्रिकस्त्वधिकृतो नोर्ध्वपुण्ड्रधरो मुने।
सन्तप्तचक्रचिह्नोऽत्र शिवयज्ञे वहिष्कृतः ॥ वही, १, २४, ४६।

६४. भ्रुवोर्मध्यं समारभ्य यावदन्तो भवेद्भ्रुवोः।
तावत्प्रमाणं संधार्यं ललाटे च त्रिपुण्ड्रकम् ॥ वही, १, २४, ८५।

साक्षी है कि अतीत में मन्त्रों का महत्त्व न केवल धार्मिक कृत्य तक ही सीमित था, अपितु यह जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों को प्रभावित एवं व्याप्त किये हुये था।

मन्त्र-जप के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए शिवमहापुराण का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति, कार्य-कारणवश शिवपूजन के अन्य कार्यकलापों को पूर्ण न कर सकने पर केवल नाम मन्त्र का जप करता है तो वह पौन अंश में शिवभक्त कहलाने का अधिकारी है[६५]।

शिवमहापुराण में दो मन्त्रों—प्रणव एवं पंचाक्षर–का महत्त्व समान रूप से प्रतिपादित किया गया है। यहां दोनों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है :—

भारतीय धार्मिक साहित्य में वेदों से प्रारम्भ कर पुराणों एवं स्मृतियों तक में प्रणव की महिमा गाई गई है। प्रणव साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप कहा गया है। सम्पूर्ण विद्यायें, यहां तक कि सारा संसार प्रणव से ही प्रादुर्भूत कहा गया है। शिवमहापुराण में प्रणव का विवेचन इस प्रकार किया गया है।

'प्रणव' अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न संसार-सागर को पार (उत्तीर्ण) करने के लिये ॐ कार 'नव' नौकारूप है, अतः विद्वानों ने इसकी प्रणव संज्ञा की है अर्थात् प्रणव का जप संसार निवर्तक कहा गया है। अथवा ॐकार अपने जप करने वाले साधकों से कहता है—'प्र' अर्थात् प्रपंच, 'न' नहीं है, 'व' तुम में, अर्थात् आत्मा में कुछ भी प्रपंच नहीं है[६६]। अतः इस भाव को लेकर भी ज्ञानी पुरुष 'ॐ' को प्रणव नाम से जानते हैं। इसका दूसरा भाव इस प्रकार है—'अ' –प्रकर्षेण, न- नयेत्, व :–युष्मान् मोक्षमिति वा प्रणवः। अर्थात् यह तुम सब उपासकों को बलपूर्वक मोक्ष तक पहुँचा देगा। इस अभिप्राय से भी ऋषि-मुनि इसे प्रणव कहते हैं। अपना जप करने वाले योगियों के तथा अपने मंत्र की पूजा करने वाले उपासक के समस्त कर्मों का नाश करके यह दिव्य नूतन ज्ञान देता है; इसलिये भी इसका नाम प्रणव है। उन मायारहित महेश्वर को ही नव अर्थात् नूतन कहते हैं। वे परमात्मा प्रकृष्टरूप से नव अर्थात् शुद्धस्वरूप हैं, इसलिये प्रणव कहलाते हैं। प्रणव साधक को नव अर्थात् नवीन (शिवस्वरूप) कर देता है। इसलिये भी विद्वान् पुरुष उसे प्रणव के नाम से जानते हैं। अथवा प्रकृष्ट रूप से नव–दिव्य परमात्मज्ञान प्रकट करता है, इसलिये वह प्रणव है।

प्रणव के दो भेद बतलाये गये हैं–स्थूल और सूक्ष्म। एक अक्षर रूप जो 'ओम्' है, उसे सूक्ष्म प्रणव जानना चाहिये और 'नमः शिवाय' इस पांच

६५. ''''''त्रिपादं मन्त्रजाप्याच्च'''''' —। शिव० १, १६, ११६।
६६. प्रपंचो न नास्ति वो युष्माकं प्रणवं विदुः। वही, १, १७, ५।

अक्षर वाले मन्त्र को स्थूल प्रणव समझना चाहिये। जिसमें पांच अक्षर व्यक्त नहीं हैं, वह सूक्ष्म है और जिसमें पांचों अक्षर सुस्पष्ट रूप से व्यक्त हैं, वह स्थूल है[६७]। जीवन्मुक्त के लिये सूक्ष्म प्रणव के जप का विधान है। वही उसके लिये समस्त साधनों का सार है। वह अपनी देह का विलय होने तक सूक्ष्म प्रणव मन्त्र का जप और उसके सार-भूत परमात्मतत्त्व का अनुसन्धान करता रहता है। जब शरीर नष्ट हो जाता है, तब वह पूर्ण ब्रह्मस्वरूप शिव को प्राप्त कर लेता है। जो अर्थ का अनुसन्धान न करके केवल मन्त्र का जप करता है, उसे निश्चय ही योग की प्राप्ति होती है।

सूक्ष्म प्रणव भी ह्रस्व और दीर्घ के भेद से दो प्रकार का होता है—अकार, उकार, मकार, बिन्दु, नाद, शब्द, काल और कला—इनसे युक्त जो प्रणव है, उसे 'दीर्घ प्रणव' कहते हैं[६८]। वह योगियों के हृदय में निवास करता है। मकार पर्यन्त जो ओम् है, वह अ, उ, म–इन तीन तत्त्वों से युक्त है। इसी को 'ह्रस्व प्रणव' कहते हैं। 'अ' शिव है, 'उ' शक्ति है और मकार इन दोनों की एकता है। वह त्रितत्त्व स्वरूप है, ऐसा समझ कर ह्रस्व प्रणव का जप करना चाहिये। अपने समग्र कलुष को विनष्ट करने की अभिलाषा वाले प्राणी को चाहिये कि वह ह्रस्व प्रणव का जप करे।

जहाँ तक ह्रस्व प्रणव एवं दीर्घ प्रणव की महत्ता, विशिष्टता का प्रश्न है, उसे तो 'कँहि बड़ छोट कहत अपराधू' के अनुसार कहना कठिन अवश्य है, किन्तु ग्रन्थकार का कथन है कि प्रवृत्तिमार्गी पुरुषों को ह्रस्व प्रणव का और निवृत्तिमार्गी को दीर्घ प्रणव का जप करना चाहिये।

जहाँ तक ह्रस्व एवं दीर्घ प्रणव के उच्चारण का प्रश्न है वह तो समान ही होगा। ऐसी अवस्था में जपकर्ता के ध्यान के अतिरिक्त ह्रस्व एवं दीर्घ प्रणव का विभेदक अन्य मार्ग रह ही नहीं जाता। वह जिस प्रणव का जप करना चाहे उसका ध्यान करते हुये मुख से 'प्रणव' का उच्चारण करे।

---

६७. प्रणवं द्विविधं प्रोक्तं सूक्ष्मस्थूलविभेदतः।
सूक्ष्ममेकाक्षरं विद्यात् स्थूलं पंचाक्षरं विदुः।
सूक्ष्ममव्यक्तपंचार्णं सुव्यक्तार्णं तथेतरत्॥ शिव० १, १७, ८-९।

६८. अकारश्च उकारश्च मकारश्च ततः परम्।
बिन्दुनादयुतं तद्धि शब्दकालकलान्वितम्॥ वही, १, १७, १३।
दीर्घप्रणवमेवं हि योगिनामेव हृद्गतम्।
मकरान्तं त्रितत्त्वं हि ह्रस्वप्रणव उच्यते॥ वही, १, १७, १४।
शिवशक्तिस्तयोरैक्यं मकारं तु त्रिकात्मकम्॥ वही, १, १७, १५।

मन्त्रों के प्रारम्भ में, वेदमन्त्रों एवं सन्ध्यावन्दन के मन्त्रों के आदि में भी प्रणव के उच्चारण का विधान है। प्रणव के नवकोटि जप से मानवपूर्ण शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक क्रम पर नवकोटि जप करने का फल भी उत्तरोत्तर अधिक निर्दिष्ट किया गया है।

अपना कल्याण चाहने वाले प्राणी को चाहिये कि वह सर्वदा प्रणवरूपी शिव का ध्यान एवं जप करे। इस प्रकार के सतत अभ्यास से वह निःसंशय शिव ही हो जाता है। इसी प्रसंग में एक बार भगवान् शिव ने पार्वती से कहा है कि 'प्रणवार्थ परिज्ञान ही मेरा ज्ञान (मदात्मक ज्ञान) है। प्रणवनामक मन्त्र सम्पूर्ण विद्याओं का बीज है। गुणत्रयातीत, सर्वज्ञ, सर्वकृत्, प्रभु, सर्वग, देव, मैं 'ओम्' इस एकाक्षर मन्त्र में स्थित रहता हूं।'

भगवान् शिव ही प्रणव हैं और प्रणव ही शिव है, क्योंकि वाच्य और वाचक में परस्पर अत्यन्त भेद नहीं होता है। जब भगवान् शिव प्रणवरूप हैं, तभी तो वाच्य एवं वाचक की एकता को मानने वाले विद्वान् महर्षियों ने उन्हेंए काक्षर देव कहा है[६९]। जब प्राणी काशी में प्राण त्यागने लगता है उस समय उसकी मुक्ति की कामना से देव शंकर उसके कानों में, अप्रत्यक्ष-रूप से सब मन्त्रों के शिरोमणि इस प्रणव का ही उपदेश करते हैं।

अ, उ, म, ये तीन मात्रायें और बिन्दु, नाद इस प्रकार वर्ण-पंचक रूप प्रणव कहा गया है। ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों का प्राण होने के कारण भी इसको प्रणव कहते हैं। ॐ की निष्पत्ति बतलाते हुये कहा गया है कि आद्य वर्ण अकार है तदनन्तर उकार एवं मकार क्रमशः हैं। सब से अन्त में नाद है[७०]। अकार, उकार, मकार ये तीन मात्रायें क्रम से हैं और उनके बाद अर्द्धमात्रा बिन्दु-नाद स्वरूपिणी है[७१]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अकार, उकार, मकार और नाद-ये चार मात्रायें प्रणव की वेद में निर्दिष्ट हैं। यद्यपि समूह के रूप में ओंकार ब्रह्म

६९. शिवो वा प्रणवो ह्येष प्रणवो वा शिवः स्मृतः।
वाच्यवाचकयोर्भेदो नात्यन्तं विद्यते यतः॥ वही, ६, ३, ७।
तस्मादेकाक्षरं देवं मां च ब्रह्मर्षयो विदुः। वही, ६, ३, ८।

७०. आद्यं वर्णमकारं च उकारमुत्तरे ततः।
मकारं मध्यतश्चैव नादान्तं तस्य चोमिति॥ वही, ६, ३, १५।

७१. अकारश्चाप्युकारोऽयं मकारश्च त्रयं क्रमात्।
तिस्रो मात्राः समाख्याता अर्द्धमात्रा ततः परम्॥
अर्द्धमात्रामहेशानि बिन्दुनादस्वरूपिणी। वही, ६, ३, १७-१८।

महेश्वर का वाचक है, किन्तु उसकी एक एक मात्रायें भी उनके अंगभूत प्रधान देवों की वाचिका हैं। इस प्रकार अकार सृष्टि का बहुत बड़ा बीज, रजोगुण-विशिष्ट, स्रष्टा, चतुर्मुख ब्रह्मा है। उकार प्रकृति (माया) की योनि, सत्त्व-गुणविशिष्ट हरि है। बिन्दु तिरोभाव कर्ता महेश्वर देव है। सब पर अनुग्रह करने वाले सदाशिव ही नाद हैं[७२]। अ = ब्रह्मा, उ = विष्णु, म = महेश्वर भी कहीं कहीं ओं के अर्थ बतलाये गये हैं।

सनातनी श्रुति ने भी कहा है कि ओम् ही सब कुछ है। ओम् ही ब्रह्म है। यहां तक कि स्मृति-शास्त्रों, पुराणों में सर्वत्र शिव ही प्रधान रूप से प्रणव के अर्थ कहे गये हैं। सनातनी तैत्तिरीय श्रुति ने भी कहा है कि 'ओम् ही सब कुछ है'। 'तस्माद्वा एतस्माद्वात्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्यादि से प्रणव से ही जगत् की सृष्टि भी कही गई है[७३]।

यद्यपि परब्रह्म स्वरूप होने के कारण ओम् भगवान् शिव की भांति आदि अन्त हीन है, तथापि उसके प्रादुर्भाव के विषय में एक कथा शिवमहापुराण में आती है:— जिस समय 'कौन बड़ा है?' इस बात को लेकर ब्रह्मा एवं विष्णु में विवाद हुआ था उसी समय प्रादुर्भूत शिवलिङ्ग में ब्रह्म का प्रतिपादक सनाद शब्द लक्षण 'ओम्' यह एकाक्षर ब्रह्म उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही वह एक अक्षर चार प्रकार से विभक्त हो गया। उसमें अ, उ, म — ये तीन मात्रायें और इनके बाद आधी मात्रा—ये कुल चार (सार्द्धत्रय) मात्रायें हुईं। उनमें से उस लिङ्ग के दक्षिण भाग में अकार, उत्तर में उकार एवं मध्य में मकार तथा अर्द्धमात्रात्मक नाद शिरोभाग में स्थित हुआ। तदनन्तर वह प्रणव वेदों के रूप में विकार को प्राप्त हुआ। उन मात्राओं में से अकार ऋग्वेद, उकार यजुर्वेद, मकार सामवेद एव नाद अथर्ववेद हुआ[७४]।

ब्रह्मा और विष्णु के कलह के उपशमन के समय प्रादुर्भूत शिवलिंग समग्र संसार में सर्वप्रथम शिवलिंग था। उससे प्रणव के आविर्भाव की बात

---

७२. अकारस्तु महद्बीजं रजस्स्रष्टा चतुर्मुखः।
उकारः प्रकृतिर्योनिस्सत्त्वं पालयिता हरिः॥
मकारः पुरुषो बीजी तमः संहारको हरः।
बिन्दुर्महेश्वरो देवस्तिरोभाव उदाहृतः॥
नादः सदाशिवः प्रोक्तः सर्वानुग्रहकारक। शिव० ६, ३, २१-२३।

७३. ॐ इतीदं सर्वम्। (तै० उ० १, ८, १)।

७४. तत्राकारो ऋगभवदुकारो यजुरव्ययः।
मकारः साम संजातो नादस्त्वाथर्वणी श्रुतिः॥ शिव० ७, २, ३५, ७।

संबद्ध कर शैवाचार्यों ने शिवलिंग एवं प्रणव में प्रतिपाद्य एवं प्रतिपादक भाव का स्थापन तो किया ही है साथ ही शिवलिंग एवं उसकी पूजा की वेदाऽविरुद्धता भी प्रतिपादित की है, भले ही यह महत्त्वपूर्ण कार्य अनजान में ही क्यों न हुआ हो। इससे यह बात प्रमाणित हो जाती है कि जब से प्रणव है तब से लिंगपूजा प्रारम्भ है और जब से लिंगपूजा प्रारम्भ है तब से प्रणव भी है।

पंचाक्षर मन्त्र 'ॐ नमः शिवाय' प्रणव कहा गया है। वेद में तथा शैवागम में दोनों जगह यह षडक्षर (प्रणवसहित पंचाक्षर) मन्त्र समस्त शिव-भक्तों के सम्पूर्ण अर्थ का साधक कहा गया है। इस मन्त्र में अक्षर तो थोड़े ही हैं, परन्तु यह महान् अर्थ से सम्पन्न है। यह वेद का सार तत्त्व है, मोक्ष देने वाला है, शिव की आज्ञा से सिद्ध है, सन्देह शून्य है तथा शिवस्वरूप वाक्य है। यह नाना प्रकार की सिद्धियों से युक्त, दिव्य लोगों के मन को प्रसन्न एवं निर्मल करने वाला, सुनिश्चित अर्थवाला (अथवा निश्चय ही मनोरथ को पूर्ण करने वाला) तथा परमेश्वर का गम्भीर वचन है। इस मन्त्र का मुख से सुखपूर्वक उच्चारण होता है। सर्वज्ञ शिव ने सम्पूर्ण देहधारियों के सारे मनोरथों की सिद्धि के लिये इस 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्र का प्रतिपादन किया है। यही मन्त्र सम्पूर्ण विद्याओं का बीज है और यही षडक्षर मन्त्र आदि मन्त्र, अतिसूक्ष्म एवं महान् अर्थ से संवलित है।

ॐ इस एकाक्षर मन्त्र में तीनों गुणों से अतीत, सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता, द्युतिमान्, सर्वव्यापी प्रभु शिव प्रतिष्ठित हैं। ईशान आदि जो सूक्ष्म एकाक्षर रूप ब्रह्म हैं, वे सब 'नमः शिवाय' इस मन्त्र में क्रमशः स्थित हैं। सूक्ष्म षडक्षर मंत्र में पंचब्रह्मरूपधारी साक्षात् भगवान् शिव स्वभावतः वाच्यवाचक भाव से विराजमान हैं। अप्रमेय होने के कारण शिव वाच्य हैं और मन्त्र उनका वाचक माना गया है। शिव और मन्त्र का यह वाच्यवाचक भाव अनादिकाल से चला आ रहा है[75]। 'ॐ नमः शिवाय' यह षडक्षर शिववाक्य सम्पूर्ण शिवज्ञान एवं परम पद है। शिवात्मक यह मन्त्र विधि-वाक्य है, न कि अर्थवाद[76]।

मन्त्रों की बहुलता होने पर भी सर्वज्ञ शिव के द्वारा प्रणीत इस विमल मन्त्र के समान दूसरा मन्त्र नहीं है। सांगवेदशास्त्र इस षडक्षर मन्त्र में स्थित हैं। सप्तकोटि महामन्त्रों एवं बहुत प्रकार के उपमन्त्रों से यह षडक्षर मन्त्र

७५. वाच्यः शिवोऽप्रमेयत्वान्मन्त्रस्तद्वाचकः स्मृतः ॥
वाच्यवाचकभावोऽयमनादिः संस्थितस्तयो। शिव० ७, २, १२, १०-११।

७६. विधिवाक्यमिदं शैवं नार्थवादं शिवात्मकम्। वही, ७, २, १२, २१।

उसी प्रकार भिन्न है जैसे वृत्ति से सूत्र। जितनी विद्यायें हैं अथवा जितने भी शिवज्ञान हैं, वे सभी षडक्षर सूत्र के संक्षेप में भाष्य हैं। जिसने 'ॐ नमः शिवाय' यह मन्त्र अभ्यस्त कर रक्खा है, उसने सब कुछ पढ़ लिया है, सब कुछ सुन लिया है और सब कुछ कर लिया है। अन्त्यज, अधम, मूर्ख अथवा पण्डित जो कोई भी पंचाक्षर मन्त्र में निष्ठा करने वाला है, वह निःसन्देह पापपंजर से मुक्त हो जाता है। भगवान् शंकर का कथन है कि 'जो प्राणी भक्तिपूर्वक पंचाक्षर मन्त्र से एकबार भी मेरी पूजा करता है वह भी मन्त्र की महत्ता से मेरे स्थान को जाता है। अधिक कहने से क्या लाभ मेरे सभी भक्त पंचाक्षर मन्त्र के अधिकारी हैं। अतः वह श्रेष्ठतर है'[७७]।

अब इस परम विद्या के स्वरूप के विषय में कहा जा रहा है—आदि में नमः लगाना चाहिये और इसके बाद 'शिवाय' इस पद का प्रयोग करना चाहिये। शिवमहापुराण के अनुसार यह पंचाक्षरी विद्या सर्वप्रथम शिव के ही मुख से निकली है और उन्हीं की वाचिका भी है।[७८]।

मन्त्र-जप-विधि

उक्त मंत्रों का जप किसी भी साधक के लिये परम कल्याणकारी बतलाया गया है। किन्तु मंत्र-जप बच्चों की क्रीडा नहीं कि जभी चाहा तभी प्रारम्भ कर दिया। उसका भी एक शास्त्रीय विधान है और उस विधान के अनुसार ही जप करने से साधक पुण्य का भागी होता है अन्यथा उसके अकल्याण की ही सम्भावना बनी रहती है।

शिवमहापुराण के अनुसार मानस, उपांशु और वाचिक भेद से मंत्र-जप करने की विधि त्रिधा कही गई है। आगमार्थविशारदों के अनुसार मानस-जप उत्तम, उपांशु मध्यम और वाचिक अधम कहा गया है[७९]। जो ऊँचे-नीचे स्वर से युक्त तथा स्पष्ट और अस्पष्ट पदों एवं अक्षरों के साथ मन्त्र का वाणी द्वारा उच्चारण करता है, उसका यह जप 'वाचिक' कहलाता है। जिस जप में केवल जिह्वामात्र स्पन्दित होती है अथवा बहुत धीमे स्वर से अक्षरों का उच्चारण होता है तथा जो दूसरों के कान में पड़ने पर भी उन्हें कुछ सुनाई नहीं देता, ऐसे जप को 'उपांशु' कहते हैं। जिस जप में अक्षर पंक्ति का, एक

७७. किमत्र बहुनोक्तेन भक्ताः सर्वेऽधिकारिणः।
मम पंचाक्षरे मन्त्रे तस्माच्छ्रेष्ठतरो हि सः॥ शिव० ७, २, १३, २०।

७८. प्रथमं मन्मुखोद्गीर्णा सा ममैवास्ति वाचिका। वही, ७, २, १३, ४०।

७९. उत्तमं मानसं जाप्यमुपांशुश्चैव मध्यमम्।
अधमं वाचिकं प्राहुरागमार्थविशारदाः॥ वही, ७, २, १४, २५।

वर्ण से दूसरे वर्ण का, एक पद के बाद दूसरे पद का तथा शब्द और अर्थ का मन के द्वारा बराबर चिंतन मात्र होता है, उसे मानस जप कहते हैं[८०]। वाचिक से एक, उपांशु से सौ, मानसिक से सहस्रगुणा और आदि अंत में प्राणायाम से सगर्भ करने से उससे भी सौगुणा अधिक फल होता है। प्राणायाम से युक्त जप सगर्भ कहा गया है।

पांच, तीन अथवा एक प्राणायाम करना चाहिये। यह जपकर्त्ता की इच्छा पर निर्भर है कि वह अगर्भ प्राणायाम करे कि सगर्भ। किन्तु सगर्भ प्राणायाम श्रेष्ठतर बतलाया गया है। यद्यपि इस स्थल पर यह नहीं कहा गया है कि प्राणायाम को किससे सगर्भ करे, किन्तु मेरा यह अनुमान है कि प्राणायाम प्रणव के द्वारा सगर्भ किया जाता है। सगर्भ से सध्यान जप सहस्रगुण अधिक श्रेष्ठ कहा गया है।

अंगुली से जप की गणना करना एक गुणा बताया गया है। रेखा से गणना करना आठगुणा उत्तम समझना चाहिये। पुत्रजीव (जियापोता) के बीजों की माला से गणना करने पर जप का दशगुणा अधिक फल होता है। शंख के मनकों से सौ गुणा, मुंगों से हजार गुणा, स्फटिक मणि की माला से दस हजारगुणा, मुक्तामाला से लक्षगुणा, पद्माक्ष से दसलक्षगुणा, और सुवर्ण के निर्मल मनकों से गणना करने पर कोटिगुणा अधिक फल बतलाया गया है। कुश की गांठ से तथा रुद्राक्ष से गणना करने पर अनन्तगुणा फल की प्राप्ति होती है।

तीस रुद्राक्ष के दानों से बनाई गई माला जप-कर्म में धन देने वाली होती है। सत्ताईस की पुष्टिदात्री कही गई है। पच्चीस से मुक्ति, पन्द्रह से अभिचार फल की सिद्धि होती है। जपकर्म में अंगुष्ठ को मोक्षदायक समझना चाहिये और तर्जनी को शत्रुनाशक। मध्यमा धन देती है और अनामिका शान्ति-प्रदान करती है। एक सौ आठ दानों की माला उत्तमोत्तम मानी गई है। सौ दानों की माला उत्तम और पचास दानों की माला मध्यम होती है। चौवन दानों की माला मनोहारिणी एवं श्रेष्ठ कही गई है। माला को इस ढंग से रखकर जप करना चाहिये कि अन्य लोग उसे देख न सकें।

---

८०. यदुच्चनीचस्वरितैः स्पष्टास्पष्टपदाक्षरैः ।
मन्त्रमुच्चारयेद्वाचा वाचिकोऽयं जपः स्मृतः ।।
जिह्वामात्रपरिस्पन्दादीषदुच्चारितोऽपि वा ।
अपरैरश्रुतः किंचिच्छ्रुतो वोपांशुरुच्यते ।।
धिया यदक्षरश्रेण्या वर्णाद्वर्णं पदात्पदम् ।
शब्दार्थचिन्तनं भूयः कथ्यते मानसो जपः ।। शिव० ७, २, १४, २६-२८ ।

जप करने के समय माला किन अँगुलियों से घुमाई जाय, इसका भी पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। जप करने में कनिष्ठिका दुःखनाश करने वाली है। अगुष्ठ के बिना किया गया जप निष्फल होता है।

घर में किये हुए जप को समान या एकगुना समझना चाहिये। गोशाला में उसका फल सौ गुना हो जाता है, पवित्र वन अथवा उद्यान में किये हुये जप का फल सहस्रगुणा बताया जाता है। पवित्र पर्वत पर दश सहस्रगुणा नदी के तट पर लक्ष गुणा, देवालय में कोटिगुणा और शिव के निकट किया हुआ जप अनन्त गुणा कहा गया है। सूर्य, अग्नि, गुरु चन्द्रमा दीपक, जल, ब्राह्मण और गौश्रों के समीप किया हुआ जप श्रेष्ठ होता है। पूर्वाभिमुख किया हुआ जप वशीकरण में और दक्षिणाभिमुख जप अभिचार कर्म में सफलता प्रदान करने वाला है। पश्चिमाभिमुख जप को धनदायक जानना चाहिये और उत्तराभिमुख जप शांतिदायक होता है। सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, देवता तथा अन्य श्रेष्ठ पुरुषों के समीप उनकी ओर पीठ करके जप नहीं करना चाहिये। शिर पर पगड़ी (उष्णीश) रखकर, कुर्त्ता पहनकर, नंगा होकर, बाल खोलकर गले में कपड़ा लपेटकर अशुद्ध हाथ लेकर सम्पूर्ण शरीर से अशुद्ध रहकर तथा विलापपूर्वक कभी जप नहीं करना चाहिये। जप करते समय क्रोध, मद, छींकना, थूकना, जंभाई लेना, तथा कुत्तों एवं नीच पुरुषों की ओर देखना वर्जित है। यदि कभी वैसा सम्भव हो जाय तो आचमन करे अथवा शिव के सहित पार्वती का जप करे अथवा ग्रह नक्षत्रों का दर्शन करे अथवा प्राणायाम कर ले।

बिना आसन के बैठकर, सोकर, चलते चलते अथवा खड़ा होकर जप नहीं करना चाहिये। गली में अथवा सड़क पर अपवित्र स्थान में तथा अँधेरे में भी जप नहीं करना चाहिये। दोनों पाँव फैलाकर, कुक्कुट आसन से बैठकर सवारी या खाट पर चढ़कर अथवा चिन्ता से व्याकुल होकर साधक जप न करे। यदि शक्ति हो तो इन सब नियमों का पालन करते हुये जप करे और अशक्त पुरुष यथाशक्ति जप करे। अधिक विस्तार में न जाकर सार यही है कि सदाचारी मनुष्य शुद्धभाव से जप और ध्यान करके कल्याण का भागी होता है।

'शिव-नैवेद्य'

लोक में ऐसी प्रसिद्धि है कि शिव समर्पित नैवेद्य का भक्षण नहीं करना चाहिये। यह प्रसिद्धि न केवल आज ही प्रचलित है, अपितु इसका प्रचार

पुराणकाल एवं उससे पूर्व में भी था[८१]। किन्तु यह प्रसिद्धि शास्त्रीय सिद्धान्त की अनभिज्ञता के कारण ही है। शिवमहापुराण-विद्येश्वर संहिता के २२ वें अध्याय में शिव-नैवेद्य की प्रशंसा स्पष्ट रूप से की गई है। वहां लिखा है—'शिव नैवेद्य को देखनेमात्र से समस्त पाप दूर भाग जाते हैं। उसके खा लेने पर तो करोड़ों पुण्य अपने भीतर आ जाते हैं। आये हुये शिव नैवेद्य को शिर झुकाकर मुदित मन से ग्रहण करे और प्रयत्नपूर्वक शिव जी का स्मरण करके उसका भक्षण करे। जिसके मन में शिव-नैवेद्य के ग्रहण की इच्छा नहीं होती वह घोर पापी है और निश्चय ही नरकगामी होगा। शिव की दीक्षा से युक्त शिव भक्त पुरुष के लिये सभी शिवलिङ्गों का नैवेद्य शुभ और महाप्रसाद है। अतः वह उसका अवश्य भक्षण करे।'[८२]

इस प्रकार जो शिव मन्त्र से दीक्षित हैं, वे सभी लिंगों के नैवेद्य-भक्षण के अधिकारी हैं। किन्तु जिनकी अन्य दीक्षा है, उनके लिये शिवमहापुराण में इस प्रकार विचारपूर्ण निर्णय दिया गया है—'जिस स्थान में शालग्राम शिला की उत्पत्ति होती है, वहाँ के उत्पन्न लिंग को, पारद (पारा) के लिङ्ग को, पाषाण, रजत तथा स्वर्ण से निर्मित लिङ्ग को, देवता तथा सिद्धों के द्वारा प्रतिष्ठित लिङ्ग को, स्फटिक लिङ्ग को, रत्ननिर्मित लिङ्ग को, समस्त ज्योतिर्लिङ्गों को समर्पित श्री शिव का नैवेद्य-भक्षण चान्द्रायण व्रत के समान पुण्यजनक है। ब्रह्महत्या करने वाला पुरुष भी यदि पवित्र होकर शिव निर्माल्य भक्षण कर उसे धारण करे तो उसका सारा पाप नष्ट हो जाता है'[८३]।

इन वाक्यों से यह स्पष्ट है कि जिनकी शैवी दीक्षा नहीं है, वे भी उपर्युक्त लिङ्गों को समर्पित नैवेद्य भक्षण के अधिकारी हैं, परन्तु पार्थिव लिङ्ग प्रभृति के, अर्थात् जिनके नाम श्लोकों में नहीं आये हैं उनके नैवेद्य का भक्षण वे न करें। शैवी दीक्षा वाले तो सभी लिङ्गों के नैवेद्य के भक्षण के अधिकारी हैं[८४]।

जिनमें 'चण्ड' (चाण्डाल) का अधिकार है, मनुष्य उन निर्माल्यों या नैवेद्यों का भक्षण न करे[८५] और जिनमें चण्ड का अधिकार नहीं है, उनका

---

८१. शिवनिर्माल्यभोक्तार शिवनिर्माल्यलंघकाः।
शिवनिर्माल्यदातारः स्पर्शस्तेषामपुण्यकृत्॥ शिव० २, १, १७, २६।
अग्राह्यं शिवनैवेद्यमिति पूर्वं श्रुतं वचः। वही, १, २२, १।

८२. वही, १, २२, ४; ७, ६, ११।

८३. वही, १, २२, १२-१५।

८४. शिवदीक्षान्वितो भक्तो महाप्रसादसंज्ञकम्।
सर्वेषामपि लिंगानां नैवेद्यं भक्षयेच्छुभम्॥ वही० १, २२, ११।

८५. चण्डाधिकारी यत्राऽस्ति तद्भोक्तव्यं न मानवैः। शिव० १, २२, १६।

भक्तिपूर्वक भक्षण करना चाहिये[८६], यही व्यवस्था है। किन्तु शिव महापुराण के अनुसार अग्राह्य शिव नैवेद्य, पत्र, पुष्प, फल, जल ये सभी शालग्राम शिला के स्पर्श से पवित्र अतएव ग्रहण करने के योग्य हो जाते हैं[८७]।

बाणलिङ्ग (नर्मदेश्वर), लौह (सुवर्णादि धातुमय) लिङ्ग, सिद्धलिङ्ग (जिन लिङ्गों की उपासना से किसी ने सिद्धि प्राप्त की है, अथवा जो सिद्धों द्वारा प्रतिष्ठित हैं), स्वयम्भूलिङ्ग (केदारेश्वर प्रभृति)—इन लिङ्गों में तथा शिव की प्रतिमाओं में (मूर्तियों में), चण्ड का अधिकार नहीं है[८८]।

पूर्व प्रदर्शित जिन लिङ्गों में चण्ड का अधिकार है उनके विषय में भी शिवमहापुराण विशेष व्यवस्था देते हुये कहता है कि—'जो वस्तु लिङ्ग के ऊपर रक्खी जाती है, वह अग्राह्य है। जो वस्तु लिङ्गस्पर्श से रहित है अर्थात् जिस वस्तु को अलग रखकर श्री शिव जी को निवेदित किया जाता है, लिङ्ग के ऊपर नहीं चढ़ाया जाता-वह अत्यन्त पवित्र है'[८९]। ठीक इसी प्रकार का भाव लिङ्गार्चनतंत्र, द्वादशपटल में भी व्यक्त किया गया है[९०]।

उक्त सभी सामान्य वचनों के साथ विशेष वचनों की एकवाक्यता करने से यह सिद्ध होता है कि नर्मदेश्वर लिङ्ग, धातुमयलिङ्ग, रत्न-लिङ्ग सिद्ध-लिङ्ग—इन लिङ्गों के ऊपर चढ़ाये गये निर्माल्य का सब के लिये ग्रहण तथा भक्षण करना विधिसम्मत है। अन्य लिङ्गों के ऊपर चढ़ाए हुये नैवेद्य तथा निर्माल्यों का ग्रहण करना शास्त्रसम्मत नहीं है। शिवनिर्माल्य-ग्रहण तथा शिव-नैवेद्य भक्षण के निमित्त जो प्रायश्चित शास्त्र में कहे गये हैं, वे भी इन निषिद्ध नैवेद्य तथा निर्माल्यों के विषय में ही हैं।

शिवमहापुराण के अनुशीलन से वस्तुतः यही बात प्रतीत होती है कि पुराण काल से पूर्व और पुराण काल में भी शिव के प्रति लोगों में विद्वेष की भावना व्याप्त थी। यहां इतना भर ही कह देना पर्याप्त है कि उक्त विद्वेष-

---

८६. चण्डाधिकारो नो यत्र भोक्तव्यं तच्च भक्तितः। वही, १, २२, १६

८७. अग्राह्यं शिवनैवेद्यं पत्रं पुष्पं फलं जलम्।
शालग्रामशिलासंगात् सर्वं याति पवित्रताम् ॥ वही, १, २२, १९।

८८. बाणलिंगे च लौहे च सिद्धलिंगे स्वयंभुवि।
प्रतिमासु च सर्वासु न चण्डोऽधिकृतो भवेत् ॥ वही, १, २२, १७।

८९. लिंगोपरि च यद् द्रव्यं तदग्राह्यं मुनीश्वराः।
सुपवित्रं च तज्ज्ञेयं यल्लिङ्गस्पर्शबाह्यतः ॥ वही, १, २२, २०।

९०. यत् किंचिदुपचारं हि लिंगोपरि निवेदयेत्।
तन्निर्माल्यं महेशानि अग्राह्यं परमेश्वरि ॥ लिंगार्चनतन्त्र, १२ पटल।

भावना के कारण ही शिव का निर्माल्य अग्राह्य ठहराया गया था। यद्यपि शिवमहापुराण में उक्त भावना का समाधान करने का प्रयत्न किया गया है तथापि शिवनिर्माल्य की अग्राह्यता की भावना भी इसमें स्पष्टरूप से चित्रित हो गई है। वस्तुतः शिवमहापुराण में दो तरह की भावनाओं का चित्रण उसके काल में वैविध्य की ही सूचना देता है। निश्चय ही शिवमहापुराण के जिस अंश में निर्माल्य की अग्राह्यता प्रतिपादित है वह अपेक्षाकृत प्राचीन है और समाधान वाला अंश उसकी अपेक्षा अर्वाचीन ही प्रतीत होता है। शनैः शनैः शिव के प्रति पूर्वकाल की विद्वेष भावना समय के प्रवाह के साथ शिव की प्रतिष्ठावृद्धि होने पर, मृदुता में परिवर्तित होती गई और शिवनिर्माल्य भी कुछ अंश में ग्राह्य माना जाने लगा।

व्रत

सामान्य जनता एवं शैवसम्प्रदाय में शिवरात्रि का अपना एक विशिष्ट स्थान है। काशी आदि पवित्र शैवस्थलों में उस दिन व्रत न रहना घृणित कार्य माना जाता है। इस व्रत का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ, शिव महापुराण में इस विषय पर एक बड़ी ही मनोरंजक स्वल्पकाय कथा है :—

'एक समय कौन श्रेष्ठ है, इस बात को लेकर ब्रह्मा एवं विष्णु में महासमर हुआ। उनके कलह को शान्त न होते देख भगवान् शंकर ने अपने प्रताप से उसे शान्त किया। युद्ध-समाप्ति पर ब्रह्मा एवं विष्णु ने भगवान् शिव की पूजा की। उनकी उस पूजा से परम प्रसन्न हो भगवान् शंकर ने कहा था :—'आज के दिन मैं आप लोगों की पूजा से बहुत ही सन्तुष्ट हूं। इसलिये आज का यह दिन संसार में बहुत ही पवित्र एवं महत्त्ववाला होगा। आज की यह तिथि मुझे बहुत ही प्रिय है। लोक में यह तिथि शिवरात्रि के नाम से प्रसिद्ध होगी'[६१]। तभी से लोक में शिवरात्रि की परम्परा प्रचलित हुई एवं आज के इस भौतिक प्रधान वातावरण में भी उसका एक पवित्र तथा श्रेष्ठ स्थान है।

शिवरात्रि व्रत के माहात्म्य के प्रसंग में कहा गया है कि—लगातार एक वर्ष तक शिव की पूजा कर व्यक्ति जिस फल को प्राप्त करता है, वह फल शिवरात्रि के एक दिनात्मक पूजन से सद्यः प्राप्त होता है। मोक्ष के चारों उपायों में (भगवान् शिव की पूजा, रुद्रमंत्रों का जप, शिव मंदिर में उपवास, तथा काशी में मरण) शिवरात्रि व्रत सर्वश्रेष्ठ है। अतः भुक्ति एवं मुक्ति को चाहने

६१. दिनमेतत्ततः पुण्यं भविष्यति महत्तरम्।
शिवरात्रिरिति ख्याता तिथिरेषा मम प्रिया॥ शिव० १, ६, १०।

वाले व्यक्तियों को चाहिये कि वे यत्नपूर्वक शिवरात्रि व्रत को करें। यह व्रत सभी प्राणियों के लिये है, चाहे वे जिस जाति एवं लिङ्ग के हों[९२]।

शिवरात्रि व्रत के निर्णय को करते हुए कहा गया है कि—माघ के कृष्ण पक्ष में यदि त्रयोदशी अर्द्धरात्रि व्यापिनी हो तो उसे व्रत के लिये ग्रहण करना उचित है। वह अति श्रेष्ठ एवं हत्या कोटिनाशक बतलाई गई है[९३]।

इसके अतिरिक्त शिव के बहुत से व्रत हैं, जो भोग और मोक्ष प्रदान करने वाले हैं। उनमें मुख्य दश व्रत हैं, जिन्हें जाबाल श्रुति के विद्वान् 'दश शैवव्रत'[९४] कहते हैं। द्विजों को सदा प्रयत्नपूर्वक इन व्रतों का पालन करना चाहिये। कल्याणाकांक्षी व्यक्ति को चाहिये कि वह प्रत्येक अष्टमी को रात्रि में ही भोजन करे। विशेषतः कृष्णपक्ष की अष्टमी को भोजन का सर्वथा त्याग कर दे। शुक्ल पक्ष की एकादशी को भी भोजन छोड़ दे। किन्तु कृष्णपक्ष की एकादशी को रात्रि में शिव पूजन करने के पश्चात् भोजन किया जा सकता है। शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को शिवव्रतधारी पुरुषों के लिये भोजन का सर्वथा निषेध है। दोनों पक्षों में प्रत्येक सोमवार को प्रयत्नपूर्वक केवल रात्रि में ही भोजन करना चाहिए। सोमवार की अष्टमी और कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी—इन दो तिथियों को उपवासपूर्वक व्रत रहने से भगवान् शिव सन्तुष्ट होते हैं। किन्तु शिवरात्रि का व्रत सब व्रतों में श्रेष्ठतम है।

---

९२. निष्कामानां सकामानां सर्वेषां च नृणां तथा।
वर्णानामाश्रमाणां च स्त्रीबालानां तथा हरे॥
दासानां दासिकानां च देवादीनां तथैव च।
शरीरिणां च सर्वेषां हितमेतद् व्रतं वरम्॥ शिव० ४, ३८, २२-२३।

९३. माघस्यासिते पक्षे विशिष्टा सातिकीर्तिता।
निशीथव्यापिनी ग्राह्या हत्याकोटिविनाशिनी॥ वही, ४, ३८, २४।
टिप्पणी:—शुक्लपक्ष से मास का प्रारम्भ मानने से फाल्गुन मासकी कृष्ण त्रयोदशी माघमास की कही गई है। जहां कृष्णपक्ष से मास का आरम्भ मानते हैं; उनके अनुसार वहां माघ का अर्थ फाल्गुन समझना चाहिए।

९४. भूरि व्रतानि मे सन्ति भुक्तिमुक्तिप्रदानि च।
मुख्यानि तत्र ज्ञेयानि दससंख्यानि तानि वै।
दश शैवव्रतान्याहुर्जाबालश्रुतिपारगाः। वही, ४, ३८, ९-१०।

पंचम अध्याय

वर्णाश्रम-धर्म, लोकाचार एवं आभिचारिक क्रियायें

पुराणों ने सभी वर्णों एवं आश्रमों के लिये लोक तथा परलोक में आनन्द से जीवन व्यतीत करने का सबसे सुगम एव कल्याणप्रद मार्ग निर्धारित किया है। शिवमहापुराण के अनुसार वर्णाश्रम की व्यवस्था भी उसी समय से प्रचलित है, जिस समय से ब्रह्मा जी ने संसार की रचना प्रारम्भ की[1]। भगवान् शंकर का कथन है कि जो मानव अपने वर्णाश्रम धर्म में रत रहता है उसी की मुझ में श्रद्धा होती है, किसी अन्य की नहीं। आश्रमियों के सम्पूर्ण आम्नायसिद्ध धर्म को पूर्वकाल में भगवान् शंकर की आज्ञा से ब्रह्मा जी के द्वारा कहे जाने की बात उपलब्ध होती है।[2]

वैदिककाल में मान्यप्रणाली के अनुसार ही पौराणिक काल में भी वर्ण-व्यवस्था प्रचलित एवं मान्य थी। समाज में ब्राह्मणों को स्थिति सर्वश्रेष्ठ थी। क्षत्रियों को द्वितीय स्थान प्राप्त था। शूद्र सबके सेवक अर्थात् निम्न थे। उस समय तक वैदिक युग की यह धारणा कि भगवान् के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य एवं पैर से शूद्र प्रादुर्भूत हुये हैं[3]—पूर्णरूप से स्थापित एवं मान्य हो चुकी थी। धर्मग्रन्थों एवं पुराणों में उनके धर्म का सम्यक् निर्धारण हो चुका था, जिसका पालन प्रत्येक प्राणी का अवश्य कर्तव्य समझा जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष में चातुर्वर्ण्य एवं उसके लिये विहित आचार की चर्चा, अतिप्राचीन काल से, श्रुतियों एव स्मृतियों के माध्यम से चली आ रही है। प्रत्येक वर्ण के लिये निर्धारित आचार का कठोरता से पालन होता था। उसके विना वर्ण को कल्पना ही निराधार थी। वर्णाचार का पालन न करने वाला जाति-बहिष्कृत एवं कठोर रूप से दण्डनीय होता था।

---

१. वर्णाश्रमव्यवस्थां च चकार स पृथक् पृथक् ॥ शिव० ७, २, ८, ११।

२. स्ववर्णाश्रमधर्मेऽय वर्तते यस्तु मानवः।
तस्यैव भवति श्रद्धा मयि नान्यस्य कस्यचित् ॥
आम्नायसिद्धमखिलं धर्ममाश्रमिणामिह।
ब्रह्मणा कथितं पूर्वं ममैवाज्ञापुरःसरम् ॥ वही, ७, २, १०, १८-१९।

३. ब्रह्मणं ह मुखं प्राहुर्बाहुं क्षत्रियमेव च।
उरुजं वैश्यमाहुस्तें पादजं शूद्रमेव च ॥ वही, २, ५, ५६, २७।

ब्राह्मणों के लिये, श्रुतियों एवं स्मृतियों में निर्दिष्ट जो भी आचार हैं, उनमें कुछ का ही पालन करने वाला, थोड़ा वेद पढ़ा हुआ, राजसेवा में संलग्न ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं अपितु क्षत्रिय ब्राह्मण है। किंचित् आचार वाला कृषि वाणिज्य करने वाला ब्राह्मण वैश्य ब्राह्मण कहा जाता है। जो स्वयं हल जोते वह शूद्र ब्राह्मण है। निन्दा करने वाला परद्रोही चाण्डाल ब्राह्मण है।

पृथिवी का पालन करने वाला क्षत्रिय राजा और सर्वसाधारण क्षत्रिय माने गये हैं। धान्य बेचने वाला वैश्य वैश्य और सर्वसाधारण वणिक् कहे गये हैं। उक्त त्रिवर्ण की सेवा करने वाला शूद्र कहा गया है। कृषि करने वाला शूद्र 'वृषल' कहा जाता है। इन वर्णों का कर्त्तव्य है कि उषाकाल में निद्रा का परित्याग कर शय्या पर ही पूर्वाभिमुख स्थित हो अपने अपने इष्टदेवों का ध्यान कर, धर्म (अपनी आत्मिक उन्नति करने के काम), अर्थ (धनोपार्जन के मार्ग, एवं अर्थोपार्जन में पड़ने वाली आपत्तियों तथा अपने आय एवं व्यय पर पर्याप्त चिन्तन करें।

रात्रि का अन्तिम प्रहर ऊषा और उसका अन्तिम आधा प्रहर सन्धि कहलाता है। ब्राह्मण को चाहिये कि वह उसी समय उठ कर शौचादि कर्म करे। ब्राह्मण सविधि शौच दन्तधावन से निवृत्त हो, जल के देवता वरुण को नमस्कार कर मन्त्रोच्चारण करता हुआ कण्ठपर्यन्त अथवा कटिपर्यन्त जल में स्नान करे। यदि कण्ठ तक अथवा कटितक जल में खड़े होकर स्नान करने की क्षमता न हो तो जानुपर्यन्त जल में खड़ा हो मन्त्रपूर्वक स्नान करे, और वहां तीर्थ के जल से वहाँ के देवों तथा अपने इष्टदेवों आदि को तृप्त करे। धोती पहन कर, पंचकच्छ (दो आगे, बायें एवं दाहिने एक एक, पीठ पर एक) पहनना चाहिये। सम्पूर्ण धार्मिक कृत्यों में उत्तरीय धारण करना आवश्यक है। बुद्धिमान् प्राणी को चाहिये कि वह नदी, तीर्थस्थानों में साबुन आदि का प्रयोग न करें एवं स्नान करके छोड़े गये वस्त्रों को भी वहाँ न धोकर उन्हें वापी, कूप घर आदि स्थानों में ले जाकर धोवें। वस्त्र-प्रक्षालन की यह प्रक्रिया पत्थर की चट्टान पर, काष्ठ के पटरों पर, अथवा अपनी-अपनी सुविधानुसार जल में या स्थल में होनी चाहिये। तदनन्तर वस्त्र निचोड़ कर उसके जल से पितरों को तृप्त करने का विधान है।

शरीर के रुग्ण होने पर तथा राष्ट्र (राजा) के भय से एवं यात्रा काल में अस्पृश्य वस्तु के स्पर्श होने पर मन्त्र स्नान से ही मानव शुद्ध हो जाता है। प्रातःकाल सूर्यानुवाक् से और संध्या समय अग्नि अनुवाक् से आचमन कर मध्य में पुनः प्रोक्षण करे। पुनः गायत्री मन्त्र जप के अनन्तर तीन बार ऊपर की ओर जल फेंके और मन्त्र सहित मध्य में सूर्य को अर्घ्य दे। इस प्रकार

शास्त्रोक्त विधि से संध्या कृत्य को पूर्ण करके जीव और ब्रह्म को एक जानकर प्रणव का अभ्यास करे। प्रणव एवं गायत्री का जप करते हुये ब्रह्म एवं जीव में तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास करना चाहिये।

इस प्रकार सत्तर वर्ष की अवस्था तक नियम से रहने के अनन्तर संन्यास लेने का विधान है। संन्यासी को प्रतिदिन प्रातःकाल बारह हजार ओंकार का जप करना चाहिये।

इससे यह परिज्ञात होता है कि सत्तर वर्ष के पूर्व या शास्त्रोक्त विधि से जीवन-यापन करने के बिना संन्यास ग्रहण करना प्रशस्त नहीं है, क्योंकि निर्धारित समय के पूर्व प्रव्रजित होने से मार्ग-भ्रष्ट होने का भय बना रहता है। पूर्वाभ्यास के बिना वृद्धावस्था में एकाएक किसी कठिन नियम का अभ्यास या पालन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अतः शास्त्रकार ने पूर्वाभ्यास एवं सत्तर वर्षोत्तर अवस्था का संन्यास के लिये होना आवश्यक माना है।

यह मानव प्रकृति है कि वह किसी भी नियम के साधन में किसी न किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर प्रवृत्त होता है। अपनी उद्देश्यपूर्ति ही उसका लक्ष्य होता है।

धर्म से अर्थ (धन), अर्थ से भोग, भोग से वैराग्य उत्पन्न होता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि धर्मपूर्वक उत्पन्न अर्थ के भोग से ही वैराग्य उत्पन्न होता है और विपरीत अर्थात् अधर्म मार्ग से पैदा किये गये धन के भोग से वैराग्य के स्थान में राग (मोह) ही उत्पन्न होता है। धर्म द्विविध होता है—देह से क्रियमाण एवं धन से क्रियमाण। द्रव्य से यज्ञ आदि धर्म और शरीर से तीर्थाटन आदि धर्म होता है। धन से धन एवं तप से दिव्य रूप की उपलब्धि होती है।

जो व्यक्ति कामना विहीन भावना से अपना अवश्यकर्तव्य जानकर कर्म करता है वह शीघ्र ही पूत-पून हो जाता है। शुद्धि-प्राप्ति के अनन्तर ज्ञानोदय होता है। ज्ञानोदय के बाद प्राणी शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है, क्योंकि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' ऐसा आप्त वचन है।

धर्म, अधर्म एवं उसके परिणाम का विवेचन करते हुये कहा गया है कि हिंसा (प्राणिपीडन) ही अधर्म है तथा 'सुख' ही धर्म है। अधर्माचरण से दुःखोपलब्धि एवं धर्माचरण से सुखोपलब्धि होती है। मानव दुर्वृत्ति से दुःख प्राप्त करता है एवं सुवृत्ति से सुख। अतः भोग एवं मोक्षोपलब्धि हेतु धर्माचरण करना ही उचित है।

कुछ लोग यहां दी गई धर्म की परिभाषा पर यह आक्षेप कर सकते हैं कि ऐसी अवस्था में तो चोरों को सुख प्रदान करने वाली तस्करता भी धर्म

बन सकती है। किन्तु ऐसा आक्षेप प्रस्तुत करते समय उन्हें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि चोरों का अंतःकरण सर्वदा उनके गर्हित कर्म को कोसा करता है और आशंका अथवा शंका के कारण उन्हें वास्तविक सुखोपलब्धि दुर्लभ ही रहती है।

पीछे निर्देश किया जा चुका है कि धर्मपूर्वक अर्जित किये गये धन के भोग से वैराग्य उत्पन्न होता है और अधर्म द्वारा अर्जित धन से राग (मोह) उत्पन्न होता है। अतः धनोपार्जन के समुचित मार्ग को बतलाते हुये कहते हैं कि ब्राह्मण को चाहिये कि वह धनोपार्जन के लिये समुचित काम करे—दूसरों से दान ले, यज्ञ करावे। शुद्धता से, उदासीनता से, बिना बहुत श्रम किये सन्मार्ग से द्रव्यार्जन करे। इनके अतिरिक्त ब्राह्मणों के कुछ विशेष धर्म भी बतलाये गये हैं, जिनका पालन प्रत्येक ब्राह्मण का अनिवार्य धर्म है। ये विशेष धर्म हैं—क्षमा, शान्ति, सन्तोष, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, शिवज्ञान, वैराग्य, भस्म-सेवन और सब प्रकार की आसक्तियों से निवृत्ति[४]।

शिवमहापुराण में ब्रह्मणों के तीन विभाग किये गये हैं—उत्कल ब्राह्मण, पश्चिमी ब्राह्मण, और पौरस्त्य ब्राह्मण। इसके विषय में उमासंहिता के षट्त्रिंशत् अध्याय में एक कथा दी गई है—'एक समय वैवस्वत मनु पुत्र-कामना से यज्ञ कर रहे थे। उनके यज्ञ से एक दिव्य शरीरधारिणी, अति सुन्दर ईडा नामक कन्या उत्पन्न हुई। उसने मनु से कहा 'आप मेरा अनुगमन करें, मैं मित्रावरुण के समीप चल रही हूँ, क्योंकि मेरी उत्पत्ति उन्हीं के अंश से हुई है। मेरी अधर्म में स्वल्प भी रुचि नहीं है।' ऐसा कह कर वह मित्रावरुण के समीप गई और हाथ जोड़कर उन दोनों से कहा 'मैं आप दोनों के अंश से उत्पन्न हुई हूं। बतलाइये अब क्या करूँ?' उत्तर में मित्रावरुण ने कहा—'हम दोनों तुम्हारे इस प्रश्रय (शालीनता), दम एवं सत्य से प्रसन्न हैं। भविष्य में तुम हम दोनों की प्रसिद्धि को प्राप्त करोगी तथा तुम्हीं, आगे चलकर मनुवंश को बढ़ाने वाला पुत्र होओगी। उस समय तुम्हारा नाम सुद्युम्न होगा[५]। तुम्हारी ख्याति त्रिलोकी में विस्तृत होगी और तुम जगत्प्रिय, धर्मशील एवं मनुवंश-बर्धन होओगी।' तदनन्तर जब ईडा अपने पिता के घर जा रही थी तब

---

४. क्षमा शान्तिश्च सन्तोषः सत्यमस्तेयमेव च।
ब्रह्मचर्यं मम ज्ञानं वैराग्यं भस्मसेवनम्॥
सर्वसंगनिवृत्तिश्च दशैतानि विशेषतः। शिव० ७, २, ११, ९-१०।

५. मनोर्वंशकरः पुत्रस्त्वमेव च भविष्यसि॥ वही, ५, ३६, १२।
सुद्युम्न इति विख्यातस्त्रिषु लकोषु विश्रुतः॥ वही, ५, ३६, १३।

मार्ग में उसने बुध के साथ मैथुन किया। कालान्तर में उससे, फलस्वरूप, पुरुरवा का जन्म हुआ[६]। पुत्र पुरुरवा के उत्पन्न होने के अनन्तर भगवान् शंकर की कृपा से ईडा सुद्युम्न हो गई। सुद्युम्न के तीन दायाद पुत्र उत्कल, गय और विनताश्व थे। वे सभी बड़े ही धर्मशील थे। समय आने पर उत्कल से उत्कल ब्राह्मण, विनताश्व से पश्चिमी ब्राह्मण और गय से पौरस्त्य ब्राह्मण प्रवर्तित हुये[७]।

ब्राह्मणों का यह विभाग अन्य दृष्टि की अपेक्षा भौगोलिक अधिक प्रतीत होता है। इन्हीं तीन विभागों में भारत के सम्पूर्ण ब्राह्मणों को विभक्त किया गया है। अतीत में राज्य की सीमाएँ अनिश्चित हुआ करती थीं। वे कभी बढ़ती थीं तो कभी घटती थीं। राज्य का यह बढ़ाव-घटाव वहां के राजा के विजय-पराजय पर आधृत होता था। अतः कहाँ तक उत्कल माना जाता था और कहाँ से पूर्व एवं पश्चिम की सीमायें प्रारम्भ होती थीं, यह इतिहास के सूक्ष्म अध्ययन का विषय है। इस पर यहां विचार नहीं हो सकता।

क्षत्रिय का भुजबल से ही धनार्जन प्रशस्त माना गया है। भारत का अतीत राजतन्त्रीय था। शासक बहुधा क्षत्रिय ही हुआ करते थे। प्राणियों की विनाश से रक्षा करना ही क्षत्रिय (राजा) का प्रधान कर्तव्य माना जाता था। यदि किसी भांति राज्य उक्त कर्तव्य से विपरीत वृत्ति वाला हो जाता था, प्रजा अपने धर्म के पालन में शिथिल हो जाती थी, तो राजा लोग उपक्रोश से मलीमस अपने प्राणों का भी धारण करना पसन्द नहीं करते थे[८]।

शिवमहापुराण में भी प्रसंगवश यत्र-तत्र राजाओं के कर्त्तव्यों का निरूपण किया गया है। भक्त राजा भद्रायु की परीक्षा के प्रसंग में द्विजेश्वर रूप धारी भगवान् शंकर ने व्याघ्र से अपनी स्त्री की रक्षा न की जा सकने पर राजा से क्षत्रिय एवं राजधर्म की व्याख्या प्रस्तुत करते हुये इस प्रकार कहा है—'दुःख से प्राणियों की रक्षा करना, क्षत्रियों का परम धर्म है। जब वह कुलो-

---

६. बुधेनान्तरमासाद्य मैथुनायोपमन्त्रिता ।। शिव० ५, ३६, १४।
सोमपुत्रात्ततो जज्ञे तस्यां राजा पुरुरवाः। वही ५, ३६, १५।

७. सुद्युम्नस्य तु दायादास्त्रयः परमधार्मिकाः।
उत्कलश्च गयश्चापि विनताश्वश्च वीर्यवान् ।।
उत्कलस्योत्कला विप्रा विनताश्वस्य पश्चिमाः।
दिक्पूर्वा मुनिशार्दूल गयस्य तु गयाः स्मृताः। वही, ५, ३६, १७-१८।

८. क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ।। रघुवंश०।

चित धर्म ही नष्ट हो गया तो तुम्हारे (राजा के) जीवित रहने से क्या लाभ[९]? धर्मज्ञ राजा लोग दुःखी और शरणागतों की प्राणों एवं धन से भी रक्षा करते हैं। यदि वे ऐसा नहीं कर सकते तो उन्हें मृतक समान समझना चाहिये। जो राजा दुखियों को रक्षा नहीं करते हैं, उनका तो जीने से मरना ही श्रेयस्कर है। इसी प्रकार जो धनिक होकर भी दान से रहित हैं, उनका गृहस्थ होने से भिक्षु होना ही श्रेष्ठ है। समर्थ रहते हुये कृपण, अनाथ एवं दीनों की रक्षा न करने से बुद्धिमानों को विष ही खा लेना उत्तम है, अग्नि में प्रवेश कर जाना श्रेष्ठ है, किन्तु प्राण-धारण प्रशस्त नहीं।'

'सम्पूर्ण वर्णों की रक्षा, युद्ध में शत्रु का बध, दुष्ट पक्षी, मृग एवं मनुष्यों का नाश करना, सर्वत्र अविश्वास किंतु शिवयोगियों में विश्वास, काल में स्त्री संसर्ग, सैन्य रक्षण, सर्वदा विचरण करने वाले दूतों से लोक-वृत्तान्त का ज्ञान, सदा अस्त्र धारण, भस्म कंचुक धारण ये सब राजाओं के धर्म संग्रह के लिए कर्तव्य निर्दिष्ट किये गये हैं[१०]।

भारतीय धर्मशास्त्र धर्मपूर्वक प्रजापालन में जितने धर्म का निर्देश करता है, उतना तपस्या में भी नहीं बतलाता। शिवमहापुराण में कथा आती है कि जिस समय राजा युवनाश्व तपस्या करने के लिये वन प्रस्थान कर रहे थे, उस समय उनको समझाते हुए उत्तंक ने कहा है—'राजन्! इस संसार में प्रजापालन में जैसा महा धर्म दिखलाई पड़ता है वैसा अरण्य जाने में नहीं, अतः तुम्हारी वनगमन की इच्छा न हो[११]। पूर्वकाल के राजर्षियों ने कहा है कि प्रजाओं के पालन में जैसा धर्म है, वैसा धर्म कहीं भी नही है[१२]।' इससे यह

---

९ क्षत्रस्यायं परो धर्मो क्षताच्च परिरक्षणम्।
तस्मिन् कुलोचिते धर्मे नष्टे त्वज्जीवितेन किम्॥ शिव० ३, २७, २५।

१०. रक्षणं सर्ववर्णानां युद्धे शत्रुवधस्तथा।
दुष्टपक्षिमृगाणां च दुष्टानां शातनं नृणाम्॥
अविश्वासश्च सर्वत्र विश्वासो मम योगिषु।
स्त्रीसंसर्गश्च कालेषु चमूरक्षणमेव च॥
सदा संचारितैश्चारैर्लोकवृत्तान्तवेदनम्।
सदास्त्र-धारणं चैव भस्मकंचुकधारणम्॥
राज्ञां ममाश्रमस्थानामेष धर्मस्य संग्रहः। वही, ७, २, ११, १३-१६।

११. पालने हि महाधर्मः प्रजानामिह दृश्यते॥
न तथा दृश्यतेऽरण्ये मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी। वही, ५, ३१, २१।

१२. ईदृशो नहि राजेन्द्र क्वचिद्धर्मः प्रविद्यते।
प्रजानां पालने यादृक् पुरा राजर्षिभिः कृतः॥ वही, ५, ३७, २२।

बात पूर्ण स्पष्ट हो जाती है कि धर्मपूर्वक प्रजा-पालन प्रत्येक भारतीय राजा का प्रथम आवश्यक कर्म था। इससे विमुख होने पर उसे ऐहिक एवं आमुष्मिक किसी भी प्रकार का सुख नहीं मिलता था।

प्रजासंरक्षण में राजाओं को युद्ध का आश्रय लेना पड़ता था। भारत का अतीत रणचर्चाओं एवं प्रशंसाओं से भरा पड़ा है। युद्ध में न केवल क्षत्रिय राजा ही भाग लेते थे, अपितु ऋषियों, मुनियों के भाग लेने की चर्चायें भी उपलब्ध होती हैं। महर्षि वशिष्ठ एवं विश्वामित्र का वैर एवं युद्ध अतीत के इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

मुगलों के आने के पूर्व, अशोक एवं गुप्त राजाओं एवं हर्ष (६०६–६४२) के राज्यकाल को छोड़कर शेष समय में विशाल भारत छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था। उस समय किसी न किसी समस्या को लेकर, जिसमें राज्य-विस्तार प्रमुख था, युद्ध छिड़ा ही रहता था। वैसे समय में यह स्वाभाविक था कि प्रत्येक प्राणी युद्धप्रिय रहा हो और राष्ट्र (राज्य) रक्षार्थं युद्ध में सम्मिलित होने के लिए एवं चाहे प्राण भले ही चले जांय किन्तु युद्ध से न भागने के लिए ही उसको (युद्ध को) धार्मिक रूप प्रदान किया गया होगा। फलतः श्रुति स्मृति पुराण एवं अन्य धार्मिक, साहित्य भी युद्ध-प्रशंसा से भरे पड़े हैं।

जिस समय रुद्र का वीर भद्र नामक गण तारक असुर से युद्ध कर रहा था उस समय वर के प्रभाव से प्रबल असुर तारक की मृत्यु केवल शिवपुत्र से ही होगी इस बात का स्मरण कर नारद ने जब वीरभद्र से युद्ध से निवृत्त होने की बात कही तब कुछ क्रुद्ध हुये वीरभद्र ने कहा था—'अस्त्र-शस्त्रों से आहत शरीर वाले जो लोग युद्ध करते हैं वे इस लोक और परलोक में प्रशंसा एवं सुख के भागी होते हैं[१३]।' इसी प्रकार रुद्र एवं जलन्धर के युद्ध के समय रण से भागते हुये शूरों के प्रति जलन्धर ने कहा था कि—'सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाली युद्ध-मृत्यु श्रेष्ठ है, क्योंकि संग्राम में मरने से यश मिलता है और मिलता है मोक्ष भी[१४]। जो रण में सम्मुख होकर मर जाता है वह सूर्यमण्डल का भेदन कर उस परम पद को जाता है, जहां कि परम ज्ञानी परिव्राजक जाते हैं[१५]।' उस समय जन-जन के मानस पर यह भावना छायी हुई थी कि

१३. शस्त्रास्त्रैर्भिन्नगात्रा ये रणं कुर्वन्ति निर्भयाः।
इहामुत्र प्रशंस्यास्ते लभन्ते सुखमद्भुतम् ॥ शिव०, २, ४, ८, २५।

१४. रणे मृत्युर्वरश्चास्ति सर्वकामफलप्रदः।
यशःप्रदो विशेषेण मोक्षदोऽपि प्रकीर्तितः ॥ वही, २, ५, २२, १७।

१५. सूर्यस्य मण्डलं भित्वा यायाद्वै परमं पदम्।
परिव्राट् परमज्ञानी रणे यः सम्मुखे हतः ॥ वही, २, ५, २२, १९।

'अत्यधिक मान धन वाले जो लोग रणांगण में अपने स्वामी को छोड़कर भाग जाते हैं, वे अन्त में निश्चय ही अन्धतामिस्र नामक नरक में पड़ते हैं। युद्धांगण से पलायन करने वाले मानव अपनी कीर्ति को अयशरूपी अंधकार से अत्यन्त मलिन करके इस लोक एवं परलोक में सुखी नहीं हो सकते। पुनर्जन्मस्वरूप मल को नष्ट करने वाले युद्धरूपी तीर्थ में यदि स्नान कर लिया तो फिर दान, तप और तीर्थों में मज्जन करने से क्या लाभ[१६] ?'

युद्ध और क्षत्रिय का पौराणिक युग में कैसा सम्बन्ध था ? इसका परिचय शिवमहापुराण की एक कथा से भलीभाँति मिल जाता है। एक समय की बात है, अनिरुद्ध बाणासुर के यहां वन्दी थे। कुम्भाण्ड ने उन्हें बाणासुर से क्षमा मांग कर छूट जाने की सम्मति दी। इस पर वीर अनिरुद्ध ने जो उत्तर दिया वह, विपत्ति में पड़े हुये भी वीर के साहस का परिचायक है। उनका उत्तर साहस, उत्साह एवं गम्भीरता से आप्लावित था। उन्होंने कहा—'शत्रु के सम्मुख दैन्य प्रदर्शित करना अथवा रण से पलायन करना शूर-वीर प्राणी के लिये मरण से भी अधिक कष्टकर है। पलायन एवं प्रार्थना ये दोनों धर्म-विरुद्ध एवं शूल के समान दुःखदायक हैं। वीर एवं मानी क्षत्रिय का संग्राम के सम्मुख होकर मर जाना श्रेयस्कर है, किन्तु दैन्यपूर्वक हाथ जोड़कर भूमि पर नम्र होना कल्याणप्रद नहीं।'

यद्यपि पौराणिक युग में और उसके भी पूर्व यज्ञ आदि ब्राह्मण-सम्बन्धी शान्त कर्मों की प्रधानता थी। उन्हीं का चतुर्दिक् प्रभाव परिलक्षित होता था। ब्राह्मण की भांति क्षत्रिय भी इन्हीं यज्ञों को पूर्ण करने में अपना गौरव समझते थे। किन्तु एकमात्र इन्हीं बड़े बड़े यज्ञों से ही देश का काम न चलने वाला था। राष्ट्र-रक्षार्थ युद्ध की भी आवश्यकता थी, अतः उस पर धार्मिकता का आवरण डाला गया। लोगों में यह भावना भरी गई कि संग्राम में युद्ध करके मरने से जिस फल की प्राप्ति होती है वह अत्यन्त दक्षिणा वाले अग्निष्टोम आदि यज्ञ से भी नहीं प्राप्त होता। शत्रुसैन्य का मर्दन करते हुये जो शूर युद्ध चाहता है उसे धर्म, अर्थ एवं यशलाभ होता है। जो वीर शत्रु को समक्ष देखकर युद्धार्थ यान पर अधिरोहण करता है वह धर्म, अर्थ, काम और सदक्षिण यज्ञ का फल प्राप्त करता है[१७]।

१६. किं दानैः किं तपोभिश्च किं तीर्थपरिमज्जनैः।
धारातीर्थे यदि स्नानं पुनर्भवमलापहे॥ शिव० २, ५, ४८, १६।

१७. तस्य धर्मार्थकामाश्च यज्ञश्चैव सदक्षिणः।
परं ह्यभिमुखं दत्त्वा तद्यानं योऽधिरोहति॥ वही, ४, २१, २३।

जो व्यक्ति युद्ध में पराजित नहीं होता उसे भगवान् विष्णु के लोक की प्राप्ति होती है और वह अश्वमेधों के फल का भाजन होता है। जो क्षत्रिय (वीर) शस्त्रों का बिना परित्याग किये सैन्य के सम्मुख होकर मर जाता है वह पुनः कभी स्वर्ग से लौटता नहीं। युद्ध की प्रशंसा में शास्त्रों का तो यहाँ तक कथन है कि राजा हो अथवा राजपुत्र या सेनापति, चाहे जो हो यदि वह संग्राम करते हुये क्षत्रिय शूर (योद्धा) से मारा जाता है तो वह अक्षय लोक को प्राप्त होता है। बड़े युद्धों में अस्त्रों से मरने वाले वीर के जितने रोम भेदित होते हैं, सम्पूर्ण मनोरथों को पूर्ण करने वाले, उसे उतने ही अक्षय लोक प्राप्त होते हैं। वीरासन, वीरशय्या, वीरस्थान की स्थिति इस लोक तथा परलोक में स्थिर रहती है। जो प्राणी, गो, ब्राह्मणस्थान और अपने स्वामी के लिये मरते हैं, वे उसी प्रकार सुखपूर्वक परलोक यात्रा करते हैं, जिस प्रकार बड़े बड़े पुण्यात्मा जन जाते हैं[१८]।

प्राचीन काल में युद्ध की भी दृष्टि से ब्राह्मणों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था। उनकी शूरता, वीरता जगद्विदित थी। परशुराम, आचार्य द्रोण एवं अश्वत्थामा ऐसे ही ब्राह्मण वीर थे। इसीलिये युद्ध के फल-वर्णन प्रसंग में शिवमहापुराण में कहा गया है कि जो व्यक्ति ब्राह्मण को युद्ध में मारकर प्राणों को छोड़ता है वह कभी भी स्वर्ग से पतित नहीं होता[१९]। उस काल में ब्राह्मणों की युद्धप्रियता युद्ध के यज्ञाधिक अथवा यज्ञसमकक्ष फलप्रद होने के ही कारण रही होगी।

सम्पूर्ण वर्णों का, विशेषतया क्षत्रिय का, युद्ध पुण्यफल को देने वाला, स्वर्गप्रद, पावन तथा सर्वतोमुख कहा गया है। युद्ध में सम्मुख आते हुये, मारने की इच्छा करने वाले, आततायी वेदान्ती ब्राह्मण को भी मार डालना चाहिये। उसके मारने से ब्रह्महत्या का पातक भी नहीं लगता है। किन्तु व्याधियुक्त, दुर्बल, बालक, स्त्रीनाथ, कृपण, धनुर्भग्न, छिन्नगुण, को नहीं मारना चाहिये। इनको मारने से मनुष्य ब्रह्महत्यारा होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मपूर्वक प्रजासंरक्षण, जिसमें युद्ध प्रायः आवश्यक था, ही क्षत्रियों का परम कर्तव्य माना जाता था।

शिवमहापुराण में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के अतिरिक्त वैश्यों की भी पर्याप्त चर्चा की गई है। इनके विषय में कहा गया है कि धान्य बेचने वाला वैश्य वैश्य और सर्वसाधारण वणिक् (बनियाँ) कहे गये हैं। पुराणकाल में

---

१८. शिवमहापुराण की उमासंहिता का २१ वां अध्याय द्रष्टव्य।

१९. यः कश्चिद् ब्राह्मणं हत्वा पश्चात् प्राणान् परित्यजेत्।
तत्रासौ स्वर्गतेर्युद्धे सः स्वर्गान्न निवर्तते॥ शि० ५, २१, ३०।

वैश्य स्थलमार्गों की तरह जलमार्ग से भी व्यापार किया करते थे। समुद्र के मार्ग से इनका व्यापार पश्चिम के देशों से भी प्रचलित था। ये नावों से संघबद्ध हो कर व्यापार किया करते थे। नागेश्वर महादेव, जिनकी गणना द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में की जाती है, का प्रादुर्भाव इसी प्रकार के संघबद्ध वैश्य व्यापारियों के प्रधान 'सुप्रिय' की रक्षा के हेतु हुआ था[२०]।

गोरक्षा, वाणिज्य और कृषि—ये वैश्य के धन बतलाये गये हैं[२१]। यहां यह स्मरणीय है कि पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना—इनका विधान विशेषतः क्षत्रिय और वैश्य के लिये नहीं किया गया है[२२]। शूद्रेतर वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-की सेवा शूद्र का धर्म कहा गया है। २३।

उपर्युक्त बातें तत्तद् वर्णों के लिये विशेष रूप से विहित की गई हैं। इनके अतिरिक्त सभी वर्णों के लिये कुछ सामान्य बातें भी निर्दिष्ट की गई हैं। ये बातें हैं—त्रिकाल स्नान, अग्निहोत्र, सविधि शिवलिङ्गपूजन, दान, ईश्वरप्रेम, सदा और सर्वत्र दया, सत्यभाषण, सन्तोष, आस्तिकता, किसी भी जीव की हिंसा न करना, लज्जा, श्रद्धा, अध्ययन, योग, निरन्तर, अध्यापन, व्याख्यान, ब्रह्मचर्य, उपदेश, श्रवण, तपस्या, क्षमा, शौच, शिखाधारण, यज्ञोपवीतधारण, उष्णीष धारण करना, दुपट्टा लगाना, निषिद्ध वस्तु का सेवन न करना, रुद्राक्ष की माला पहनना, प्रत्येक पर्व में विशेषतः चतुर्दशी को शिव की पूजा करना, ब्रह्मकूर्च का[२४] पान, प्रत्येक मास में ब्रह्मकूर्च से विधिपूर्वक

---

२०. तेषां मध्ये च योऽधीशः स वैश्यः सुप्रियाभिधः।
शिवप्रियशुभाचारः शैवश्चासीत् सनातनः॥ शिव० ४, २९, ४२।

२१. गोरक्षणं च वाणिज्यं कृषिर्वैश्यस्य कथ्यते। वही, ७, २, ११, १६।

२२. अध्यापनं याजनं च क्षत्रियस्याप्रतिग्रहः।
वैश्यस्य च विशेषेण मया नात्र विधीयते॥ वही, ७, २, ११, १२।

२३. शुश्रूषेतरवर्णानां धर्मः शूद्रस्य कथ्यते। वही, ७, २, ११, १७।

२४. गोमूत्र, गोमय, दुग्ध, दधि, घृत और कुश का जल—ये पवित्र और पापनाशक 'पंचगव्य' कहे जाते हैं। (कुशोदक मिश्रित पंचगव्य ही ब्रह्मकूर्च कहलाता है)। ब्रह्मकूर्च का विधान करने वाले को उचित है कि कृष्णा गाय का मूत्र, श्वेत गाय का गोमय, ताम्रवर्णवाली गाय का दुग्ध, रक्त वर्णा गया को दधि और कपिला गाय का घृत अथवा कपिला गाय का ही गोमूत्र आदि पांचों वस्तु लाये। इनको मात्रा इस प्रकार है—१ पल गोमूत्र, अर्द्धांगुष्ठमित गोमय, ७ पल दुग्ध, ३ पल दधि, १ पल घृत और एक पल कुशोदक। 'गायत्री' मन्त्र से गोमूत्र, 'गन्धद्वारा' मन्त्र से गोमय, 'आप्यायस्व' से दुग्ध; 'दधिक्राव्ण' मन्त्र से दधि, 'तेजोऽसि शुक्रं' मन्त्र से गाघृत और 'देवस्य त्वा' मन्त्र से कुश का जल ग्रहण करे।

भगवान् शिव को नहलाकर विशेष रूप से उनका पूजन करना, सम्पूर्ण क्रियान्न का त्याग, श्रद्धान्न का परित्याग, पर्युषित अन्न तथा विशेषतः यावक (कुल्थी या बोरो धान) का त्याग, मद्य और मद्य-गन्ध का त्याग, शिव को निवेदित (चण्डेश्वर के भाग) नैवेद्यका त्याग।

किन्तु सभी वर्णों के लिये कहे गये इस सामान्य धर्म में यदि कहीं शास्त्र-मर्यादा का उल्लंघन प्रतीत हो तो वहाँ पर स्मृतियों आदि में जिस जाति के लिये विहित जो कर्म हैं उन्ही को मान्य समझना चाहिये; क्योंकि शिवमहापुराण सर्वदा स्मृति आदि धर्मसूत्रों को ही प्रधानता देता है। उसके अनुसार अपनी जाति के लिये धर्मशास्त्रों में जो आदेश उपलब्ध होते हैं उनका प्रयत्न-पूर्वक पालन प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है[२५]।

उद्यान (बाग) लगाना, शैवतीर्थों की यात्रा करना तथा अपनी धर्मपत्नी के साथ ही समागम करना गृहस्थ के लिये विहित धर्म है[२६]। वनवासियों, यतियों और ब्रह्मचारियों के लिये ब्रह्मचर्य का पालन मुख्य धर्म है[२७]। योगियों और वानप्रस्थ आश्रम वालों का दिन में भिक्षान्न भोजन विशेष धर्म कहा गया है। इन सबको और ब्रह्मचारियों को भी रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिये[२८]।

इस प्रकार ऋचाओं से पवित्र किये हुये पंचगव्य को अग्नि के पास रक्खे। 'आपो हिष्ठा' मन्त्र से गोमूत्रादि को चलाये, 'मा नस्तोके' मन्त्र से अभिमन्त्रित करे (मथे), 'इरावती' 'इदं विष्णुः', 'माँ नस्तोके' और 'शंवती' इन ऋचाओं द्वारा अग्रभाग से युक्त ७ कुशाओं से पंचगव्य का होम करे; होम से बचे हुये पंचगव्य को ओंकार पढ़कर मिलाये, ओंकार उच्चारण करके मथे, ओंकार पढ़कर उठाये और ओंकार उच्चारण करके द्विज उसका पान करे। जैसे अग्नि काष्ट को जलाता है, वैसे ही ब्रह्मकूर्च मनुष्यों के त्वचा और अस्थियों में स्थित पापों को भस्म कर देता है। देवताओं से अधिष्ठित होने के कारण ब्रह्मकूर्च तीनों लोकों में पवित्र माना गया है। (पारा. स्मृ. अ. ११, श्लो० २९-३९)

२५. स्वजात्युक्तं यत्कर्म कर्तव्यं तत्प्रयत्नतः।......। शिव० २, १२, ६८।
शूद्रकर्म यथोद्दिष्टं शूद्रो भूत्वा समाचरेत्। वही, ५, २१, ९।

२६. उद्यानकरणं चैव मम क्षेत्रसमाश्रयः॥
धर्मपत्न्यास्तु गमनं गृहस्थस्य विधीयते। वही, ७, २, ११, १७-१८।

२७. ब्रह्मचर्यं वनस्थानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम्। वही, ७, २, ११, १८।

२८. लिंगानि योगिनां भूयो दिवा भिक्षाशनं तथा॥
वानप्रस्थाश्रमस्थानां समानमिदमिष्यते।
रात्रौ न भोजनं कार्यं सर्वेषां ब्रह्मचारिणाम्॥ वही, ७, २, ११, १०-११।

लोकाचार

प्रत्येक युग एवं देश के अपने अपने आचार हुआ करते हैं। ये ही लोकाचार कहे जाते हैं। धर्मग्रन्थों में इनका विधान न होकर साधारण जनसमूह, विशेषकर स्त्री-समूह, में इनका आचरण और विधान देखा जाता है। सामान्य जनता तथा स्त्रियां ही इस विषय में आचार्य मानी जाती हैं। किन्तु धर्मग्रन्थ भी लोकाचार एवं कुलाचार को प्रतिपादित करने की सम्मति देते हैं। शिव-महापुराण में ऐसे लोकाचारों का वर्णन यत्र-तत्र देखा जाता है।

जिस समय भगवान् शंकर एवं पार्वती का विवाह हो रहा था, उस समय तथा उसके पूर्व भी वहाँ की स्त्रियों ने अनेक लोकाचारों को सम्पन्न किया था[२९]। इन्हीं लोकाचारों में कुहवरालय में शिवा, शिव का जाना तथा स्त्रियों के द्वारा वहां लौकिक आचार का सम्पन्न किया जाना भी निर्दिष्ट है[३०]। यद्यपि इन लोकाचारों का विशेष रूप नहीं बतलाया गया है तथापि सम्पूर्ण प्रसंग को एक साथ मिलाकर देखने पर यह पूर्ण स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भी इनका स्वरूप आजकल प्रचलित लोकाचारों के ही समान था। उक्त विवाह के प्रसंग में कतिपय स्थलों पर लोकाचारों का निर्देश किया गया है।

उक्त मांगलिक अवसरों के अतिरिक्त अन्य समय में भी ये लोकाचार विभिन्न रूप से सम्पन्न किये जाते थे। अति प्राचीनकाल में सन्तति-रहित स्त्रियां पुत्र की कामना से निराहार रहकर मुशलों पर शयन किया करती थीं[३१]। उनका यह व्रत दीर्घकाल तक चलता रहता था। महाकवि बाण की कादम्बरी में भी पुत्र प्राप्ति के लिये जो जो लोकाचार वर्णित हैं, उनमें मुशल-शयन भी है। वहां इनकी एक लम्बी सूची निबद्ध की गई है। साधारण जनता धार्मिक कृत्यों की भांति इन लोकाचारों को भी सम्पन्न करके अपने मनोरथपूर्ति की आशा अतीत की ही भांति आज भी करती है। इन लोकाचारों का सम्पादन छोटे से छोटे धार्मिक कृत्य से प्रारम्भ कर बड़े से बड़े धार्मिक कृत्यों में आज भी देखा जाता है।

---

२९. पुरद्विजस्त्रियो हृष्टा लोकाचारं प्रचक्रिरे ॥ शिव०, २, ३, ३७, १८।

३०. तदानीं शैलनगरे स्त्रियश्च मुदिता वरम्।
शिवाशिवौ समानीय ययुः कुहवरालयम् ॥
लौकिकाचारमाजह्रुस्ताः स्त्रियस्तत्र चाहताः। वही, २, ३, ४०, १३-१४।

३१. अत्रेर्भार्या चानसूया त्रीणि वर्षशतानि च।
मुशलेषु निराहारा सुप्त्वा शर्वात्ततः सुतान् ॥ वही, १, २, १८।

आभिचारिक क्रियायें

पुराणों एवं अन्य धर्मग्रन्थों में भी आभिचारिक (मारण, मोहन एवं उच्चाटन सम्बन्धी) क्रियाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है। वेदों में भी (अथर्ववेद में) इन क्रियाओं की चर्चा उपलब्ध होती है। किन्तु जैसे जैसे देश आगे की ओर बढ़ता गया वैसे वैसे इनका प्रचलन भी कम होता गया। इन्हे असभ्यता का प्रतीक माना जाने लगा। फलतः आज स्थिति यह है कि इनका दर्शन कुछ इने गिने स्थानों, विशेष कर अविकसित प्रदेशों, में ही होता है। शिवमहापुराण के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराणकाल में इन क्रियाओं का प्रयोग व्यापक रूप से हुआ करता था। लोग अपने शत्रुओं को मारने के लिये आभिचारिक क्रियाओं का प्रयोग किया करते थे।

कोटिरुद्रसंहिता के इक्कीसवें अध्याय में कथा आती है कि 'भीमनामक राक्षस के बन्दी, कामरूप के राजा, एक बार पार्थिवार्चन कर रहे थे। भीम के अनुचरों ने उसे देखकर सोचा कि राजा भीम के विरुद्ध कोई आभिचारिक क्रिया कर रहा है, अतः उन लोगों ने अपने स्वामी को इसके विषय में सूचना दी[३२]।' इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में भी कामरूप ऐसी क्रियाओं का गढ़ माना माना जाता था और ये क्रियायें केवल निम्न वर्गों में ही प्रचलित न थीं, किन्तु इनका अनुष्ठान समाज के नेता माने जाने वाले ब्राह्मण एवं क्षत्रिय भी किया करते थे।

उस समय मारण एवं उच्चाटन आदि क्रियाओं में शिव के घोर रूप का चिन्तन किया जाता था[३३]। आभिचारिक क्रियाओं का धार्मिक विधान एक अन्य प्रकार से ही सम्पन्न किया जाता था। मारण आदि कर्मों में लोह के बने हुये स्रुक् और स्रुवा का उपयोग होता था[३४]। वशीकरण के इच्छुक पुरुष घृतयुक्त जातीपुष्प (चमेली या मालती के पुष्प) से हवन करते थे[३५]। द्विजलोग आकर्षण के प्रयोग में घृत और करवीर के पुष्पों की आहुति देते थे[३६]। तेल की आहुति से उच्चाटन और मधु की आहुति से स्तम्भन कर्म का विधान था[३७]। सर्षप की आहुति से भी स्तम्भन कार्य किया जाता था[३८]। बड़ (न्यग्रोध)

३२. राजा किंचित्करोत्येवं त्वदर्थं ह्याभिचारिकम् । शिव० ४, २१, ३ ।
३३. घोररूपः शिवश्चिन्त्यो मारणोच्चाटनादिषु ॥ वही, ७, २, ३२, ४१ ।
३४. आयसौ स्रुक्स्रुवौ कार्यौ मारणादिषु कर्मसु । वही, ७, २, ३२, ४३ ।
३५. जातीपुष्पेण वश्यार्थी जुहुयात्सघृतेन तु ॥ वही, ७, ३२, ४६ ।
३६. घृतेन करवीरैश्च कुर्यादाकर्षणं द्विजः । वही, ७, २, ३२, ४७ ।
३७. तैलेनोच्चाटनं कुर्यात्स्तम्भनं मधुना पुनः । वही, ७, २, ३२, ४७ ।
३८. स्तम्भनं सर्षपेणापि.................. । वही, ७, २, ३२, ४८ ।

के बीज और तिल की आहुति द्वारा मारण और उच्चाटन होता था[३९]। नारियल के तेल की आहुति से विद्वेषण कर्म का, रोहे के बीज की आहुति से बंधन का, तथा लाल सर्षपमिश्रित सम्पूर्ण होम द्रव्यों से सेनास्तम्भन का प्रयोग किया जाता था[४०]। लशुन की आहुति से शत्रु का पातन तथा (गर्दभ) एवं उष्ट्र दोनों के रुधिर की आहुति से शत्रु-ताडन किया जाता था[४१]।

अभिचार कर्म में हस्तचालित यन्त्र से तैयार किये गये तेल की आहुति तथा कुटुकी की भूसी, कर्पास की ढोढ (कर्पासास्थि) एवं तेलमिश्रित सर्षप की आहुति देने का विधान किया गया था[४२]। वश्य एवं आकर्षण की सिद्धि विशेष द्रव्यों द्वारा होम करने पर बतलाई गई है। बिल्वपत्रों का हवन वशीकरण तथा आकर्षण का साधक और लक्ष्मी की प्राप्ति कराने वाला एवं शत्रु पर विजय दिलाने वाला माना जाता था[४३]।

शान्ति कार्य में पलाश और खैर आदि की समिधाओं का एवं क्रूरतापूर्ण कर्म में कनेर और आक की समिधाओं का प्रयोग होता था[४४]। विग्रह के कार्य में कटीले वृक्षों की समिधाओं का हवन होता था[४५]।

किन्तु इन क्रियाओं का उस युग में सामान्यतया प्रचलन होने पर भी ये उस समय भी प्रशस्त न समझी जाती थीं। प्रशान्त व्यक्ति विशेषतः शान्ति एवं पुष्टि सम्बन्धी कर्म ही करते थे और निर्घृण तथा क्रुद्धचित्त व्यक्ति ही

---

३९. मारणोच्चाटने कुर्याद्रोहिबीजैस्तिलान्वितैः। शिव० ७, २, ३२, ४९।

४०. विद्वेषणं च तैलेन कुर्याल्लांगलकस्य तु।
बन्धनं रोहिबीजेन सेनास्तम्भनमेव च।
रक्तसर्षपसम्मिश्रैर्होमद्रव्यैरशेषतः॥ वही, ७, २, ३२,४९-५०।

४१. ... ... लशुनेन तु पातनम्।
ताडनं रुधिरेण स्यात्खरस्योष्ट्रस्य चोभयोः। वही, ७, २, ३२, ४८।

४२. हस्तयन्त्रोद्भवैस्तैलैर्जुहुयादाभिचारके।
कटुकीतुषसंयुक्तैः कार्पासास्थिभिरेव च।
सर्षपैस्तैलसंमिश्रैर्जुहुयादाभिचारके। वही, ७, २, ३२, ५१-५२।

४३. द्रव्यैर्विशेषतो होमैः वश्याकर्षणं तथा।
वश्यमाकर्षणं चैव श्रीपदं च विशेषतः।
विल्वपत्रैस्तु हवनं शत्रोर्विजयदं तथा॥ वही, ७, २, ३२, ५४-५५।

४४. समिधः शान्तिकार्येषु पलाशखदिरादिकाः। वही, ७, २, ३२, ५६।

४५. करवीरार्कजाः क्रौर्ये कण्टकिन्यश्च विग्रहे। वही, ७, २, ३२, ५६।

आभिचारिक क्रियाओं का प्रयोग करते थे[४६]। अतीव दुरवस्था में जब कि प्रतिकार का अन्य मार्ग न होता था तभी आततायियों को उद्देश्य करके इन आभिचारिक क्रियाओं का विधान था[४७]। अपने अपने राष्ट्रपति को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से आभिचारिक कर्म निषिद्ध थे। यदि कोई आस्तिक, परम धर्मात्मा और माननीय पुरुष हो, उससे यदि कभी आततायीपन का कार्य हो जाय, तो भी उसको नष्ट करने के उद्देश्य से आभिचारिक कर्म निषिद्ध माना जाता था।

इतना सब होने पर भी यदि कोई व्यक्ति किसी को, यहां तक कि आततायी को भी, उद्देश्य करके इन क्रियाओं का प्रयोग करता था तो उसे यह आवश्यक था कि वह पश्चात्तापपूर्वक प्रायश्चित्त करे[४८]।

यद्यपि ये क्रियायें अपवित्र मानी जाती थीं किन्तु इनका प्रयोग बड़ी ही पवित्रता के साथ, अन्य धार्मिक कृत्यों की ही भांति, किया जाता था। इन क्रियाओं का भी प्रयोग अन्य पवित्रतम क्रियाओं की ही भांति होता था। द्विजेतर इन कार्यों के करने के अधिकारी न थे[४९]। उस समय इन क्रियाओं के प्रयोक्ता को यह आवश्यक था कि वह धार्मिक एवं पवित्र हो। श्रद्धा के अभाव में भी इन क्रियाओं का फल नहीं मिलता, अतः प्रयोक्ता को श्रद्धावान् होना पड़ता था[५०]।

अतीत में व्यापक होने पर भी समय की गति के साथ साथ ये क्रियायें अब प्रायः सभ्य समाज के रंगमंच मे अदृश्य होती जा रही हैं और अब इनका कोई मूल्य भी नहीं रह गया है।

---

४६. प्रशान्तः शान्तिकं कुर्यात् पौष्टिकं च विशेषतः।
निर्घृणः क्रुद्धचित्तस्तु प्रकुर्यादाभिचारिकम् ॥ शिव० ७, २, ३६, ५७।

४७. अतीव दुरवस्थायां प्रतीकारान्तरं न चेत्।
आततायिनमुद्दिश्य प्रकुर्यादाभिचारिकम् ॥ वही, ७, २, ३२, ५८।

४८. अन्यं कर्मणि चोद्दिश्य कृत्वा वै मारणादिकम्।
पश्चात्तापेन संयुक्तः प्रायश्चितं समाचरेत् ॥ वही, ७, २, ३२, ६३।

४९. घृतेन करवीरैश्च कुर्यादाकर्षणं द्विजः। वही, ७, २, ३२, ४७।
यहां पर उद्धृत द्विज शब्द से ज्ञात होता है कि आभिचारिक क्रियायें एक मात्र द्विजों के द्वारा ही सम्पन्न होती थीं।

५०. अविस्रब्धो न कुर्वीत कर्म दृष्टफलं क्वचित्।
स खल्वश्रद्धधानः स्यान्नाश्रद्धः फलमृच्छति ॥ वही, ७, २, ३२, ७।

षष्ठ अध्याय

भूगोल[1]

शिवमहापुराण की उमासंहिता में वर्णित भूगोल एक अत्यन्त सारवान् विषय है। इस महापुराण में समस्त संसार एवं भारतवर्ष का भूगोल बड़े ही मार्मिम ढंग से वर्णित किया गया है। इनमें प्रथम में कल्पना की अधिकता चाहे भले ही हो किन्तु दूसरे में यथार्थता की मात्रा अधिक है। आज के वैज्ञानिक युग में परिचित एवं ग्रन्थों में वर्णित समस्त भूखण्ड पुराणकारों को सर्वथा ज्ञात थे और उन लोगों ने इसका विवरण बड़ी यथार्थता के साथ दिया है। कठिनाई इतनी ही है कि समय के प्रवाह के साथ परिवर्तित परिस्थितियों के कारण आज उनकी निःसन्दिग्ध पहचान सम्भव नहीं हो पा रही है। पृथिवी के सप्तद्वीपों की कल्पना पौराणिक भूगोल की निजी विशिष्टता है। इन द्वीपों में से तीन–कुशद्वीप शकद्वीप एवं जम्बूद्वीप–की सही पहचान यथार्थतः हो सकी है। पुराणों को भौगोलिक यथार्थता का परिचायक यह घटना कथमपि विस्मरणीय नहीं है कि कप्तान स्पीक ने पुराणवर्णित संकेत को आधार बनाकर मिश्र देश में प्रवाहित होने वाली अफ्रीका की नीलनदी के उद्गम का पता लगाया था। पुराण में नदी का उद्गम-स्थान कुशद्वीप में बतलाया गया है। कुशदेश तथा कुश लोगों का उल्लेख प्रख्यात पारसीक सम्राट् दारियबहु (५२२-४८६ ईसवी पूर्व) के अनेक फारसी अभिलेखों में मिलता है। कुशद्वीप को आधुनिक नूबिया मानकर पौराणिक वर्णन का अनुसरण करते हुए कप्तान स्पीक ने नील नदी का स्रोत खोज निकाला। यह पौराणिक यथार्थता का विजय घोष है।

वहाँ कुश लोगों का राज्य २२००-१८०० ई० पूर्व में था। शकद्वीप की पहचान यूनानी लेखकों द्वारा वर्णित 'सिथिआ' से की जाती है। पुराणों के द्वारा वर्णित शकदेश की अवान्तर जातियों का, वहाँ के दुग्धसागर का तथा नदियों का वर्णन इतना यथार्थ है कि यह स्पष्टतः कल्पना-प्रसूत न होकर सत्य अनुभव पर आश्रित है। भारत वर्ष के नवीन उपनिवेश, जहाँ हिन्दुओं ने जाकर अपनी सभ्यता और संस्कृति की वैजयन्ती फहराई थी, पुराणों में

---

१. इस अध्याय के लिखने में पौराणिक भूगोल से, जो कि 'पुराणविमर्श', (लेखक बलदेव उपाध्याय जी) का एक अध्याय है, सहायता ली गई है।

विस्तार के साथ उल्लिखित एवं वर्णित हैं। एसिया की, व्यापारिक दृष्टि से महत्त्वशालिनी बड़ी बड़ी सात नदियों का बर्णन भी उतना ही यथार्थ है। पाताल की पहचान पश्चिमी गोलार्द्ध से की गई है, जिसमें नियामक वर्णन है मध्य अमेरिका की संस्कृति के क्रीडाक्षेत्र मेक्सिको और पेरू के भू-वृत्त का।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पौराणिक भूगोल में कल्पना की अपेक्षा यथार्थ की मात्रा अधिक है। किन्तु उसकी सामग्री इतनी उलझी हुई है कि उसके आधार पर आज विश्व का मानचित्र नहीं तैयार किया जा सकता।

पुराण में भुवनकोश एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसमें समग्र भुवनों के भौगोलिक नाम, विस्तार तथा स्वरूप का विशद वर्णन उपस्थित किया गया है। इस भू-वृत्त को समझने के लिये इसके केन्द्र स्थानीय पर्वत मेरु अथवा सुमेरु का स्वरूप जानना परम आवश्यक है[२]।

समग्र पृथिवी को कमल का रूप स्वीकार किया गया है जिसकी कर्णिका (मूल मध्य जहां से पंखुड़ियां निकल कर चारों ओर फैलती हैं) में मेरु की स्थिति बतलाई गई है[३]। तात्पर्य यह है कि मेरु पर्वत पृथिवी की नाभि होने से वह केन्द्र है, जिसे मूल मानकर भुवन कोश का विन्यास किया गया है।

---

२. भू-वृत्त के मध्य में स्थित सुमेरु पर्वत के आधार पर ही जप की माला की मध्य मणि को भी सुमेरू कहने की प्रथा है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में सुमेरु पर्वत की भूमध्यस्थता सामान्य जनता को भी विदित थी।

३. मूले षोडशसाहस्रः कर्णिकाकारसंस्थितः। शिव० ५, १७, ६।
तुलना कीजिये—वायुपुराण का कथन है कि उस महात्मा प्रजापति का सुवर्णनिर्मित (हिरण्मय) मेरु पर्वत गर्भ है, समुद्र गर्भ से निष्यन्दमान उदक हैं और सिरायें तथा अस्थियां पर्वत हैं :—

श्लोक—हिरण्मयस्तु यो मेरुस्तस्योल्बं तन्महात्मनः।
गर्भोदकं समुद्राश्च सिराद्यस्थीनि पर्वताः ॥ वायु० ४, ८०।

ठीक इसी भाव को कूर्मपुराण में भी व्यक्त किया गया है :—

श्लोक—मेरुरुल्बमभूत्तस्य जरायुश्चापि पर्वताः।
गर्भोदकं समुद्राश्च तस्यासन् परमात्मनः ॥ कूर्म० ४. ४०।

इसी प्रकार मत्स्यपुराण में भी मेरु अव्यक्त जन्मा ब्रह्मा का नाभिबन्धन माना गया है :—

श्लोक :—नाभिबन्धनसम्भूतो ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः। मत्स्य० १, २, १४।

शिवमहापुराण के अनुसार मेरु पर्वत इलावृत्त वर्ष के मध्य में स्थित है, जो जम्बूद्वीप का केन्द्र माना जाता है[४]। इलावृत्त के चारों ओर चार पर्वत मेरु को आलम्बन देने वाले खम्भों के समान फैले हुये हैं[५] :—पूर्व दिशा में मन्दर, दक्षिण में गन्धमादन, पश्चिम में विपुल तथा उत्तर में सुपार्श्व नामक पर्वत है। मेरु को चारों ओर से घेरने वाले अन्य पर्वतों का भी उल्लेख मिलता है। मेरु के उत्तर में है नील पर्वत, उसके उत्तर में है श्वेत पर्वत और उसके भी उत्तर में है शृंगी पर्वत। दक्षिण में है निषध पर्वत, जिसके दक्षिण में है हेमकूट और इसके भी दक्षिण में है हिमवान् (हिमालय) पर्वत। ये वर्ष पर्वत कहे जाते हैं। ये पर्वत दश सहस्र योजन लम्बे, सहस्रयोजन ऊँचे एवं विस्तार वाले रत्नवान् एवं अरुणप्रभ हैं। स्वयं मेरु पर्वत ही सोलह योजन नीचे धँसा हुआ है तथा चौरासी योजन ऊंचा है। इसका शिखर बत्तीस योजन विस्तृत है। मूल में यह षोडश सहस्र योजन आयाम वाला है।

मेरु के पूर्व में भद्राश्व एवं पश्चिम में केतुमालनामक वर्ष स्थित हैं। इन दोनों के मध्य में इलावृत वर्ष है[६]। इसी इलावृत के मध्य में मेरुकी स्थिति बतलाई गई है। मेरु के पूर्व में चैत्ररथ, दक्षिण में गन्धमादन, पश्चिम में विभ्राज एवं उत्तर में नन्दन नामक बन हैं। इसी प्रकार पूर्व में अरुणोद, दक्षिण में

---

४. इलावृतं तु तन्मध्ये तन्मध्ये मेरुरुच्छ्रितः। शिव० ५, १७, ११।
तुलना—इलावृतं तु तन्मध्ये सौवर्णो मेरुरुच्छ्रितः। अग्नि० १०८, ६।
जम्बूद्वीपो द्वीपमध्ये सौवर्णो मेरुरुच्छ्रितः॥ अग्नि० १०८, ३।

५. इलावृतिमृषिश्रेष्ठ चत्वारश्चात्र पर्वताः।
विष्कम्भा रचिता मेरोर्योजिताः पुनरुच्छ्रिताः। शिव० ५, १७, १२।

पूर्वे हि मन्दरो नाम दक्षिणे गन्धमादनः।
विपुलः पश्चिमे भागे सुपार्श्वश्चोत्तरे स्थितः॥ वही, ५, १७, १३।

तुलना कीजिये—विष्कंभा रचिता मेरोर्योजनायुतविस्तृताः।
पूर्वेण मन्दरो नाम दक्षिणे गन्धमादनः॥
विपुलः पश्चिमे पार्श्वे सुपार्श्वश्चोत्तरे स्मृतः। वायु० १, ३५, ११–१६, अग्नि० १०८, ११-१२। कूर्म० ४५, १५-१६।

६. भद्राश्वं पूर्वतो मेरोः केतुमालं च पश्चिमे।
वर्षे द्वे तु मुनिश्रेष्ठ तयोर्मध्ये इलावृतम्॥ शिव० ५, १७, २०।

तुलना कीजिये-भद्राश्वं भारतं चैव केतुमालं च पश्चिमे।
उत्तराश्चैव कुरवः कृतपुण्य-प्रतिश्रयाः॥ मत्स्य० ११२, ४४; वायु० ३४, ५१।

महाभद्र, पश्चिम में शीतोद एवं उत्तर में मानस नामक बृहत् जलाशय है।[७]

मेरु के पूर्व में शीतांजन, कुरंग, कुरर, माल्यवान्, दक्षिण में त्रिकूट, शिशिर, पतंग, रुचक, निषध, कपिल आदि, पश्चिम में सिनीवास, कुसुम, कपिल, नारद, नाग आदि; उत्तर में शंखचूड, ऋषभ, हंस, एवं काल जर आदि केशराचल स्थित हैं।

मेरु पर्वत के उत्तर में सुनील पर्वत, दक्षिण में निषध पर्वत, पूर्व में माल्यवान् एवं पश्चिम में गन्धमादन पर्वत स्थित हैं। इन्हीं चारों पर्वतों के मध्य में कर्णिका के आकार वाला मेरु स्थित है[८]। मेरु से महाद्वीपों की स्थिति संकेतित की गई है। पूरब की ओर है भद्राश्ववर्ष, दक्षिण में है भारतवर्ष, पश्चिम में केतुमालवर्ष एवं उत्तर में है उत्तरकुरु[९]:—

श्लोक—भारतः केतुमालश्च भद्राश्वः कुरवस्तथा।
पत्राणि लोकपद्मस्य मर्यादालोकपर्वताः ।। शिव०, ५, १७, ३४।

सम्पूर्ण भुवन एक पद्मकोश की भांति कल्पित है, जिसकी कर्णिका है मेरु एवं पत्र हैं उक्त चारों भद्राश्व आदि वर्ष।

जठर एवं देवकूट आयाम में दक्षिणोत्तर हैं। गन्धमादन तथा कैलास पूर्व से पश्चिम की ओर गये हुए हैं। निषध एवं नीलपर्वत मेरु के पूर्व से पश्चिम की ओर गये हुये हैं अर्थात् निषध एवं नील पर्वतों की स्थिति पूर्व से पश्चिम की ओर है।

---

७. वनं चैत्ररथं पूर्वे दक्षिणे गन्धमादनः।
विभ्राजं पश्चिमे तद्वदुत्तरे नन्दनं स्मृतं ।। शिव० ५, १७, २१।
अरुणोदं महाभद्रं शीतोदं मानसं स्मृतम्।
सरांस्यैतानि चत्वारि देवभोग्यानि सर्वशः ।। वही, ५,१७,२२।

८. सुनीलनिषधौ यौ तौ माल्यवद्गन्धमादनौ।
तेषां मध्यगतो मेरुः कर्णिकाकारसंस्थितः ।। वही, ५, १७, ३३।

९. तुलना कीजिये—पद्माकारा समुत्पन्ना पृथिवी सघनद्रुमा।
तदस्य लोकपद्मस्य विस्तरेण प्रकाशितम् ।। ४५।
महाद्वीपास्तु विख्याताश्चत्वारः पत्रसंस्थिताः।
ततः कर्णिकसंस्थानो मेरुर्नाम महाबलः ।।४६ ।। वायु० अ० ३४।

तुलना कीजिये–स तु मेरुः परिवृतो भुवनैर्भूतभावनैः।
यस्येमे चतुरो देशा नानापार्श्वेषु संस्थिताः ।।
भद्राश्वं भारतं चैव केतुमालं च पश्चिमे।
उत्तराश्चैव कुरवः कृतपुण्यप्रतिश्रयाः ।। मत्स्य० ११३, ४३–४४।

मेरु पर्वत के समीप में स्थित जठर आदि पर्वतों के दो दो नाम हैं। उत्तर में सुमनोरम श्वेत आदि केसराचल स्थित हैं।

श्लोक—जठराद्याः स्थितामेरोर्येषां द्वौ द्वौ व्यवस्थितौ।

केसरा पर्वता एते श्वेताद्याः सुमनोरमाः ॥ शिव० ५,१७,३७।

'द्वौ द्वौ व्यवस्थितौ' का भाव यही है कि उक्त पर्वतों के दो-दो, एक तो भारतीय (पुराणस्थ) दूसरा विदेशीय अर्थात् तत्तद्देशीय, नाम हैं[१०]। इन शैलों के उत्तर में द्रोणियाँ (The valley between two mountains) हैं। उनमें सुरम्य कानन एवं ग्राम वर्तमान हैं।। इन्हें पृथिवी का स्वर्ग कहा गया है।

जम्बूद्वीप के अतिरिक्त प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाकक एवं पुष्कर, नाम के द्वीप हैं[११]। ये प्रत्येक द्वीप क्रमशः एक-एक समुद्रों से आवृत हैं। इन समुद्रों के नाम इस प्रकार हैं:—क्षीर सागर, इक्षुरससागर, सुरा सागर, सर्पि, दधि, दुग्ध एवं जल का सागर। जम्बू द्वीप इन सब के मध्य में स्थित है[१२]।

इन द्वीपों की भौगोलिक स्थितियों का पता लगाना अत्यन्त दुःसाध्य है। कुशद्वीप के विषय में संकेत सूत्रमात्र उपलब्ध होता है। परन्तु शाकद्वीप के विषय में यूनानी, अरब एवं इरानी लेखकों के ग्रन्थों से बड़ी ही निर्णायक सामग्री उपलब्ध होती है।

---

१०. इसी प्रकार मत्स्य पुराण के १२१ अध्याय में शकद्वीपी पर्वतों एवं नदियों के दो दो नाम निर्दिष्ट किये गये हैं (द्विनामानः)।

११. जम्बूः प्लक्षः शाल्मलिश्च कुशः क्रौंचश्च शाककः।
पुष्करः सप्तमः सर्वे समुद्रैः सप्तनिर्वृताः ॥ शिव०, ५, १७, २।

तुलना—मत्स्य०, (अ० १२१ तथा १२२) के अनुसार द्वीपों का क्रम इस प्रकार है—
(१) जम्बूद्वीप, (२) शाक, (३) कुश, (४) क्रौंच, (५) शाल्मल, (६) गोमेद तथा (७) पुष्कर।

१२. —.........सर्वे समुद्रैः सप्त निर्वृताः ॥ वही, ५, १७, २।
लवणेक्षुरसौ सर्पिदधिदुग्धजलाशयाः।
जम्बूद्वीपः समस्तानामेतेषां मध्यतः स्थितः ॥ वही, ५, १७, ३।

टिप्पणी—उक्त श्लोक में सागरों के सात नाम के स्थान पर छः का उल्लेख हुआ है। इक्षुरस सागर के बाद सुरा सागर का नाम होना चाहिये। यह बात उक्त संहिता के अष्टादश अध्याय में स्पष्ट की गई है:—

श्लोक—एष द्वीपः समुद्रेण सुरोदेन समावृतः। वही, ५, १८, ३८।

विष्णु० (२, ४) भागवत (५, २०), मार्क०, (५४, ६) से भी यही बात समर्थित होती है।

जम्बूद्वीप के नौ वर्ष

जम्बूद्वीप एक महाद्वीप है। इसमें नव वर्षों की स्थिति शिव महापुराण के द्वारा बतलाई गई है[13]। इन वर्षों की जानकारी के लिये इस रेखाचित्र को देखिये—

[14]उत्तरकुरु (शृङ्गीपर्वत)
|
हिरण्मय (श्वेत पर्वत)
|
रम्यक (नील पर्वत)
|
[16]केतुमाल वर्ष | सुमेरु पर्वत [15]इलावृत वर्ष | भद्राश्व वर्ष
|
हरिवर्ष (निषध पर्वत)
किंपुरुष वर्ष (हेम कूट)
|
[17]भारतवर्ष (हिमालय)[18]

इन वर्षों की पहचान निःसन्दिग्ध रूप से नहीं की जा सकती। उत्तर कुरु तोलोमी का 'ओत्तोरो कोराई' देश है जो संभवतः चीनी तुर्किस्तान की तारिम घाटी को सूचित करता है। हरिवर्ष संभवतः सुग्द (अथवा बोखारा प्रान्त) है जो घोड़ों के लिये सर्वदा प्रसिद्ध रहा है। इलावृत वर्ष, कदाचित् इलि नदी की घाटी है जो साइबेरिया के पर्वत से निकल कर बालकश में गिरती है। भद्राश्व सम्भवतः चीन का सूचक है। चीन का जातीय चिह्न है श्वेत

१३. तुलना कीजिये—विष्णुपु० अंश २, अध्याय २, श्रीमद्भाग० स्क० ५, अ० १६, देवीभा० स्क० ८।

१४. रम्यकं चोत्तरे पार्श्वे तस्यांशे तु हिरण्मयम् ॥ शिव० ५, १७, ९।
उत्तरे कुरवश्चैव .... । वही, ५, १७, १०।

१५. इलावृतं तु तन्मध्ये तन्मध्ये मेरुरुच्छ्रितः। वही, ५, १७, ११।

१६. भद्राश्वं पूर्वतो मेरोः केतुमालं च पश्चिमे।
वर्षे द्वे तु मुनिश्रेष्ठ तयोर्मध्ये इलावृतम् ॥ वही, ५, १७, २०।

१७. भारतं प्रथमं वर्षं ततः किंपुरुषं स्मृतम् ॥
हरिवर्षं ततोऽन्यद्वै मेरोर्दक्षिणतो मुने। वही, ५, १७, ८–९।

१८. हिमवान् हेमकूटश्च निषधश्चास्य दक्षिणे। वही, ५, १७, ६।
नील श्वेतश्च शृङ्गी च उत्तरे वर्षपर्वताः। वही, ५, १७, ७।

ड्रेगन। 'ड्रेगन' अंग्रेजी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है अपने मुंह से ज्वाला उगलने वाला मकर या सर्प जो प्रायः घोटकानन—घोड़ा की तरह मुंह वाला बतलाया गया है। अतः कल्याणकारी घोटक वाले देश—भद्राश्व—से चीन की पहचान ठीक रूप से की जा सकती है।

केतुमाल चक्षु अथवा वक्षु नदी के द्वारा पहचाना जा सकता है जो उससे होकर बहती थी। चक्षु या वक्षु = आक्सस = आमू-दरिया जो आज अराल सागर में गिरती है और यहीं का भूभाग केतुमाल की संज्ञा से अभिहित था। किंपुरुषवर्ष तो किन्नरों का देश है जो हिमालय प्रान्त का सूचक है। हिरण्मय वर्ष एशिया के 'बदक्शाँ' प्रदेश का द्योतक है जो हीरा-जवाहरात तथा बहुमूल्य धातुओं की खानों के लिये प्रसिद्ध रहा है। इसी प्रकार रम्यक् वर्ष सुदूर पूर्व के रमि या रम्नि टापुओं का, सम्भवतः, सूचक है। भाव यह है कि यह समस्त नव वर्षों की कल्पना एशिया के विशाल प्रदेश को ही अपने में गतार्थ नहीं करती, प्रत्युत् सुदूर पूर्वी प्रदेशों से भी सम्बन्ध रखती है। इन वर्षों का भौगोलिक वर्णन अभी अब भी जटिल बना हुआ है[१९]।

जम्बूद्वीप (एशिया) की नदियाँ:—

प्राचीन जम्बू द्वीप की कल्पना में गंगा की चतुर्दिशा में प्रवाहित होने वाली चार धाराओं का समुल्लेख बड़े महत्त्व का है। पहली धारा 'सीता' है, जो पूरब में भद्राश्व से होकर समुद्र में गिरती है, द्वितीय धारा 'अलकनन्दा' है जो दक्षिण में भारतवर्ष से होकर दक्षिणी समुद्र में मिलती है। तृतीय धारा 'चक्षु' है, जो पश्चिम में केतुमाल से होकर पश्चिमी सागर को जाती है। चतुर्थ धारा 'भद्रा' उत्तर कुरु को पार कर उत्तरी समुद्र में गिरती है[२०]।

---

१९. बलदेव उपाध्याय: 'पुराण-विमर्श'।

२०. सीता चालकनन्दा च चक्षुर्भद्रा च वै क्रमात्।
सा तत्र पतिता दिक्षु चतुर्द्धा प्रत्यपद्यत ॥ शिव० ५, १७, ३०।
सीता पूर्वेण शैलं हि नन्दा चैव तु दक्षिणे।
सा चक्षुः पश्चिमे चैव भद्रा चोत्तरतो व्रजेत् ॥ वही, ५, १७, ३१।
गिरीनतीत्य सकलांश्चतुर्दिक्षु महाम्बुधिम्।
सा ययौ प्रयता भूता गंगात्रिपथगामिनी ॥ वही, ५, १७, ३२।

टिप्पणी—मत्स्यपुराण (अ० १२१, ४२), तथा वायु० (४७, ३७-५१) में गंगा को सप्त धाराओं की कल्पना की गई है। इन धाराओं के नाम हैं:—(१) सीता, (२) चक्षु, (३) सिन्धु, (४) ह्लादिनी, (५) नलिनी, (६) पावनी, (७) गंगा। इनमें प्रथम तीन पश्चिमी सागर में गिरने वाली हैं और पूरबी समुद्र में गिरने वाली भी तीन हैं तथा दोनों के बीच में प्रवाहित होने वाली दक्षिण समुद्रगामिनी एक है।

इनमें से दो नदियों की पहचान तो निःसन्दिग्ध रूप से की जा सकती है। अलकनन्दा से तो हम परिचित ही हैं। यही है हमारी सुपरिचित गंगा की मूलभूत धारा। चक्षु, स्वरक्षु अथवा वक्षु एक ही नदी के विभिन्न नाम हैं, जिसे यूनानी आक्सस कहते थे और आज आमू दरिया कहलाती है। यह पामीर पठार से निकल कर अराल सागर में गिरती है। सीता और भद्रा की पहचान अभी निश्चित रूप से नहीं हो सकी है।

सप्तद्वीपवर्णन

भारतवर्ष

भारत की स्थिति हिमलय के दक्षिण एवं समुद्र के उत्तर में है। इसका विस्तार नव सहस्र योजन हैं[२१]। विद्वानों ने इसे स्वर्ग एवं अपवर्ग की कर्मभूमि कहा है। शिवमहापुराण में भारत का विभाजन नव खण्डों में मिलता है। इन नव खण्डों की संज्ञा इस प्रकार है:—(१) इन्द्रदद्युम्न, (२) कसेरु, (३) ताम्रपर्ण, (४) गभस्तिमान्, (५) नागद्वीप, (६) सौम्य, (७) गन्धर्व (८) वारुण, (९) भरत[२२]।

शिवमहापुराण में तथा अन्यत्र भी 'अयं तु नवमस्तेषां' (देखिये पीछे का उदाहरण) यह वाक्य प्रकट कर रहा है कि पुराण का लेखक भारत

---

२१. वक्ष्येऽहं भारतं वर्षं हिमाद्रेश्चैव दक्षिणे।
उत्तरे तु समुद्रस्य भारती यत्र संस्रुतिः॥
नवयोजनसाहस्रो विस्तारोऽस्य महामुने। शिव० ५, १८, १–२।

२२. भारतस्यापि वर्षस्य नवभेदान् ब्रवीमि ते॥ वही, ५, १८, ३।
इन्द्रदद्युम्नः कसेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान्।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः॥ वही, ५, १८, ४।
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंभृतः।
योजनानां सहस्रं तु द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः॥ वही, ५, १८, ४।

तुलना—भारतस्य च वर्षस्य नवभेदान् निबोधत।
इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान्॥
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः।
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः॥ मत्स्य० ११४, ७–८।

ठीक इसी प्रकार का वर्णन मार्कण्डेय (५७, ५) में भी किया गया है। इसके अतिरिक्त वहाँ एक बात अधिक कही गई है कि ये नव विभाग एक दूसरे से समुद्र के द्वारा अन्तरित तथा भूमि के रास्ते से अगम्य थे।

में ही बैठकर लिख रहा है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस नवम भाग का नाम क्या था?[२३] शिवमहापुराण ने इस नवम द्वीप की चौहद्दी (चतुस्सीमा) आदि का वर्णन बड़े ही स्पष्ट ढंग से किया है किन्तु इसके अभिधान का संकेत नहीं किया है[२४]।

शिवपुराण के अनुसार सागर संभृत यह नवम द्वीप दक्षिण से उत्तर की ओर एक सहस्र योजन है। इसके पूर्व में किरात, दक्षिण में यवन, पश्चिम में खश एवं उत्तर में तपस्वी स्थित थे[२५]। इसके मध्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र स्थित हैं। इन चार वर्णों का कार्य क्रमशः यज्ञ, युद्ध, व्यवसाय, एवं सेवा बतलाया गया है[२६]।

---

२३. राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में इस भाग का नाम कुमारी द्वीप बतलाया है (कुमारी द्वीपश्चायं नवमः)।

२४. शिव० ५, १८, ५, १३।

टिप्पणीः—वामन पुराण के रचयिता ने इस नवम द्वीप का नाम 'कुमार द्वीप' बतलाया है। इस प्रकार वामन पुराण एवं काव्यमीमांसा के अनुसार यह नवम भाग कुमारद्वीप अथवा कुमारीद्वीप के नाम से विख्यात था। इस नाम का कारण यही था कि यह प्रदेश कुमारी (कन्या कुमारी) से आरम्भ होकर गंगा के प्रवाह तक विस्तृत था। 'आयातस्तु कुमारीतो गंगायाः प्रवाहावधिः'—मत्स्य० ११४/१०। वायु का भी यही मत हैः—

श्लोकः—आयातो ह्याकुमारिक्यादागंगाप्रभावाच्च वै।
तिर्यगुत्तरविस्तीर्णः सहस्राणि नवैव तु॥ वायु० ४५, ४८।

इससे यही परिज्ञात होता है कि दक्षिण से उत्तर तक फैलने वाले देश की दक्षिण सीमा थी कुमारी (या कन्या कुमारी) यही कारण है कि यह भारत ही स्वयं कुमारी द्वीप के नाम से प्रख्यात हुआ।

२५. अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसम्भृतः।
योजनानां सहस्रं तु द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः। शिव० ५, १८, ५।
पूर्वे किराता यस्य स्युर्दक्षिणे यवनाः स्थिताः।
पश्चिमे च खशा ज्ञेया उत्तरे हि तपस्विनः॥ वही, ५, १८, ६।

२६. मत्स्य एवं मार्कण्डेय के अनुसार कुमारी द्वीप की पूर्वोत्तरी सीमा पर किरातों का तथा पश्चिमोत्तरी सीमा पर यवनों का आवास था। वामन पुराण में, इस विवरण में, दो नाम और सन्निविष्ट किये गये हैं—दक्षिण में आन्ध्र तथा उत्तर में तुरुष्क। आन्ध्र इतिहास प्रसिद्ध शातवाहन (१ अथवा २ य शती ईसवी) ही हैं, जिनका साम्राज्य दक्षिण में पश्चिमी समुद्र से लेकर पूरबी सागर तक था। तुरुष्क तुषारदेशीय शक (कुषाण आदि) हैं जो पेशावर में राज्य करते थे।

भारतवर्ष के शेष आठ विभागों की वर्तमान स्थिति का आज संकेत मिल सकता है। ये भारत से पूरब की ओर फैलने वाले द्वीप समूहों के अवयव हैं, जिनको कालिदास के युग में 'द्वीपान्तर' के नाम से पुकारा जाता था। और जहां भारतीय कला, साहित्य, भाषा तथा संस्कृति का विशाल प्रभाव पड़ा है। द्वीपों का विवरण इस प्रकार है:—

१. इन्द्रद्युम्न	—	अण्डमान टापू
२. कसेरु	—	मलय द्वीप
३ ताम्रपर्ण	—	सिंहल, लंका
४. गभस्तिमान्	—	?
५. नाग द्वीप	—	नागवरं = नक्कवरं (चोल शिलालेख) = निकोवार टापू
६. सौम्य	—	?
७. गन्धर्व	—	?
८. वारुण[२७]	—	बोर्नियो टापू

कुल पर्वतः —

पौराणिक भूगोल में पर्वत दो प्रकार के होते हैं—वर्षपर्वत तथा कुल-पर्वत। वर्षपर्वत वर्षों के सीमागिरि हैं, जो एक वर्ष को दूसरे वर्ष से पृथक् करते हैं। कुलपर्वत देश के भीतर उसके प्रान्तों की सीमा बनाते हैं तथा एक प्रान्त को दूसरे प्रान्त से पृथक् करते हैं। भारत (कुमारी द्वीप) के कुल पर्वतों की संख्या सात मानी गई है:—(१) महेन्द्र, (२) मलय, (३) सह्य, (४) शुक्ति-

२७. इन्द्रद्युम्नः कसेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान्।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः ॥ शिव० ५, १८, ४।

अन्य पुराणों के अनुसार भी भारत के नवभागों का वर्णन प्रायः इसी के समान ही है। किन्तु कहीं-कहीं कुछ भागों के नाम भिन्न-रूप से उपलब्ध होते हैं, यथा वामनपुराण में उपर्युक्त सूची के अन्तिम दो नामों के स्थान पर 'कटाह' तथा 'सिंहल द्वीप' के नाम दिये गये हैं। 'कटाह-द्वीप' तो मलय प्रायद्वीप का 'केडा' नामक स्थान है, जिसका उल्लेख संस्कृत के कथासाहित्य में विशेषरूप से होता है। कथासरित्सागर में इसी द्वीप को 'कटकच्छद्वीप' के नाम से उल्लिखित किया गया है। सिंहल द्वीप तो आजकल का सीलोन या लंका है। किन्तु सिंहल के साथ साथ ताम्रपर्ण का उल्लेख यह सूचित करता है कि कभी ये दोनों भिन्न-भिन्न टापुओं के अभिधान थे, किन्तु कालान्तर में इन दोनों नामों से एक ही द्वीप (आजकल की लंका) का बोध होने लगा।

मान्, (५) ऋक्ष, (६) विन्ध्य, (७) पारियात्र[२८]। इन कुल पर्वतों से निर्गत नदियों के नाम, शिवमहापुराण के अनुसार इस प्रकार हैं :—

(१) महेन्द्र--त्रियामा, ऋषिकुल्या आदि नदियां महेन्द्र पर्वत से निकली मानी गई हैं। कलिङ्ग से प्रारम्भ होने वाली पूर्वी घाट की पर्वत श्रृंखला का नाम महेन्द्र है। परशुराम जी इसी पर्वत पर तपस्या करते हुये बतलाये गये हैं। आज भी गंजाम के समीप यह महेन्द्रमलै कहलाता है।

(२) मलय—कृतमाला, ताम्रपर्णी आदि प्रमुख नदियाँ मलय से उद्भूत बतलाई गई हैं। मलय दक्षिण भारत का नीलगिरि पर्वत है, जहां पूर्वीघाट तथा पश्चिमी घाट की पहाड़ियां एक दूसरे से मिलकर एक बंकिम रेखा के समान आकार धारण करती हैं। इस पर्वत पर चन्दन के वृक्ष बहुत अधिक होते हैं। यही कारण है कि चन्दन को मलयज कहा जाता है।

(३) सह्य अथवा सह्याद्रि--कृष्णा एवं वेणी आदि नदियाँ सह्य के पाद (उपत्यका) से निकली हैं। उत्तर से दक्षिण तक फैली हुई पश्चिमी घाट की पर्वत-श्रृंखलाको सह्य कहते हैं। महाराष्ट्र तथा कोंकण में आज भी इस श्रृंखला को इसी नाम से पुकारते हैं।

(४) शुक्तिमान्--ऋषिकुल्या एवं कुमारी आदि नदियाँ शुक्तिमान् पर्वत के पाद से समुद्भूत हुई हैं। इस पर्वत की वर्तमान स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। सह्याद्रि पर्वत की उत्तरी छोर से कुछ पहले ही पूर्व की ओर बढ़ने वाली उसकी भुजायें ही इस नाम से संकेतित जान पड़ती हैं जिसमें खान-देश की पहाड़ियाँ, अजन्ता तथा गोलकुण्डा का पठार भी सम्मिलित मानना चाहिये।

(५) ऋक्ष पर्वत—दक्षिण की सुप्रसिद्ध नदी गोदावरी, भीमरथी, ताप्ती आदि प्रमुख नदियों को ऋक्ष गिरि से विनिर्गत बतलाया गया है। ये दक्षिण की पवित्रतम नदियाँ मानी गई हैं। सतपुड़ा पहाड़ियों से आरम्भ होने वाली पर्वत श्रृंखला इसका आधुनिक प्रतिनिधि है। गोदावरी एवं ताप्ती इस पहचान को प्रमाणित करती हैं।

(६)—नर्मदा, सुरसा, आदि सात तथा अन्य सहस्रों महानदियाँ विन्ध्य से उद्भूत कही गई हैं। ये नदियाँ भी पवित्र मानी गई हैं।

(७) पारियात्र—शिवमहापुराण में इस पर्वत से निकलने वाली नदियों का नाम नहीं गिनाया गया है। इसके विषय में केवल इतना ही कहा गया है कि

---

२८. महेन्द्रो मलयः सह्यः सुदामा चर्क्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः॥ शिव० ५, १८, ८।

वेद, स्मृति एवं पुराण आदि का उद्भव पारियात्र पर्वत में हुआ है। अर्थात् यहीं पर निवास करने वाले ऋषियों, मुनियों ने उक्त ग्रन्थों का प्रणयन किया था। अरावली पहाड़ी को ही पारियात्र कहते थे। इससे विनिर्गत नदियों से इसकी पहचान की जा सकती है। इससे निकलने वाली नदियों में पर्णास (बनास नदी), चर्मण्वती (चम्बल), मही, पार्वती, वेत्रवती (बेतवा) आदि मुख्य नदियाँ इस पहाड़ से निकलती हैं, जो इसकी पूर्व पहचान को दृढ़ करती हैं[२९]।

भारत-भू-प्रशंसाः—

भारतवर्ष में कृत आदि चार युग होते हैं जो कि अन्य द्वीपों में नहीं होते। पुण्यशाली याज्ञिकों के द्वारा यहाँ दान दिया जाता था। यति लोग परलोक के लिये आदरपूर्वक तपस्या किया करते थे। यह भारतभूमि कर्मभूमि है, अतः सर्वश्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त अन्य भूमि भोग-भूमि मात्र है। प्राणी सहस्त्र जन्मों में बहुत से पुण्यसंचयों के द्वारा यहां मानव-शरीर प्राप्त करता है। भारतभूमि स्वर्ग एवं अपवर्ग का साधनभूत है। यहां के प्राणियों कीप्रशंसा देव लोग भी करते हैं। देवजन भी पुण्यक्षीण होने पर यहीं पर मनुष्य योनि में जन्म ग्रहण करते हैं। वे सोचते हैं कि कदाचित् मानुष्य को प्राप्त करके एवं शिव के परमात्म रूप में विहार कर अर्थात् परमात्मरूप का ध्यान कर सम्पूर्ण कर्मजफलों को मैं भी समाप्त कर दूँगा। भारत में जन्म लेने वाले प्राणी धन्य हैं, क्योंकि वे स्वर्ग एवं मोक्षरूपी दोनों लाभों के भागी होते हैं।

सप्तद्वीपों का वर्णन

क्षार उदधि से सुसंवृत जम्बूद्वीप का समस्त परिमण्डल लक्ष योजन विस्तार वाला है। यहां यह ध्यान में रखना है कि प्रत्येक द्वीप अपने पूर्व द्वीप से आयाम में द्विगुणित हैं[३०] और प्रत्येक द्वीप में सात नदियां तथा सात पर्वत होते हैं।

प्लक्ष द्वीप—शतसहस्त्रयोजनपरिमाण वाले क्षार उदधि का वेष्टन करके वर्तमान प्लक्षद्वीप दो लक्ष[३१] योजन विस्तार वाला है।

---

२९. मार्कण्डेयपुराण, ५७ अध्याय।

३०. एवं द्वीपाः समुद्रैस्तु सप्त सप्तभिरावृताः।
द्वीपाश्चैव समुद्राश्च समाना द्विगुणैः परैः॥ शिव० ५, १८, ६८।

३१. संवेष्ट्य क्षारमुदधिं शतसाहस्त्रसम्मितम्।
ततो हि द्विगुणो ब्रह्मन् प्लक्षद्वीपः प्रकीर्तितः॥ वही, ५, १८, २३।

वर्षपर्वत :—गोमत, चन्द्र, नारद, दर्दुर, सोमक, सुमनस् तथा वैभ्राज प्लक्ष द्वीप के वर्षपर्वत बतलाये गये हैं।

नदियाँ :—अनुतप्ता, शिखी, पापघ्नी, त्रिदिवा, कृपा, अमृता एवं सुकृता ये ही प्लक्ष की प्रसिद्धतम सात नदियां हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत नदियाँ एवं पर्वत हैं।

प्लक्षद्वीप में चतुर्वर्णों की स्थिति बतलाई गई है। वैदिक मन्त्रों एवं यन्त्रों से वहां शंकर, हरि एवं ब्रह्मा की पूजा होती थी[३२]।

शाल्मलि द्वीप :—शाल्मलि द्वीप में सात वर्ष हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं :-(१) श्वेत, (२) हरित्, (३) जीमूत, (४) रोहित (५) वैकल, (६ मानस, (७) सुप्रभ। यह द्विगुणित सुरा के समुद्र से सर्वदा वेष्टित रहता है।

नदियाँ :—शुक्ला, रक्ता, हिरण्या, चन्द्रा, शुभ्रा, विमोचना तथा निवृत्ति ये ही वहाँ की वर्षाभिव्यंजक नदियाँ हैं।

वहाँ के सातों वर्ष चतुर्वर्ण वाले हैं। वहाँ के निवासी विविध मखों से भगवान् शम्भु का यजन किया करते हैं।

कुशद्वीप :—घृतोदनामक सागर से परिवृत कुशद्वीप विस्तार में शाल्मलि से द्विगुणित है।

वर्षपर्वत :—कुशेशय, हरि, द्युतिमान्, पुष्पवान्, मणिद्रुम, हेमशैल एवं मन्दराचल वहाँ के वर्ष पर्वत हैं।

नदियाँ:—धूतपापा, पवित्रा, सम्मिति विद्या, दम्भा, मही एवं अल्पा वहाँ की प्रसिद्ध नदियां हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत नदियां हैं।

इस द्वीप में दैत्य, दानव, मनुष्य, देव, गन्धर्व, यक्ष, किंपुरुष तथा चारों वर्ण निवास करते थे। यहां के लोग ब्रह्मा, विष्णु एवं शंकर की पूजा करते हुये बतलाये गये हैं।

क्रौंचद्वीप :—क्रौंचद्वीप द्विगुणित दधिसागर से आवृत है।

वर्षपर्वत:—क्रौंच, वामन, अन्धकारक, दिवावृत्ति, मनस्, पुण्डरीक, दुन्दुभि, इन्हें वहां का वर्ष पर्वत कहा गया है।

नदियाँ:—गौरी, कुमुद्वती, सन्ध्या, रात्रि, मनोजवा, शान्ति, पुण्डरीका ये ही वर्ष नदियां हैं। इनके अतिरिक्त वहां बहुत सी छोटी छोटी नदियां हैं। इस द्वीप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र निवास करते बतलाये गये हैं। यहां के लोग योगीश्वर रुद्र की पूजा करते थे।

शाकद्वीप:—दधि सागर भी द्विगुणित शाकद्वीप से संवृत है।

---

३२. प्लक्षस्तन्नाम संज्ञो वै प्लक्षद्वीपो द्विजोत्तम।
इज्यते तत्र भगवाञ्छंकरो लोकशंकरः ॥ वही, ५, १८, ३१।

वर्षपर्वतः--इसके भी वर्षपर्वतों की संख्या सात गिनाई गई है। किन्तु नाम पांच के ही दिये गये हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं :--पूर्व में उदयगिरि, जलधार एवं अन्य पर्वत। पश्चिम में अस्तगिरि, अविकेश एवं केशरी पर्वत।

नदियाँ:—सुकुमारी, कुमारी, नलिनी, वेणुका, इक्षु, रेणुका एवं गभस्ति वहां की वर्ष नदियाँ हैं।

निवासी:—वहां भी ब्राह्मणादि चार वर्ण निवास करते बतलाये गये हैं।

देवता :—वहां के लोग भगवान् सूर्य की उपासना करते थे[३३]।

---

३३. शाकद्वीपे तु वै सूर्यः प्रीत्या जनपदैः सदा।
यथोक्तैरिज्यते सम्यक्कर्मभिर्नियतात्मभिः ॥ शिव० ५, १८, ५८।

शाकद्वीप के विषय में मत्स्यपुराण सर्वाधिक विवरण प्रस्तुत करता है। वह (अध्याय १२१) शकद्वीप की सात नदियों, सात पर्वतों, एवं सात वर्षों का वर्णन करता है और उनके दो दो नाम देता है (द्विनामः)। इनमें से एक नाम भारतीय (पौराणिक) एवं दूसरा स्थानीय प्रतीत होता है। मत्स्यपुराण के अनुसार 'शाकद्वीप' के पर्वतों के ये नाम हैं:--मेरु (दूसरा नाम उदय; शिव महापुराण में यही नाम है), जलधार (चन्द्र नाम से भी ख्यात, विष्णु में जलाधार), दुर्गशैल (नारद नाम से भी प्रख्यात); श्याम (अपर नाम दुन्दुभि), अस्तगिरि (अपर नाम सोमक) आम्बिकेय (सुमनस् नाम से भी प्रसिद्ध), विभ्राज (अपर नाम केशक)। शिवमहापुराण में केवल पांच वर्ष पर्वतों के नाम हैं, अन्य के नहीं। इनमें से उदय, जलधार एवं अस्तगिरि समान रूप से दोनों पुराणों में हैं, किन्तु अविकेश एवं केशरी ये दो नाम यहाँ भिन्न रूप से उल्लिखित हैं। केशरी का नाम विष्णु पुराण में दिया गया है।

शिवमहापुराण में शकद्वीप के सात वर्षों की चर्चा बिलकुल ही नहीं की गई है। किन्तु मत्स्य के अनुसार उनके नाम इस प्रकार हैं:-- १, उदयवर्ष, (उदय पर्वत का प्रदेश), २. सुकुमारवर्ष (अपर नाम शैशिर, जलधारपर्वत का प्रदेश), ३, कौमार (दूसरा नाम सुखोदय, नारद पर्वत का प्रदेश), ४. मणिचक (अपर नाम आनन्दक, श्माम पर्वत का प्रदेश), ५. कुसुमोत्कर (असित, सोमक पर्वतका प्रदेश) ६. मैनाक (क्षेमक नाम भी, आम्बिकेय पर्वत का प्रदेश), ७. विभ्राज ('ध्रुव' नाम से भी ख्यात, विभ्राज पर्वत का प्रदेश)।

शकद्वीप की सात नदियाँ (मत्स्यपुराण के अनुसार):—१. सुकुमारी (मुनितप्ता २. कुमारी (तपःसिद्धा), ३. नन्दा (पावनी), ४. शिविका (द्विविधा), ५, इक्षु (कुहू), ६. वेणुका (अमृता), ७. सुकृता (गभस्ति)।

यहाँ यह स्मरणीय है कि शिवमहापुराण में नन्दा के स्थान पर नलिनी नाम लिखा हुआ है और शिविका को रेणुका संज्ञा दी गई है।

पुष्कर द्वीप

शाकद्वीप परिमाण में द्विगुणित क्षीर सागर से चारों ओर घीरा हुआ है और यह क्षीराब्धि भी द्विगुणित पुष्कर द्वीप से संवृत है। पुष्कर द्वीप चारों ओर से स्वादिष्ट जल के सागर से आवृत है। इस द्वीप में सुर एवं असुरों से पूजित ब्रह्मा जी निवास करते हैं। ये ही इस द्वीप के सर्वश्रेष्ठ देवता कहे गये हैं[३४]।

भूलोक

अण्डाकार अथवा कटाहाकार यह पृथिवी पंचाशत कोटि (पंचाशत कोटि योजन) विस्तार वाली है[३५]। जहां तक सूर्य एवं चन्द्र की किरणें प्रकाशित होती है उतने प्रमाण को पृथिवी 'भूलोक' कही जाती है[३६]।

शिवमहापुराण की दृष्टि में ब्रह्माण्ड

अन्य पुराणों की भांति इस महापुराण की दृष्टि में ब्रह्माण्ड के भीतर चतुर्दश भुवन हैं। पृथिवी को केन्द्र मानकर षट्लोक उसके ऊपर एवं सप्तलोक

शाकद्वीप का यह भूगोल 'हिरोदोतस' नामक यूनानी लेखक द्वारा वर्णित शकों के निवास प्रान्त के भूगोल से साम्य रखता है। 'नन्दलाल दे' ने अपनी पुस्तक में अनेक पौराणिक नामों की पहचान इस प्रकार की है:—

संस्कृत नाम	युनानी नाम	संस्कृत नाम	युनानी नाम
शाकद्वीप	सीदिया	श्यामगिरि	मुस्तामूग (काला पर्वत एवं अवेस्ता का श्यामक गिरि)
कुमुद्वती या कुमुद	कौमेदेई		
सुकुमार	कौमारोई		
जलधार	सलतेरोई		
इक्षु	आक्सस नदी	सीता	सिरदरिया
		मूग	मरगि आना (वर्तमान मर्व)
		मशक	मस्सगेताइ

विद्वानों के अनुसार कास्पियन (कास्यपीय) समुद्र के तीरस्थ प्रदेश को आदि-शकस्तान कहा जाना चाहिये। यही पुराणों का शाकद्वीप है।

३४. न्यग्रोधं पुष्करद्वीपे ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम् ॥ शिव० ५, १८, ६६।
तस्मिन्निवसते ब्रह्मा पूज्यमानः सुरासुरैः। वही, ५, १८, ६७।

३५. तमश्चाण्डकटाहेन सेयमुर्वी महामुने।
पंचाशतकोटिविस्तारा सद्वीपा समहीधरा॥ वही ५, १८, ७६।

३६. रविचन्द्रमसोर्यावन्मयूखा भासयन्ति हि।
तावत्प्रमाणा पृथिवी भूलोकः स तु गीयते॥ वही, ५, १९, १।

उसके नीचे बतलाये गये हैं। नीचे के ही लोकों को पाताल कहा गया है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की स्थिति जल के मध्य में बतलाई गई है और कहा गया है कि उसकी ऊँचाई द्विगुणित है[३७]। अब यहाँ नीचे ग्रहों, नक्षत्रों एवं लोकों की स्थिति के विषय में वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है :—

भूमि से लक्षयोजन की दूरी पर सूर्यमण्डल स्थित है। मण्डल की परिधि सहस्रयोजन बतलाई गई है। रवि से ऊपर की ओर लक्ष योजन की दूरी पर चन्द्रमा स्थित है। शशि मण्डल के प्रमाण के लिये जगत् का उदाहरण दिया गया है[३८]। चन्द्रमा के ऊपर चारों ओर (परितः) दश सहस्र नक्षत्रों के सहित सम्पूर्ण ग्रहमण्डल स्थित है[३९]। ग्रहों की स्थिति इस प्रकार है :—चन्द्र के ऊपर बुध है, बुध से आगे शुक्र, उसके आगे भौम, भौम के ऊपर गुरु और गुरु के ऊपर शनैश्चर की स्थिति बतलाई गई है। पूर्वग्रह से उत्तर ग्रह की स्थिति द्विलक्षयोजन की दूरी पर है, किन्तु चन्द्र से बुध की दूरी का मान स्पष्टतः नहीं निर्दिष्ट किया गया है। अनुमान है कि इसकी भी दूरी वही होगी जो अन्य ग्रहों के बीच की है। शनैश्चर से एक लक्ष योजन की दूरी पर सप्तर्षिमण्डल स्थित है। ऋषियों से ऊपर की ओर शतसहस्रयोजन की दूरी पर ध्रुव स्थित है। ध्रुव नक्षत्र ज्योतिश्चक्र का केन्द्रबिन्दु (मेढीभूत) है। पृथिवी के ऊपर एवं ध्रुव के नीचे भूः, भुवः, एवं स्वः नामक भुवनों की स्थिति है।

ध्रुव से ऊपर सनक, सनन्दन, सनातन, कपिल, आसुरि, वोढु एवं पंचशिख नामक ब्रह्मा के पुत्र निवास करते हैं। उनके लोक का नाम है महः। महर्लोक के ऊपर जनलोक और उसके ऊपर तप लोक है। इस लोक में वैराज नामक देव रहते हैं। तपलोक के ऊपर सत्यलोक की स्थिति है। इसी लोक को ब्रह्मलोक कहते हैं। पूर्व पूर्व लोक की अपेक्षा उत्तर उत्तर लोक आयाम में अधिक हैं। सत्यधर्मरत, ज्ञानी एवं ब्रह्मचारी लोग सत्यलोक को जाते हैं। भूलोक में मनुष्य, भुवर्लोक में देवरूपी सिद्धमुनिजन एवं स्वर्गलोक में सुर आदि निवास करते हैं।

ऊपर के सात महा लोक हैं। इनके नीचे भी सात लोक हैं। नीचे के लोकों को पाताल भी कहा जाता है। पाताल लोकों के नाम इस प्रकार हैं :—

---

३७. पातालानि तु सप्तैव भुवनानि तथोर्ध्वतः।
उच्छ्रायो द्विगुणस्तस्य जलमध्ये स्थितस्य च ॥ शिव० ५, १५, १०।

३८. शशिनस्तु प्रमाणाय जगतः परिचक्षते। ······ । वही, ५, १६, ३।

३९. ग्रहाणां मण्डलं कृत्स्नं शशेरुपरि संस्थितम्।
सनक्षत्रं सहस्राणि दशैव परितोपरि ॥ वही, ५, १६, ४।

१-अतल, २-वितल, ३-सुतल, ४-रसातल, ५-तल, ६-तलातल, ७-पाताल । यही ब्रह्माण्ड का विस्तार है[४०] ।

ऊर्ध्वलोक[४१]:	अधोलोक[४२]
सत्यलोक	अतल
तपोलोक	वितल
जनलोक	सुतल
महर्लोक	तलातल
स्वर्लोक	रसातल
भुवर्लोक	महातल
मध्यलोकः—भूलोक	पाताल

यदि पुराणवर्णित अधोलोकों को आतपविहीन तथा शैत्यरहित पढ़कर इसे समशीतोष्ण-प्रदेश अमेरिका से अभिन्न माना जाय तो कदाचित् कोई अनुपपत्ति न होगी।

शिवमहापुराण इस चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड के बाद भी पांच लोकों का वर्णन करता है। इसके अनुसार सत्यलोक से ऊपर विष्णु से प्रतिष्ठित वैकुण्ठ लोक, इसके बाद सेनानी से अलंकृत कौमार लोक, ततः शिवा से विभूषित उमालोक उसके बाद परं ब्रह्म शम्भु से विराजित शिवलोक है। इसके ऊपर कोई लोक नहीं है। शिवलोक के समीप में गोलोक है जहां पर कि गोमातायें निवास करती हैं। वहीं पर भगवान् शंकर की आज्ञा से गोपाल कृष्ण भी निवास करते हैं। शिवलोक सम्पूर्ण लोकों की अपेक्षा अधिक मनोरम है।

शिवमहापुराण में पाताल लोकों का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है वह लोक प्रचलित सामान्य विश्वासों से सर्वथा भिन्न है। साधारण जनों का

---

४०. एते सप्त महालोकाः कालेय कथितास्तव ।
पातालानि च सप्तैव ब्रह्माण्डस्य च विस्तरः ।। शिव० ५, १६, १६ ।

४१. ऊर्ध्व लोकों के वर्णन के लिये द्रष्टव्य विष्णुपुराण द्वितीय अंश, ७ अ० तथा वायु० ५० अ० ।

४२. अधो लोकों के वर्णन के लिये द्रष्टव्य विष्णु० २, ५; श्रीमद्भा० ५, २४; वायु० ५० अ० १-४८ श्लोक ।

तो यही विश्वास हैं कि भूमि से नीचे के लोक अन्धकाराच्छन्न, दुःखमय एवं प्राणियों के रहने के योग्य नहीं है। किन्तु पुराणों के अनुसार लोगों की उक्त धारणा एकदम भ्रान्त प्रतीत होती है। शिवमहापुराण (५, १५, २६) महर्षि नारद के अनुभव का उद्धरण देते हुये कहता है कि 'पाताल तो स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर है'[४३]। वहाँ सूर्य एवं चन्द्र की स्थिति होने से भूलोक की भांति सर्वदा प्रकाश ही रहता है। किन्तु इस प्रकाश में भी एक विशिष्टता है, सूर्य की रश्मियाँ आतपशून्य एवं चन्द्र की किरणें शीतलता-रहित हुआ करती हैं अर्थात् सूर्य एवं चन्द्र वहां एक मणि की ही भांति प्रकाश करते हैं[४४]। वहां के निवासी दैत्य, दानव तथा नागलोग स्वच्छ आभूषण, गन्धाढच अनुलेपन तथा वेणु-वीणा आदि वस्तुओं का सेवन करते हैं। भोग-विलास के सम्पूर्ण साधनों से युक्त पाताल लोक देवों और दानवों के लिये भी एक स्पृहणीय वस्तु है। पाताल के मूल में क्षितिमण्डल को धारण करने वाले, शेष सर्वदा स्थित बतलाये गये हैं[४५]।

---

४३. प्राह स्वर्गसदोमध्ये पातालानीति नारदः।
स्वर्लोकादपि रम्याणि तेभ्योऽसावागतो दिवि ॥ शिव० ५, १५, २६।
तुलना—स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारदः।
प्राह स्वर्गसदोमध्ये पातालेभ्यो गतो दिवम् ॥ ब्रह्म० २१, ५ तथा विष्णु० २, ५, ५।

४४. दिवार्करश्मयो यत्र न भवन्ति विधोर्निशि।
न शीतमातपो यत्र मणितेजोऽत्र केवलम् ॥ वही० ५, १५, २९।

४५. महाभारत भी बड़े ही कमनीय शब्दो में इन नीचे के लोकों का वर्णन करता है—
न नागलोके न स्वर्गे न विमाने त्रिविष्टपे।
परिवासः सुखस्तादृग् रसातलतले यथा ॥ महा० आ० प० १०२, १२।

'उपसंहार'

शिवमहापुराण में कथा की अपेक्षा दार्शनिक तत्त्व कम नहीं है। विद्येश्वर संहिता, कैलास संहिता और वायवीय संहितायें तो दार्शनिक बातों से भरीं ही हैं, किन्तु अन्य संहिताओं में भी दार्शनिक तथ्य कम नहीं उपलब्ध होते। यह बात पूर्ण सत्य है कि शिव महापुराण में शैव दर्शन का प्रतिपादन आगमों के साथ ही साथ सांख्य, वेदान्त, तन्त्र, योग आदि दर्शनों के आधार पर ही किया गया है। इस प्रकार शिव महापुराण उक्त दर्शनों का एक समवाय सा प्रतीत होता है। कहीं कहीं तो इनका नामतः उल्लेख किया गया है और कहीं कहीं इनके सिद्धान्तों को ही लेकर शैव दर्शन को समृद्ध एवं पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है।

यद्यपि दार्शनिक तथ्यों का उपस्थापन एवं विवेचन पुराणों का विषय नहीं है, उनमें प्रधानतः सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित का ही वर्णन होना चाहिये[1] तथापि औपनिषदिक काल में एवं उसके अनन्तर दर्शन के बढ़ते हुये प्रभाव एवं उसकी लोकप्रियता को देखकर प्राचीन आचार्यों ने पुराणों में दार्शनिक तथ्यों एवं अध्यायों को प्रविष्ट करा दिया। उनका यह काम पुराणों को लोकप्रिय तथा दार्शनिक ग्रन्थि को सरल एवं सर्वजन-सुलभ बनाने के ध्यान से ही हुआ होगा। पुराणों को पूर्ण व्यापक बनाने का उद्देश्य भी इस कार्य में प्रभावकारी रहा होगा। इसके अतिरिक्त साम्प्रदायिकता ने भी तत्तद्दर्शनों को तत्तत्पुराणों में जोड़ने के लिये साम्प्रदायिक आचार्यों को निःसन्देह बाध्य किया होगा। फलतः पंचलक्षण वाले पुराणों में दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने का भी कार्य प्रारम्भ हुआ और पुराण दार्शनिक विवेचना भी प्रस्तुत करने लगे। कुछ पुराणों में तो कथाओं की अपेक्षा दर्शनांश की ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है।

---

१. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम् ॥ शिव० ७, १, १, ४१।

टिप्पणी :-यही लक्षण किंचित् पाठभेद से या समान रूप से इन पुराणों में भी प्राप्त होता है :-विष्णु० ३,६, २४ ॥ मार्कण्डेय० १३४, १३ ॥ अग्नि० १, १४॥ भविष्य० २, ५ ॥ ब्र० वै० १३३, ६ ॥ वाराह० २, ४ ॥ स्कन्द० (प्रभास खण्ड, २, ८४) ॥ कूर्म० (पूर्वार्द्ध० १, १२१) ॥ मत्स्य० ५३, ६४ ॥ गरुड (आचारकाण्ड २, २८) ॥ ब्रह्माण्ड० (प्रक्रिया पाद १, ३८) ॥

शिवमहापुराण में भो प्रधानरूप से वर्ण्य विषय शैवदर्शनों को सांख्य, वेदान्त, योग, तन्त्र के सिद्धान्तों एवं मतों के आधार पर ही प्रस्तुत किया गया है। यहां उनका एक एक करके वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(१) सांख्य-दर्शन

सांख्य के आभ्यन्तर (सैद्धान्तिक) पक्ष पर विचार करने के पूर्व यहां यह उचित प्रतीत होता है कि उसके उस बाह्य पक्ष पर सर्वप्रथम विचार किया जाय जो कि शिव महापुराण में उपलब्ध होता है।

शिवमहापुराण के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि इसके निर्माण अथवा वर्तमान स्वरूप के पूर्व सांख्य एवं वेदान्त दर्शन अपनी उन्नति के चरम शिखर पर आसीन थे। यह काल दोनों की उन्नति का काल था। दोनों ही अपने-अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन एवं प्रसार में संलग्न थे। ये दोनों ही दर्शन उस समय एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में खड़े थे। किन्तु उस समय तक सांख्य की उत्कृष्टता निर्विवाद थी।

शिव महापुराण में कथा आती है कि—'हिमालय ने पार्वती के विवाह के विषय में देखे गये स्वप्न का वर्णन करते हुये अपनी स्त्री से कहा कि 'नारदोक्त वर के लक्षणों को धारण करने वाले एक तपस्वी तपस्यार्थ हमारे नगर के उपकण्ठ में आये हैं। उनको भगवान् शम्भु जानकर मैं उनकी सेवा में पार्वती को रखना चाहता था। किन्तु जब उन्होंने मेरी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी तब मेरा उनके साथ सांख्य और वेदान्त के अनुसार महान् विवाद हुआ अर्थात् मैं सांख्य मत का अवलम्बन कर पार्वती को उनके साथ रखने का प्रस्ताव कर रहा था और वे वेदान्त मत का अवलम्बन कर मेरी प्राथना अस्वीकृत कर रहे थे। अन्त में मुझे सफलता मिली और उन्होंने मेरी पुत्री को अपनी सेवा में रख लिया[2]।' हिमालय का यह स्वप्न तो उस घटना की पूर्व सूचना है, जिसके अनुसार आगे पार्वती एवं शंकर में परस्पर सांख्य एवं वदान्त के अनुसार शास्त्रार्थ हुआ था और पार्वती, जो सांख्य मत का अवलम्बन कर रही थीं, जिसमें विजयी हुई थीं।

एक स्थल पर सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक कपिलमुनि को भगवान् विष्णु का अवतार कहा गया है।[3] एक अन्य स्थल पर भगवान् शंकर ने ब्रह्मा जी से

२—अभूद्विवादः सुमहान् सांख्यवेदान्तसम्मतः।
ततस्तदाज्ञया तत्र संस्थिताऽऽसीत् सुता मम ॥ शिव० २, ३, ६, २४।

३—नमः कपिलरूपाय देवहूत्यै महात्मने।
वदते सांख्ययोगं च सांख्याचार्याय वै प्रभो ॥ वही, २, ५, १६, १३।

कहा है कि अष्टम द्वापर में मैं 'दधिवाहन' नाम से अवतार लूंगा। उस समय मैं महर्षि व्यास जी की सहायता करूंगा। उस अवतार में कपिल आसुरि, पंचशिख, शाल्वक ये चार योगी पुत्र मेरे ही समान होंगे[४]। किन्तु यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि सांख्यग्रन्थों के अनुसार 'आसुरि' और 'पंचशिखाचार्य' महर्षि कपिल के शिष्य हैं[५]। भगवान् शंकर के सहस्रनामों में उनका एक नाम कपिलाचार्य भी है[६]।

यह एक बड़ी ही विचित्र बात है कि एक ही पुराण में एक स्थल पर कपिल को शंकर के अवतार 'दधिवाहन' का पुत्र कहा गया है और दूसरे स्थल पर भगवान् शंकर को ही कपिलाचार्य कहा गया है। और यह तो अति विचित्र बात है कि उसी ग्रन्थ में कपिल के मत (निरीश्वर सांख्य) की कटु शब्दों में आलोचना भी की गई है। कपिल के शास्त्रों को भ्रामक और उनके पढ़ने वालों को अधम, शठ एवं शिवनिन्दापरायण तथा अन्यथावादी कहा गया है। उनके उपदेशों के सुनने का निषेध भी किया गया हैं[७]। इतना होने पर भी जिस समय शिव महापुराण की रचना की जा रही थी और शिवकी भक्ति का प्रसार एवं प्रचार दिनानुदिन वृद्धिङ्गत हो रहा था उस समय भी सांख्य को जानने वाले, निघण्ट के समान वितृस्त, सामान्य मनुष्यों के लिये दुर्ज्ञेय सांख्य के गीतों को पढ़ते थे। किन्तु फिर भी सामान्य जनता सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाले शिव के स्तोत्रों की ओर ही आकृष्ट होने लगी थी[८]।

उमा संहिता में नक्षत्र मण्डल की स्थिति के वर्णन के प्रसंग में कहा गया है कि ध्रुव के ऊपर महर्लोक में ब्रह्मा के सात पुत्र—सनक, सनन्दन, सनातन कपिल, आसुरि, वोढु, पंचशिख, निवास करते हैं[९]। पुराणों में बहुत-सी भ्रामक

४—कपिलाश्चासुरिः पंचशिखः शाल्वलपूर्वकः।
चत्वारो योगिनः पुत्रा भविष्यन्ति समा मम ॥ शिव० ३, ४, ३३।

५—भारतीय दर्शन (चट्टोपाध्याय एवं दत्तकृत), पटनाप्रकाशन, पृ० १६८।

६—महर्षिः कपिलाचार्यो विश्वदीप्तिस्त्रिलोचनः। वही ४, ३५, १७।

७—कापिलादिषु शास्त्रेषु भ्रमन्त्यद्यापि तेऽधमाः ॥
ते शप्ता मुनिभिः षड्भिः शिवनिन्दापरा पुरा।
न श्रोतव्या हि तद्वार्ता तेऽन्यथावादिनो यतः ॥ वही, ६, १६, १८-१९।

८—सांख्याः पठन्ति तद्गीतं विस्तीर्णं च निघण्टवत्।
दुर्ज्ञानं मानुषाणां तु स्तोत्रं तत्सर्वकामदम् ॥ वही, ५, २, ४९।

९—ध्रुवादूर्ध्वं महर्लोकः सप्तैते ब्रह्मणः सुताः ॥
सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः।
कपिलश्चासुरिश्चैव वोढुपंचशिखस्तथा ॥ वही, ५, १६, ८-९।

बातें भी यत्र तत्र लिखी मिलती हैं। एक स्थलपर एक व्यक्ति को किसी एक का पुत्र बतलाया जाता है तो अन्य स्थल पर उसे किसी दूसरे का पुत्र कहा जाता है। जैसा ऊपर लिखा गया है शिवमहापुराण में एक स्थल पर कपिल आसुरि, पंचशिख और शाल्वक को शिव के अवतार 'दधिवाहन' का पुत्र बतलाया गया है और दूसरे स्थल पर उन्हीं को ब्रह्मपुत्र भी कहा गया है। अन्तर केवल इतना ही है कि पहले स्थान के 'शाल्वक' दूसरे स्थान पर' 'वोढु' बन गये हैं।

इन बाह्य प्रमाणों से सिद्ध होता है कि शिव महापुराण की रचना अथवा वर्तमान स्वरूप के पूर्व ही सांख्यमत अपने प्रचार के पूर्ण यौवन पर था। त्रयोविंशति तत्त्वों से परे प्रकृति एवं प्रकृति से परे पंचविंशतितम पुरुष तत्त्व का ज्ञान प्रायः सभी आचार्यों को था[१०]। इन पच्चीस तत्त्वों की प्राचीनतम कल्पना सांख्य की अपनी कल्पना है। अन्य पुराणों एवं दर्शनों की भांति निश्चय ही शिवमहापुराण ने भी इन पच्चीस तत्त्वों को यथावत् रूप से अथवा अतिस्वल्प परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया है[११]। इस विषय में सभी पुराण सांख्य-शास्त्र के ऋणी हैं। सांख्य के इन तत्त्वों को पुराणों में अथवा अन्यत्र यथावत् स्वीकार करने के दो कारण थे। पहला कारण यह था कि सांख्य के पंचविंशति-तत्त्व पुराणों एवं अन्य दर्शनों के उदय के पूर्व तक सामान्य रूप से प्रचलित एवं पूर्ण लोकप्रिय हो चुके थे, अतः उनको स्वीकार कर अपने मत के अनुसार उनकी व्याख्या करना और उनके बाद अन्य तत्त्वों की कल्पना करना तथा अपने मत का प्रचार करना पौराणिकों एवं अन्य आचार्यों के लिये सुगम प्रतीत हो रहा था। दूसरा कारण यह था कि सांख्य का तत्त्वात्मक विकासवाद अपने आप में इतना पूर्ण एवं सरल था कि उसके

---

१०. त्रयोविंशतितत्त्वेभ्यः परा प्रकृतिरुच्यते।
प्रकृतेस्तु परं प्राहुः पुरुषं पंचविंशकम् ॥ शिव० ६, ६, ६।

११. शिवमहापुराण के अनुसार त्रिगुणात्मक अव्यक्त माया से प्रादुर्भूत होता है। अव्यक्त से पुनः तीनों गुण विभक्त होकर उत्पन्न होते हैं और उन्हीं से महदादि (बुद्धि, अहंकार एवं मन) उत्पन्न होते हैं:—

श्लोक— मायातः पुनरेवाभूदव्यक्तं त्रिगुणात्मकम्।
त्रिगुणाच्च ततोऽव्यक्ताद्विभक्ताः स्युस्त्रयो गुणाः ॥ वही, ७, २,४,२३।
गुणेभ्यो क्षोभ्यमाणेभ्यो गुणेशाख्यास्त्रिमूर्तयः।
अभवन्महदादीनि तत्त्वानि च यथाक्रमम् ॥ वही, ७, २, २४-२५।

विशेष के लिये इसी शोधप्रबन्ध का तृतीय अध्याय (पृ०) द्रष्टव्य।

समानान्तर किसी भी तत्त्वात्मक विकास की कोई कल्पना कठिन थी। अतः पौराणिकों एवं आचार्यों ने सांख्य के विकसित तत्त्वों को स्वीकार कर लेना उचित ही समझा।

सांख्य के बाह्य प्रमाणों के अतिरिक्त आभ्यन्तर (सैद्धान्तिक) प्रमाणों पर अब यहाँ विचार किया जायगा। सांख्य के अनुसार पुरुष अनन्त हैं और प्रकृति ही समस्त संसार की हेतुभूत है। शिवमहापुराण के अनुसार भी पुरुष प्रधान, महान् को समावृत करके स्थित है और अनन्त उस परमात्मा पुरुष की भी संख्या नहीं है, क्योंकि उस पुरुष का कोई प्रमाण नहीं है, यही कारण है कि उसे अनन्त भी कहते हैं। उनकी परा प्रकृति भी समस्त संसार की हेतुभूत है[१२]। सांख्य की प्रकृति त्रिगुणात्मिका कही गई है। ठीक उसी प्रकार शिव-महापुराण में भी उमा (शक्ति) को रजस्सत्त्वतमोमयी परात्परा प्रकृति कहा गया है[१३]।

सांख्य की विशेष विशेषता यह है कि वह सत्कार्यवादी है। वह कारण में कार्य की सत्ता स्वीकार करता है। शिव महापुराण के अनुसार भी सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण प्रकृतिसंभव हैं। ये अपनी उत्पत्ति के पूर्व सूक्ष्मरूप से प्रकृति में उसी प्रकार वर्तमान रहते हैं, जिस प्रकार तिल में तेल उत्पत्ति के पूर्व वर्तमान रहता है[१४]।

सांख्य की ही भांति यहाँ भी सुख एवं सुखहेतु संक्षेप में सात्त्विक कहे गये हैं। दुःख एवं दुःखहेतु राजस तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति की शून्यता अर्थात् स्तम्भ और मोह तामस कहे गये हैं। सत्त्वगुण की ऊर्ध्व-गति और तमोगुण की अधोगति तथा रजोगुण की मध्यगति बतलाई गई है। पंचतन्मात्रायें पंचमहाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रियां, पंच कर्मेन्द्रियां तथा प्रधान, महतत्त्व, अहंकार और मन—ये ही सब मिला कर चतुर्विंशति तत्त्व कहे गये हैं। अति संक्षिप्त रूप से यही विकार सहित प्रकृति का वर्णन है। कारणावस्था में रहने पर ही इसे अव्यक्त कहते हैं और शरीर आदि के रूप में जब वह कार्यावस्था को प्राप्त होता है, तब उसकी 'व्यक्त' संज्ञा होती है—ठीक उसी तरह, जैसे कारणावस्था में स्थित होने पर जिसे हम 'मृत्तिका' कहते हैं, वहीं कार्यावस्था में 'घट

---

१२. महान्तं च समावृत्य प्रधानं पुरुषः स्थितः। शिव० ५, १९, २२।
हेतुभूतस्समस्तस्य प्रकृतिस्सा परा मुने। वही, ५, १९, २४।

१३. परात्परा हि प्रकृती रजस्सत्त्वतमोमयी। वही, ५, १९, ३७।

१४. सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
प्रकृतौ सूक्ष्मरूपेण तिले तैलमिव स्थिताः॥ वही, ७, १, ५, ३४।

आदि नाम धारण कर लेती है। जैसे घट आदि कार्य मृत्तिका आदि कारण से अधिक भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार शरीर आदि व्यक्त पदार्थ अव्यक्त से अधिक भिन्न नहीं हैं[१५]। इस लिये एकमात्र अव्यक्त ही कारण, करण उनका आधारभूत शरीर तथा भोग्य वस्तु है, दूसरा कोई नहीं।

यहाँ यह भी स्मरण रखना पड़ता है कि अव्यक्त से उत्पन्न हुआ यह सब जगत् अनुलोम क्रम से ही उत्पन्न होता है और प्रलय काल की उपस्थिति होने पर प्रतिलोम क्रम से लय हो जाता है। काल के वश से ही गुण सम और विषम होते हैं। गुणों की साम्यावस्था में लय और विषमावस्था में सृष्टि होती है[१६]।

शिवमहापुराण के समय तक सांख्यमत के अनुसार प्रकृति की प्रधानता स्थापित हो चुकी थी। यद्यपि उस समय सेश्वर सांख्य भी प्रचलित था तथापि निरीश्वर सांख्य की प्रबलता निर्विवाद थी। शिव महापुराण में सेश्वर सांख्य का समर्थन एवं निरीश्वर सांख्य का खण्डन जम कर किया गया है। यहां दोनों के उद्धरण क्रमशः प्रस्तुत किये जा रहे हैं।—

उस समय सेश्वर सांख्य का यह मत प्रसिद्ध हो चुका था कि प्रकृति के बिना लिङ्ग रूपी महेश्वर की कल्पना असंभव है। प्रकृति के ही कारण ईश्वर प्राणियों के सर्वदा पूज्य, वन्द्य एव ध्येय हैं[१७]। प्रकृति के कारण ही संसार का सम्पूर्ण व्यवहार चलता है। उसके बिना एक शब्द का भी व्यवहार नहीं हो सकता। ईश्वर भी प्रकृतिसमवेत है। वह प्रकृति से परे नहीं होता[१८]।

---

१५. तत्कारणदशापन्नमव्यक्तमिति कथ्यते।
व्यक्तं कार्यदशापन्नं शरीरादिघटादिवत् ॥
यथा घटादिकं कार्यं मृदादेर्नातिभिद्यते।
शरीरादि तथाव्यक्तमव्यक्तान्नातिभिद्यते ॥ शिव० ७, १, ५, ३९–४०।

१६. अव्यक्तप्रभवं सर्वमानुलोम्येन जायते।
प्राप्ते प्रलयकाले तु प्रातिलोम्येऽनुलीयते ॥
गुणाः कालवशादेव भवन्ति विषमाः समाः।
गुणसाम्ये लयो ज्ञेयो वैषम्ये सृष्टिरुच्यते ॥ वही, ७, १, १०, ३९–४०।

१७. विना प्रकृत्या च कथं लिंगरूपो महेश्वरः।
अर्चनीयोऽसि वन्द्योऽसि ध्येऽयोसि प्राणिनां सदा।
प्रकृत्या च विचार्येति हृदा सर्वं तदुच्यताम् ॥ वही, २, ३, १३, ४-५।

१८. यदुक्तं भवता योगिन् वचनं शंकर प्रभो।
सा च किं प्रकृतिर्न स्यादतीतस्तां भवान् कथम् ॥ वही, २, ३, १३, १०।

यह सम्पूर्ण विश्व प्रकृति से ही निरन्तर बद्ध है[१९]। प्रकृति के बिना कोई भी कार्य सम्भव नहीं। वचन एवं रचन (सृष्टि) सब कुछ प्राकृत ही समझना चाहिये। ईश्वर का श्रवण, अशन, अवलोकन एवं कार्य सब कुछ प्रकृति के ही कारण सम्पन्न होता है[२०]। जहां तक प्राणियों की इन्द्रियाँ अपना विषय बनाती हैं, वह सब प्रकृति का कार्य जानना चाहिये। निर्गुण ईश्वर जो सगुण रूप धारण करता है वह सब प्रकृति का ही कार्य है। प्रकृति के बिना ईश्वर निरीह है और कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। ईश्वर सर्वदा पराधीन (प्रकृति के अधीन) तथा विविध कर्म करने वाला है[२१]।

सांख्य की प्रकृति एवं ईश्वर की भाँति ही शिवमहापुराण में शिव एवं उनकी शक्ति की कल्पना की गई है। जिस प्रकार सांख्य का ईश्वर प्रकृति के बिना कुछ भी करने में समर्थ नहीं है उसी प्रकार पुराण के शिव भी शक्ति के बिना कुछ भी करने में समर्थ नहीं होते। यही कारण है कि उनका शक्ति से कभीं भी विप्रयोग नहीं होता।

शिवमहापुराण में सांख्य की निरीश्वरता का जम कर खण्डन किया गया है। सांख्य के मत का खण्डन एवं ईश्वर की सिद्धि करते हुये शिवमहापुराण का कहना है कि जिस प्रकार पंचावयव (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन) युक्त धूम के देखने से पर्वत की अग्निमत्ता अनुमित होती है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रपंच के दर्शन के अवलम्बन से परमात्मा का भी अनुमान करना चाहिये। स्त्रीपुरुषात्मक यह विश्व प्रत्यक्ष ही दीखता है, अतः इसके कर्ता का अनुमान बहुत ही सरल है[२२]।

---

१९. प्रकृत्या सर्वमेतच्च बद्धमस्ति निरन्तरम् ॥ शिव० २, ३, १३, ११।

२०. यच्छृणोषि यदश्नासि यत्पश्यसि करोषि यत्।
तत्सर्वं प्रकृतेः कार्यं मिथ्यावादो निरर्थकः ॥ वही, २, ३, १३, १३।

२१. मदनुग्रहतस्त्वं हि सगुणो रूपवान् मतः।
मां विना त्वं निरीहोऽसि न किंचित्कर्तुमर्हसि ॥
पराधीनः सदा त्वं हि नानाकर्मकरो वशी। वही, २, ३, १३, १९-२०।

२२. पंचावयवयुक्तस्य स तु धूमस्य दर्शनात् ॥
पर्वतस्याग्निमद्भावं वदन्त्यत्रापि सुव्रत।
प्रत्यक्षस्य प्रपंचस्य दर्शनालम्बनं त्वतः ॥
ज्ञातव्यः परमेशानः परमात्मा न संशयः।
स्त्रीपुंरूपमयं विश्वं प्रत्यक्षेणैव दृश्यते ॥ वही, १, १६, २०-२२।

टिप्पणी :—जगत् के कर्त्ता का अनुमान इस प्रकार होता है :—यथा-'क्षित्यंकुरादिकं कर्तृजन्यम्' (पृथ्वी तथा अंकुर आदि किसी कर्त्ता द्वारा उत्पन्न हुये हैं)—यह

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिवमहापुराण में सांख्य की बहुत-सी बातें लेकर आत्मसात् कर ली गई हैं। वस्तुतः सही बात तो यह है कि सांख्य एवं पाशुपत मत में नाममात्र की विप्रतिपत्ति है, न कि वस्तुतः। सांख्य के प्रवर्तक कपिलादि एवं पंचशिखादि विद्वानों के द्वारा प्रधान, पुरुष एवं ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है। प्रधान ही प्रकृति के नाम से जाना जाता है। यह सम्पूर्ण संसार प्रकृति का ही परिणाम है। पुरुष, प्रकृति एवं उसके परिणामों से भिन्न, प्रकृति से बद्ध, संसारी है। परमेश्वर प्रकृति से मुक्त, उदासीन एवं प्रसन्न कहे गये हैं। पाशुपत मत में इन्हीं तीनों सत्ताओं को क्रमशः पाश, पशु एवं पति कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन तीनों तत्त्वों के विषय में केवल नाममात्र का भेद है। पतंजलि ने ईश्वर की व्याख्या करते हुये उसे क्लेश, कर्मविपाक एवं आशय से अपरामृष्ट कहा है—'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट उपास्य ईश्वरः' इति।

इस प्रकार तो शिवमहापुराण में शैवमत की प्रायः सभी शाखायें व्याख्यात हैं किन्तु पाशुपत मत का वर्णन इसमें आद्योपान्त किया गया है। यहां इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है।

(२) वेदान्त

शिवमहापुराण में वेदान्त शब्द एकाधिक स्थलों में आया है[२३]। जैसाकि 'सांख्य' प्रकरण में बतलाया गया है कि पुराण काल में वेदान्त अपने शैशव से यौवन की ओर बढ़ रहा था। उसके सिद्धान्तों का प्रचार एवं आचरण तीव्रता के साथ हो रहा था। वेदान्त को अपने विकास के इस युग में अवश्य ही कतिपय मतों से संघर्ष करना पड़ रहा था[२४]। तथापि इसकी वृद्धि, सुनिश्चित थी। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि शिवमहापुराण में प्रयुक्त

प्रतिज्ञा है। 'कार्यत्वात्' (क्योंकि ये कार्य हैं)—यह हेतु है। 'यत् यत् कार्यं तत्तत् कर्तृजन्यं यथा घटः कुम्भकारजन्यः' (जो जो कार्य है, वह किसी न किसी कर्ता से उत्पन्न होता है, जैसे घड़ा कुम्भकार से उत्पन्न होता है) यह उदाहरण हुआ। 'यतः इदं कार्यम्' (चूंकि ये पृथिवी आदि कार्य हैं)—यह उपनय हुआ। 'अतः कर्तृजन्यम्' (इसलिये कर्त्ता से उत्पन्न हुये हैं)—यह निगमन हुआ। पृथिवी आदि कार्य हम जैसे लोगों से उत्पन्न हुआ है, यह कहना सम्भव नहीं, अतः इसका कोई विलक्षण कर्त्ता है, वही सर्वशक्तिमान् ईश्वर है।

२३. शिव० २, ३, १०, १५; २, ३, १३, २२।

२४. अभूद्विवादः सुमहान् सांख्यवेदान्तसंगतः (सम्मतः)। वही, २, ३, १०, २५।

वेदान्त शब्द शांकरवेदान्त आदि के लिये न प्रयुक्त होकर उपनिषदों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। यह बात तत्तत्प्रकरणों के देखने से स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है।

वेदान्त शब्द से उपनिषदों को सूचित करने के यह माने नहीं होते कि पौराणिक काल में (जिसका समय एक लम्बी अवधि तक चलता है) वेदान्त के तत्तत्सम्प्रदाय तब तक प्रचलित ही न थे। शब्दतः वेदान्त के तत्तत्सम्प्रदायों का उल्लेख न होने पर भी वेदान्त के कतिपय सम्प्रदाय पौराणिक काल तक अस्तित्व में आ चुके थे और उनका प्रभाव भी पुराणों पर अवश्य पड़ा है।

यद्यपि शिवमहापुराण में शांकर वेदान्त शब्दतः कहीं भी निर्दिष्ट नहीं है तथापि यह निश्चित है कि इसकी अद्वैतवादी धारा का स्पष्ट प्रभाव शिव-महापुराण एवं शैवदर्शन की अद्वैतवादी धारा पर अवश्यमेव पड़ा है। यह अद्वैत वेदान्त का ही प्रभाव है कि शिवमहापुराण डिण्डिमघोष के साथ कहता है कि 'अद्वैत शैववाद कहीं भी द्वैत को नहीं सहन करता। द्वैत नश्वर है और परमब्रह्म अनश्वर एवं अद्वैत है'[२५]। मायावाद का सिद्धान्त भी शिवमहापुराण में अद्वैत वेदान्त से ही लिया गया है। इस मायावाद को स्वीकृत करके ही शिवमहापुराण में कहा गया है कि 'सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, सर्वेश्वर, सच्चिदानन्द-विग्रह, ब्रह्म शिव स्वेच्छया अपनी माया के द्वारा संकुचित रूपवाला सा होकर पुरुष (आत्मा) हुए हैं[२६]। यहाँ भी ब्रह्म को माया से निर्लिप्त एवं वेदान्त-वेद्य कहा गया है[२७]। यह ब्रह्म पूर्ण स्वतन्त्र होते हुये भी माया के द्वारा पर-तन्त्र किया जाता है। इस जगत् का सम्पूर्ण कार्य इसी महामाया के द्वारा ही सम्पन्न होता है[२८]। यह सम्पूर्ण जगत् मायाकृत है। माया के अतिरिक्त इस संसार में कुछ भी नहीं है[२९]। यह मायाकृत संसार अवास्तविक है। यह माया का ही कार्य है कि निर्गुण होते हुये भी ब्रह्म सगुणरूप धारण करता है।

---

२५. अद्वैतः शैववादोऽयं द्वैतं न सहते क्वचित्।
द्वैतं च नश्वरं ब्रह्माद्वैतं परमनश्वरम्॥ शिव० ६, १७, ३।

२६. स एव शंकरो देवः स्वेच्छया च स्वमायया।
संकुचद्रूप इव सन्पुरुषः संबभूव ह॥ वही, ६, १७, ५।

२७. यद्यहं ब्रह्मनिर्लिप्तो मायया परमेश्वरः।
वेदान्तवेद्यो मायेशस्त्वं करिष्यति किं तदा॥ वही, २, ३, १३, २४।

२८. सर्वकर्त्री च प्रकृतिर्महामाया त्वमेव हि॥ वही, २, ३, २६, २०।

२९. मायामयं कृतिमदं च जगत् समग्रम् ......। वही, २, ३, २६, २१।

अद्वैतवेदान्त के मार्ग पर बढ़ता हुआ शिवमहापुराण यह मानता है कि यह सम्पूर्ण संसार एक अद्वितीय ब्रह्म है और वही सत्य है; उसके सिवा यहाँ कुछ भी नहीं है[३०]। फिर तो प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्म ही सत्य है और जगत् मिथ्या है तो संसार प्रत्यक्ष रूप से देखा कैसे जाता है ? इसके साथ व्यवहार कैसे उपपन्न होता है ? आदि प्रश्नों का उत्तर शिवमहापुराण अद्वैत वेदान्त के ही शब्दों में देते हुये कहता है कि जिस प्रकार रस्सी में सांप, शुक्तिका में रौप्य (चांदी) तथा मृगमरीचिका में जल प्रतीत होता है, उसी प्रकार चतुर्दिक् माया का प्रपंच फैला हुआ है। उसी को मानकर सांसारिक व्यवहार उपपन्न होते हैं। परन्तु तत्त्व के जान लेने पर सारी बातें स्वयमेव स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगती हैं[३१]। संसार की अवास्तविकता ब्रह्म के जान लेनें पर स्वयमेव प्रतीत होने लगती है। इस संसार में ब्रह्म ही सत्य है और सब कुछ असत्य।

जिस प्रकार जल में शीतलता, अग्नि में दाहकता, सूर्य में ताप, चन्द्रमा में आह्लादकता, पुष्प में सुगन्ध एवं दुग्ध में घृत व्याप्त रहता है उसी प्रकार भगवान् शिव भी, जिन्हें ब्रह्म कहा जाता है, सब में व्याप्त रहते हैं[३२]।

यह तो रही शांकर वेदान्त की बात। इसके अतिरिक्त शिवमहापुराण में रामानुज सम्प्रदाय की कटु शब्दों में आलोचना की गई है। यद्यपि वहां भी रामानुज अथवा उनके विशिष्टाद्वैत का नामतः उल्लेख नहीं किया गया है तथापि जो वर्णन वहाँ उपलब्ध होता है उससे स्पष्ट ही रामानुज का मत एवं सम्प्रदाय उपलक्षित होता है।

अतीत में दक्षिण-भारत शैवों एवं वैष्णवों का मुख्य केन्द्र रहा। साम्प्रदायिक भावना के उग्र रूप धारण करने पर ये दोनों परस्पर लड़ा करते थे। ये सम्प्रदाय एक दूसरे की निन्दा करते थे और एक दूसरे को नीचा सिद्ध करने के लिये सभी समुचित-अनुचित मार्ग अपनाते थे। साम्प्रदायिका की प्रबल-भावना में बहने वाले ये आचार्य असत्य मार्ग का भी समाश्रयण करने में न हिचकते थे। उस समय विवेक को तिलांजलि देकर साम्प्रदायिक भावना को तीव्र करने वाले आचार्य 'वीर' कहे जाते थे। इसी परिपाटी ने वैष्णवों में वीर

---

३०. एकं ब्रह्मैवाद्वितीयं समस्तं सत्यं सत्यं नेह नानास्ति किंचित्। शिव० ३, १३,४२।

३१. रज्जौ सर्पः शुक्तिकायां च रौप्यं नैरः पूरस्तन्मृगाख्ये मरीचौ।
यद्वत्तद्वद्विष्वगेव प्रपंचो यस्मिन् ज्ञाते तं प्रपद्ये महेशम्॥ वही, ३, १३, ४४।

३२. तोये शैत्यं दाहकत्वं च वह्नौ तापो भानौ शीतभानौ प्रसादः।
पुष्पे गन्धो दुग्धमध्येऽपि सर्पिर्यत्तच्छम्भो त्वं ततस्त्वां प्रपद्ये॥ वही, ३, १३, ४५।

वैष्णव (विशिष्टाद्वैतमत) एवं शैवों में वीर शैव का जन्म दिया। ये दोनों वीर सम्प्रदाय परस्पर खूब लड़ते झगड़ते थे।

स्वयं आचार्य रामानुज ने ब्रह्मसूत्र (२-२-३७) के अपने भाष्य में शैवों को (कापालिक एवं कालामुखों को) वेदबाह्य कहा है।

शिवमहापुराण में रामानुज के मतानुयायियों को भी वेदविमुख एवं भाल में मृत्तिका पोतने तथा दुर्मार्ग में श्रद्धा करने वाला कहा गया है। वे शिव एवं शैव-विद्वेषी भी बतलाये गये हैं। शैवों एवं रामानुज के अनुयायियों में अतीत में जो संघर्ष हुआ करते थे उसकी कोटि रुद्रसंहिता में एक बड़ी ही सुन्दर झांकी प्रस्तुत की गई है। उसका एक अतिसंक्षिप्त रूप यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

एक बार दक्षिण दिशा में ब्रह्मगिरि पर तपस्या करने वाले शैव महर्षि गौतम की स्त्री अहल्या और अन्य ब्राह्मणों की स्त्रियों में जल भरने के प्रश्न को लेकर परस्पर कुछ विवाद हो गया। उन्होंने अपने पतियों को उकसाया। उन लोगों ने एक कृत्रिम गाय को ले जाकर महर्षि गौतम के धान्यसंकुल क्षेत्र में खड़ी कर दिया[३३]। जब उसे गौतम अपने क्षेत्र से निष्कासित करने के लिये गये तब वह एक तृण के स्पर्शमात्र से पृथिवी पर गिर पड़ी। इस बात को देखकर उन मुनियों ने गौतम के ऊपर गोहत्या का पाप मढ़ दिया[३४]। किन्तु बाद में जब गौतम को उनकी कुटिलता एवं रहस्य का पता चला तो वे बहुत क्रुद्ध हुये और शाप देते हुये बोले :—

तुम सब वेदविमुख एवं दुरात्मा हो जो कि मुझे, विशेषतः एक शिव-भक्त को, सर्वदा दुःख दे रहे हो। आज से लेकर वैदिक सत्कर्म में तथा विशेष-तया मुक्तिप्रद शैवमार्ग में तुम्हारी श्रद्धा भक्ति न होगी[३५]। तुम लोग मोक्ष-मार्गविहीन, श्रुतिबहिर्मुख एवं दुर्मार्ग में ही अब श्रद्धालु होओगे। आज से लेकर तुम लोगों के भाल मृत्तिका से लिप्त होगें और इस मृत्तिका के भाल पर

३३—ततस्ते भिन्नमतयो गां कृत्वा कृत्रिमां द्विजाः।
तद्धान्यभक्षणासक्तां चक्रुस्तां कुटिलाशयाः॥ शि० ४, २७, २९,।

३४—गौर्हता गौतमेनेति तदा ते कुटिलाशयाः।
एकत्रीभूय तत्रत्याः सकला ऋषयोऽवदन्॥ वही, ४, २७, ३२।

३५—यूयं सर्वे दुरात्मानो दुःखदा मे विशेषतः।
शिवभक्तस्य सततं स्युर्वेदविमुखाः सदा॥
अद्यप्रभृति वेदोक्ते सत्कर्मणि विशेषतः।
मा भूयाद्भवतां श्रद्धा शैवमार्गे विमुक्तिदे॥ वही, ४, २७, ३५-३६।

लेपन करने के ही कारण तुम सब नरकगामी बनोगे[३६]। तुम लोग अद्वितीय शिव देवता के उपासक न होओगे तथा उन्हें भी अन्यों के समान साधारण देवता समझोगे। शिवपूजा आदि कर्मों, शिवनिष्ठभक्तों एवं शिवपर्वों में सर्वदा तुम लोगों की अश्रद्धा ही होगी। आज मैंने जो शाप दिया है वह अविकल-रूप से तुम्हारी संततियों पर भी चरितार्थ होगा। तुम्हारे पुत्र एवं पौत्रादि अशैव होगें तथा तुम लोग उनके ही साथ नरक में वास करोगे। उसके बाद दुःखदारिद्रय से पीडित, शठ, निन्दा करनेवाले, तप्तमुद्रांकित, चाण्डाल होओगे[३७]।' गौतम के शाप को सुनकर शैवधर्मबहिष्कृत, खिन्नहृदय वे सम्पूर्ण ऋषि 'कांची' नगरी में निवास करने लगे[३८]।

स्पष्ट ही यह प्रसंग अतीत के शैव एवं वैष्णव (रामानुजमत) के वैमनस्य को सूचित करता है। गौतम के शाप में जो भी लक्षण—भालमृल्लेपन, तप्तमुद्रांकण—उद्धृत हैं वे स्पष्ट रूप से रामानुज एवं उनके अनुयायियों की ओर इंगित करते हैं। आचार्य रामानुज अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में अथवा मध्याह्न में 'कांचीपुरी' में निवास करते थे।

इसी एक प्रसंग को छोड़कर कहीं भी अन्यत्र शिवमहापुराण में रामानुजाचार्य के मत एवं सम्प्रदाय का निर्देश नहीं किया गया है। रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रभाव शिवमहापुराण में नहीं पड़ा है, क्योंकि आचार्य रामानुज के पूर्व ही इस पुराण की दार्शनिक एवं धार्मिक व्याख्या परिपूर्ण हो चुकी थी। उनका आविर्भाव उस समय हुआ था जब की पौराणिक काल समाप्त होने जा रहा था अथवा समाप्त ही हो चुका था। यद्यपि पुराणों में रामानुज के वाद भी समय-समय पर कुछ अंशों एवं स्थलों का जुड़ना प्रारम्भ था, किन्तु यह बहुत ही कम अर्थात् नहीं के बराबर ही रहा और तब तक पुराणों में दार्शनिक एवं धार्मिक बातें अपनी पूर्णता को प्राप्त हो चुकी थीं।

हमने पहले ही निर्देश कर दिया था कि इस महापुराण में वेदान्त शब्द उपनिषदों के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। उपनिषदों का प्रभाव शिवमहापुराण में आद्योपान्त देखा जाता है। इसके कुछ स्थल तो उपनिषदों की विशद

३६—अद्यप्रभृति भालानि मृल्लिप्तानि भवन्तु वः।
संस्रष्व्वं नरके यूयं भालमृल्लेपना (भालमृल्लेपनाद्) द्विजाः॥ शिव० ४, २७, ३८।

३७—ततो भवन्तु चाण्डाला दुःखदारिद्र्यपीडिताः।
शठा निन्दाकराः सर्वे तप्तमुद्रांकिताः सदा॥ वही, ४, २७, ४३।

३८—ततस्ते खिन्नहृदया ऋषयस्तेऽखिला द्विजाः।
कांच्यां चक्रुर्निवासं हि शैवधर्मबहिष्कृताः। वही, ४, २७, ४५।

व्याख्यामात्र प्रस्तुत करते हैं। जिन उपनिषदों की दार्शनिक एवं धार्मिक व्याख्या शिवमहापुराण में प्रस्तुत की गई है उनमें शैव एवं अशैव--उभयविध उपनिषद् सम्मिलित हैं।

वेद-उपनिषद् में परात्पर ब्रह्म के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वही शिवमहापुराण में भगवान् शिव के सम्बन्ध में कथित है। एक एक अक्षर मानो औपनिषदिक ब्रह्म का वाचक है। तुलनात्मक अध्ययन के लिये यहां शिवमहापुराण एवं उपनिषद् के कुछ अंश उद्धृत किये जा रहे हैं :—

शिवमहापुराण की पूर्ववायवीय संहिता के षष्ठ अध्याय में भगवान् वायुदेव ने महेश्वर शिव का स्वरूप वर्णन करते हुये कहा है—

शिवमहापुराण--आत्मानं च पृथङ्मत्वा प्रेरितारं ततः पृथक्।
असौ जुष्टस्ततस्तेन ह्यमृतत्वाय कल्पते ।। ७, १, ६, ७।

श्वेताश्वतर उपनिषद्—पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा,
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ।। १,६ श्लोक का उत्तरार्द्ध।

यहां पर यह ध्यान रखना है कि पुराणों में कहीं कहीं दार्शनिक बातों के अध्याय के अध्याय उपनिषदों से लेकर जोड़ दिये गये हैं और कहीं-कहीं कुछ श्लोकमात्र ही जोड़े गये हैं। इस तस्करता को छिपाने के लिये व्यासों एवं साम्प्रदायिक आचार्यों ने कुछ उलट-फेर किया है और कहीं-कहीं आगे-पीछे के श्लोकों में भी स्थान-परिवर्तन किया है। यद्यपि उक्त कार्य करने में उन्हें अधिकांश स्थलों में सफलता मिली है किन्तु कहीं कहीं वैसा करने में वे पूर्ण रूप से असफल रहे हैं। कहीं कहीं पर तो अप्रासंगिक श्लोक भी जोड़ दिये गये हैं। उदाहरण के रूप में शिवमहापुराण का उक्त श्लोक रक्खा जा सकता है। यह श्लोक 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' के प्रथम अध्याय के षष्ठ श्लोक का उत्तरार्द्ध है। इसका तृतीय पाद श्लोक के पूर्वार्द्ध के कारण रूप में उल्लिखित है और चतुर्थ पाद समाधान उपस्थित करता है। उपनिषद् का पूरा श्लोक और उसका अर्थ इस प्रकार है :—

श्लोक :—सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ।। ६ ।।

अर्थ—हंसः (जीव) सर्वाजीवे (सम्पूर्ण प्राणियों के जीवनाधार) सर्वसंस्थे (सब के भरण अथवा स्थिति के आधार) बृहन्ते (बहुत बड़े), अस्मिन् (इस), ब्रह्मचक्रे (संसार अथवा शरीर में) भ्राम्यते (अविद्या के द्वारा नाना योनियों

में भ्रमण कराया जाता है)। ऐसा भ्रमण जीव क्यों करता है? इसका उत्तर देते हुये कहा गया है कि (जीव) आत्मानं (जीवात्मा को अर्थात् अपने को) और प्रेरितारं (संसार चक्र के प्रेरक ईश्वर को) पृथक् (भेदरूप से) मत्वा (जानकर) ही नाना योनियों में भ्रमण करता है। संसार में जीव के भ्रमण का कारण ईश्वर एवं जीव में भेद दर्शन ही बतलाया गया है। अब यहां प्रश्न उठता है कि तब जीव किस प्रकार से मुक्त होता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि ततः (तदनन्तर) वह जीव तेन (ईश्वर के द्वारा), जुष्टः (सेवित अथवा अनुगृहीत) होकर अमृतत्वम् (मुक्ति को) एति (प्राप्त होता है) अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा समाधान करके ही जीव मोक्ष लाभ करता है।

यह तो रहा औपनिषदिक श्लोकार्थ। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव महापुराण में ईश्वर सिद्धि के लिये दिये गये श्लोकों के बीच उक्त औपनिषदिक श्लोकार्द्ध का उद्धरण अप्रासंगिक एवं अपूर्ण प्रतीत हो रहा है। पूर्वार्द्ध के बिना उत्तरार्द्ध का यथार्थ भाव निकालना भी अत्यन्त कठिन है। इस श्लोक के उक्त स्थल पर उद्धरण को अन्धानुसरण के अतिरिक्त और क्या कहा जायगा?

श्लोक - तिलेषु वा यथा तैलं दध्नि वा सर्पिरर्पितम्।
यथापः स्रोतसि व्याप्ता यथारण्यां हुताशनः॥
एवमेव महात्मानमात्मान्यात्मविलक्षणम्।
सत्येन तपसा चैव नित्ययुक्तोऽनुपश्यति॥ शिव० ७,१६,११-१२।

उपनिषद् - तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥
श्वेता० १, १५॥

अर्थ - नित्ययुक्त व्यक्ति सत्य एव तपस्या के बल पर आत्मा में आत्मा से विलक्षण परमात्मा को उसी प्रकार से व्याप्त देखता है जिस प्रकार तिल में तेल, दधि में घृत, प्रवाह में जल एव अरणि में अग्नि व्याप्त रहता है।

श्लोक—य एको जालवानीश ईशानीभिः स्वशक्तिभिः।
सर्वांल्लोकानिमान् कृत्वा एक एव स ईशते॥ शिव० ७,१,६,१३।

उपनिषद्- य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशते ईशनीभिः।

अर्थ—जो मायावी अद्वितीय ईश, ईशानी आदि अपनी बहुत-सी शक्तियों के द्वारा इन सम्पूर्ण लोकों का निर्माण करते हैं वही अकेले ही अथवा वही अद्वितीय ईश इन पर शासन भी करते हैं।

श्लोक—एक एव सदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन।
संसृज्य विश्वभुवनं गोप्ता ते संचुकोच यः।। शिव० ७, १, ६,१४।

उपनिषद्—एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशते ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि
गोपाः।। श्वेता० ३, २।

अर्थ—सृष्टि के आरम्भ में एक ही रुद्रदेव विद्यमान रहते हैं, दूसरा कोई नहीं होता। वे ही इस जगत् की सृष्टि करके इसकी रक्षा करते हैं और अन्त में सब का संहार कर डालते हैं।

श्लोक—विश्वतश्चक्षुरेवायमुतायं विश्वतो मुखः।
तथैव विश्वतो बाहुर्विश्वतः पादसंयुतः।। शिव० ७, १, ६, १५।
द्यावाभूमी च जनयन् देव एको महेश्वरः।। वही, ७, १, ६, १६

उपनिषद्—विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः श्वेता०।। ३,३।

अर्थ—उनके सब ओर नेत्र हैं, सब ओर मुख हैं, सब ओर भुजायें हैं और सब ओर चरण हैं। स्वर्ग और पृथिवी को उत्पन्न करने वाले वे ही एक महेश्वर देव हैं।

श्लोक—स एव सर्वदेवानां प्रभवश्चोद्भवस्तथा।
हिरण्यगर्भं देवानां प्रथमं जनयेदयम्।
विश्वस्मादधिको रुद्रो महर्षिरिति हि श्रुतिः।।
शिव० ७, १, १, १६-१७।

उपनिषद्—यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं .... ।। श्वेता० ३, ४।

अर्थ—वे ही सब देवताओं को उत्पन्न करते हैं। वे ही सब देवताओं में सबसे पहले ब्रह्मा जी को उत्पन्न करते हैं। वे ही सबसे अधिक श्रेष्ठ रुद्रदेव महान् ऋषि हैं।

श्लोक—वेदाहमेतं पुरुषं महान्तममृतं ध्रुवम्।
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् संस्थितं प्रभुम्।। शिव० ७, १, ६, १८।

उपनिषद्—वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। श्वेता० ३,८।

अर्थ—मैं, इन महान् अमृत स्वरूप अविनाशी पुरुष परमेश्वर को जानता हूँ। इनकी अंगकांति सूर्य के समान है। वे प्रभु अज्ञानान्धकार से परे विराजमान हैं।

श्लोक—अस्मान्नास्ति परं किंचिदपरं परमात्मनः ।
नाणीयोऽस्ति न च ज्यायस्तेन पूर्णमिदं जगत् ॥ शिव० ७, १, ६, १६ ।

उपनिषद् – यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ श्वेता० ३, ९ ।

अर्थ—इन परमात्मा से परे दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इनसे अत्यन्त सूक्ष्म और इनसे अधिक महान् भी कुछ नहीं है। इनसे यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है।

श्लोक—सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी च भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥ शिव० ७,१,६,२०

उपनिषद्—सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥ श्वेता० ३, ११ ।

अर्थ—ये भगवान् सब ओर मुख, शिर और कण्ठ वाले हैं। सब प्राणियों के हृदय गह्वर में निवास करते हैं, सर्वव्यापी हैं, अतः ये भगवान् शिव सर्वगत हैं।

उपनिषद् का वह श्लोक भी शिवमहापुराण में अक्षरशः उल्लिखित है, जिस पर कि द्वैतवादी विचारधारा आधृत है :—

श्लोक—द्वौ सुपर्णौ च सयुजौ समानं वृक्षमास्थितौ ।
एकोऽत्ति पिप्पलं स्वादु परोऽनश्नन् प्रपश्यति ॥
वृक्षेऽस्मिन् पुरुषो मग्नो मुह्यमानश्च शोचति ।
जुष्टमन्यं यदा पश्येदीशं परमकारणम् ॥
तदास्य महिमानं च वीतशोकः सुखी भवेत् । शिव० ७, १,६,३०-३२ ।

उपनिषद्—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥श्वेता० ४,६ ।
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥श्वेता०४,७

अर्थ—एक साथ रहने वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं। उनमें से एक तो उस वृक्ष के कर्मरूप फलों का स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है, किन्तु दूसरा उस वृक्ष के फल का उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है। जीवात्मा इस वृक्ष के प्रति आसक्ति में डूबा हुआ है,

अतः मोहित होकर शोक करता है। वह जब कभी भगवत्कृपा से भक्तसेवित, परम कारण रूप परमेश्वर का और उनकी महिमा का साक्षात्कार कर लेता है, तब शोकरहित हो सुखी हो जाता है।

यह तो रहे कुछ उदाहरण। इसी प्रकार पूर्ववायवीय संहिता का पूरा षष्ठ अध्याय श्वेताश्वतरोपनिषद् के तृतीय, चतुर्थ, षष्ठ एवं अन्य अध्यायों का पूरा-पूरा अनुकरणमात्र है। इसके अतिरिक्त पूर्ववायवीय संहिता का तृतीय अध्याय तैत्तरीयोपनिषद्[३९] एवं श्वेताश्वतर का ही भाव उपस्थित करता है। कैलास संहिता के एकोनविंशति अध्याय में 'छान्दोग्य' उपनिषद् का नामोल्लेख करते हुये उसके सिद्धान्त को उपस्थित किया गया है[४०]।

उत्तरवायवीय संहिता में भी उपनिषदों का ही सार उपस्थित किया गया है। वहां 'अथर्वशिर' एवं 'अथर्वशिखा' नामक उपनिषदों का नामतः उल्लेख करते हुये उनके सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है[४१]। विद्येश्वरसंहिता का बहुलांश 'जाबाल'[४२] एवं 'बृहज्जाबाल'[४३] उपनिषद् की बातों को ही उपस्थित करता है।

इस प्रकार शिवमहापुराण में कथांश को छोड़कर अन्य दार्शनिक एवं धार्मिक बातें वेदों एवं उपनिषदों से लेकर कहीं अविकलरूप से और कहीं संप्रदाय के अनुसार सुधार कर उल्लिखित की गई हैं[४४]। ऐसा करने में कहीं

---

३९. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं यस्य वै विद्वान् न बिभेति कुतश्चन॥ शिव०, ७, १, ३, १।
तुलना—यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति॥ तैत्ति० बृ० ९ अनु०।

४०. य एषोऽन्तररिति शंभुश्छान्दोग्ये श्रूयते शिवः॥ १६।

४१. तस्माद् सह तया शक्त्या हृदि पश्यन्ति ये शिवम्।
तेषां शाश्वतिकी शान्तिर्नेतरेषामिति श्रुतिः॥ शिव० ७, २, ७, २०।
तुलना—तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिर्भवति नेतरेषाम्। अथर्व०शिर०५।
श्लोक—सर्वमन्यत्परित्यज्य शिव एव शिवंकरः॥
परो ध्येयोधिदेवेशः समाप्तार्थवर्णी श्रुतिः। शिव० ७, २, ३७, ५३-५४।
तुलना—योगध्यानानां शिव एको ध्येयः शिवङ्करः सर्वमन्यत् परित्यज्य ......ऊर्ध्वशिखा॥२॥

४२. अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्जाबालोपनिषद्गतैः॥ शिव० १, २४, ८।
त्रिपुण्ड्रोद्धूलनं प्रोक्तं जाबालैरादरेण च॥ वही, १, २४, ९।

४३. तत्रैते बहवो लोका बृहज्जाबालचोदिताः॥ वही, १, २४, ४९।

४४. देखिये—शिवमहापुराण, ७, १, ६, ८-९।

कहीं भाव की अस्पष्टता भी आ गई है, कहीं-कहीं जहाँ कि औपनिषदिक अथवा वैदिक बातें ली गई हैं, वहाँ 'इति श्रुतिः' अथवा 'श्रुतौ'[४५] आदि कह कर व्याख्या की गई है, किन्तु ग्रन्थों का नामोल्लेख बहुत ही कम हुआ है।

दार्शनिक बातों के अतिरिक्त शिवमहापुराण में कर्मकाण्ड के प्रसंग में वैदिक मन्त्र अध्याय के अध्याय निर्दिष्ट किये गये हैं[४६]। ऐसे स्थल प्रथम, षष्ठ एवं सप्तम संहिताओं में उपलभ्य हैं।

शिवमहापुराण में न केवल दार्शनिक एवं धार्मिक बातें ही उपनिषदों से संगृहीत हैं अपितु उपनिषदों की कथायें भी इसमें सम्प्रदायानुसार सुधार कर वर्णित की गई हैं। 'केन उपनिषद्' की प्रसिद्ध 'यक्ष एवं विजयी देवों की कथा' समान रूप से कुछ साम्प्रदायिक परिवर्तन के साथ, शिवमहापुराण की शतरुद्रसंहिता के षोडश अध्याय एवं उमासंहिता के एकोनपंचाशत् अध्याय में, इस प्रकार दो भागों में, वर्णित की गई है। केन उपनिषद् की कथा के आदि में यक्ष के प्रादुर्भाव को लेकर शिव का यक्षेश्वरावतार एवं कथा के अन्त में उमा हेमवती के वर्णन को लेकर उमा के प्रादुर्भाव की कथा लिखी गई है। इसके साथ विलक्षण बात यह है कि कथा का मूल रूप दोनों स्थानों में समान एवं प्रायः अपरिवर्तनीय रूप से वर्णित है।

'तन्त्र'

शिवमहापुराण में द्विविध आगमों (तन्त्रों) का वर्णन किया गया है— श्रौत (वेदानुकूल) एवं अश्रौत (वेदबाह्य)। जो श्रुति के सार तत्त्व से सम्पन्न है, वह श्रौत है, और जो स्वतन्त्र है, वह अश्रौत माना गया है[४७]। स्वतन्त्र शैवागमन पहले दश प्रकार का था, बाद में उसकी संख्या बढ़कर अठारह हो गई। ये अठारह प्रकार के आगम 'कामिक' आदि आगम हैं। इनमें जिस शैवदर्शन का वर्णन है, वह 'सिद्धान्तशैव' नाम से कहा जाता है[४८]। इसके

४५. शिव० ६, १२, २६; ६, १३, २६; ६, १३, ३०; ६, १४, २०; ६, १५, ४०; ६. १५, ४६; ६, १६, २३; ६, २५; ६, १६, ५२; ६, १६, ७४; ६, १७, २१; ६, १७, १४; ६, १६, ३६; ७, १, ३, १४; ७, २, ७, २०; ७, २, ३७,५३-५४ आदि, आदि।

४६. वही, कैलाशसंहिता, १३ अध्याय।

४७. शैवागमो हि द्विविधः श्रौतोऽश्रौतश्च संस्कृतः।
श्रुतिसारमयः श्रौतः स्वतन्त्र इतरो मतः॥ वही, ७, १, ३२, ११।

४८. स्वतन्त्रो दशधा पूर्वं तथाष्टादशधा पुनः।
कामिकादिसमाख्याभिः सिद्धः सिद्धान्तसंज्ञितः॥ वही, ७, १, ३२, १२।

विपरीत जो शास्त्र श्रुतिसारमय है, उसमें 'पाशुपतव्रत' एवं 'ज्ञान' का वर्णन किया गया है। इसे पाशुपत शैवदर्शन कहते हैं। पुराणकाल में पाशुपत आगम का स्वरूप बहुत ही विशाल था, शिवमहापुराण के अनुसार उसकी श्लोक संख्या शतकोटि थी[४९]। किन्तु आज पाशुपत मत के बहुत ही स्वल्प ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। यह पाशुपत मत की श्रुति अनुकूलता ही है कि 'पाशुपतसूत्र' की गणना श्रुति के रूप में की जाती है और उसके सूत्रों का मन्त्र के रूप में प्रयोग किया जाता है[५०]।

कुल्लूकभट्ट ने भी 'श्रुतिश्च द्विविधा—वैदिकी तांत्रिकी च' कह कर वेदानुकूल सिद्धान्तों के प्रकाशक तन्त्रों की ओर ही संकेत किया है और उन्हें सर्वथा श्रुत्यनुकूल स्वीकृत किया है। इसी प्रकार 'अप्पय दीक्षित' भी शैवागम को कभी भी वेदबाह्य नहीं स्वीकार करते।

वेदबाह्य आगमों (तन्त्रों) के अनुयायी वेदानुकूल कृत्यों में सम्मिलित होने के अधिकारी नहीं बतलाये गये हैं। उन्हें शिव यज्ञ से वहिष्कृत कहा गया है[५१]। तन्त्रों के वेद से बाह्य तथा विपरीत होने तथा जनसमाज में निन्दित होने का कारण भी खोजा जा सकता है।

शाक्ततन्त्र के सप्तविध आचारों में वामाचार अन्यतम आचार है। शाक्त-मत में पंचमकारोपासना एक नितान्त अंतरंग तथा गूढ साधना है। इसके अन्तर्गत पांच मकारादि शब्द आते हैं—मत्स्य, मांस, मद्य, मुद्रा तथा मैथुन। वस्तुतः ये अन्तर्याग के लिये उपयुक्त साधन हैं। इन्हें सामान्य भौतिक अर्थ में न लेकर अभौतिक प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण करना ही शास्त्र मर्यादा है। परन्तु इस मर्यादा का उल्लंघन कर इन्हें स्थूल भौतिक अर्थ में लेकर उनका वैसा ही प्रयोग करना वामाचार की प्रतिष्ठित उपासना विधि है। इस उपासना विधि का केन्द्र था कामरूप देश (आसाम), जिसकी चर्चा शिवमहापुराण की कोटि-रुद्र संहिता के बीसवें तथा इक्कीसवें अध्याय में की गई है।

---

४९. श्रुतिसारमयो यस्तु शतकोटिप्रविस्तरः।
परं पाशुपतं यत्र व्रतं ज्ञानं च कथ्यते ॥ शिव० ७, १, ३२, १३।

५०. ईशानः सर्वविद्यानामित्याद्याः श्रुतयो प्रिये। वही, ६, ३, १६।
सद्यो जातं प्रपद्यामीत्युपक्रम्य सदा शिवम्।
इति प्राह श्रुतिस्तारं ब्रह्मपंचकवाचकम् ॥ वही, ६, १४, २०।
मन्त्र के रूप में पाशुपतसूत्र के प्रयोग के लिये देखिये :—वही ६, ७, ७२-७६।

५१. न तान्त्रिकस्त्वधिकृतो नोर्ध्वपुण्ड्रधरो मुने।
संतप्तचक्रचिह्नोऽत्र शिवयज्ञे वहिष्कृतः ॥ वही, १, २४, ४६।

इन उभयविध आगमों (तन्त्रों) का प्रचुर प्रभाव शिवमहापुराण में, विशेषकर उसकी उमासंहिता, कैलाससंहिता तथा वायवीय संहिताओं में, स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह वेदबाह्य तन्त्रों का ही प्रभाव है कि शिवमहापुराण में देवी की पूजा आसव, मांश, मत्स्य, आदि से सम्पन्न बतलाई गई है[५२]।

निगम जहां मुख्यतया ज्ञानप्रधान हैं, वहाँ आगम मुख्यतया क्रियाप्रधान हैं। शिवमहापुराण दार्शनिक विवेचन के लिये जहाँ पर कि वेदों एवं उपनिषदों का ऋणी है वहीं पर वह क्रियात्मक विवरण के लिये तन्त्रों (आगमों) का भी पूर्ण रूपेण ऋणी एवं आभारी है।

उदाहरणार्थ शिवमहापुराण में तान्त्रिकी दीक्षा का विवेचन एकाधिक अध्यायों में बड़े ही वैशद्य के साथ किया गया है। तीनों प्रकार की दीक्षा शाम्भवी दीक्षा, शाक्तीदीक्षा एवं मान्त्री दीक्षा का विवेचन शिवमहापुराण में तन्त्रों (आगमों) के आधार पर ही किया गया है[५३]। शक्तिपात, गुरु, शिष्य, कुण्ड, मण्डप, वेदी, षडध्वव्याप्ति आदि का वर्णन पर्याप्त विस्तार के साथ उत्तरवायवीय संहिता में किया गया है। यह वर्णन एवं विवरण अपने पूर्ण तान्त्रिक वैभव तथा विस्तार के साथ यहाँ इतनी सूक्ष्मता से है कि ग्रन्थकार किसी तान्त्रिक ग्रन्थ (आगम) का संक्षेप प्रस्तुत करता सा प्रतीत होता है। उत्तरवायवीय संहिता का अधिकांश तान्त्रिक विधि-विधान का ही उपस्थापन करता है।[५४] इस संहिता को तीन भागों-दार्शनिक, तांत्रिक एवं यौगिक-। में विभक्त किया जा सकता है, जिसमें तान्त्रिक अंश ही सर्वाधिक है।

इस महापुराण में व्यक्तियों के नित्य नैमित्तिक कर्म, तान्त्रिकमन्त्रों से शिवपूजन, आवरणपूजा, हवनकार्य आदि सभी कृत्य तन्त्रों (आगम), जिन्हें शिवशास्त्र भी कहा जाता है[५५], के आधार पर ही वर्णित हैं[५६]। उत्तरवायुसंहिता का द्वात्रिंश अध्याय तान्त्रिक विधि-विधानों का घोरतम रूप उपस्थित

५२–विन्ध्ये च वसति तस्याः पूजामासवपूर्वकैः।
मांसैर्मत्स्यैरपूपैश्च निर्वर्त्यासौ समादिशत् ॥ शिव० ७, १, २५, ४४।

५३–शाम्भवी चैव शाक्ती च मान्त्री चैव शिवागमे।
दीक्षोपदिश्यते त्रेधा शिवेन परमात्मना ॥ वही, ७, २, १५, ६।

५४–उत्तरवायवीय संहिता १५ से ३६ अध्याय तक।

५५. अतः परं प्रवक्ष्यामि शिवाश्रमनिषेविणाम्।
शिवशास्त्रोक्तमार्गेण नैमित्तिकविधिक्रमम् ॥ वही, ७, २, २८, १, आदि।

५६. देखिये--उत्तरवायवीय संहिता।

करता है। मारण, उच्चारण, स्तम्भन, वशीकरण, आदि आभिचारिक क्रियाओं का वर्णन वहां बड़े ही विस्तार से किया गया है। तान्त्रिक विधि वहाँ अपनी उच्चतम सीमा पर पहुँच जाती है जहां पर कि लशुन के हवन से शत्रुपातन एवं खर तथा उष्ट्र दोनों के रुधिर के हवन से शत्रुताडन बतलाया गया है[५७]।

शिवमहापुराण की शतरुद्रसंहिता के सप्तदश अध्याय में भगवान् शिव के दश अवतारों तथा उनकी शक्तियों का वर्णन किया गया है। सशक्तिक ये अवतार इस प्रकार हैं :—

	शिव	शक्ति
१.	महाकाल	महाकाली
२	तार	तारा
३.	बालभुवनेश	बालाभुवनेशी
४.	षोडश श्रीविद्येश	षोडशी श्रीविद्या
५.	भैरव	भैरवी गिरिजा
६.	छिन्न मस्तक	छिन्नमस्ता
७.	धूमवान्	धूमवती
८.	बगलामुख	बगलामुखी
९.	मातंग	मातंगी
१०.	कमल	कमला

इस महापुराण का कहना है कि तन्त्रशास्त्र में इनका वर्णन किया गया है और इन्हें सर्वकामप्रद बतलाया गया है[५८]। इन शक्तियों की भी अद्भुत महिमा है। तन्त्र आदि शास्त्रों में इस महिमा का सर्वकामप्रद रूप से वर्णन किया गया है। शत्रु के मारण आदि कार्यों में तत्तत् शक्तियाँ समर्थ बतलाई गई हैं[५९]।

इस प्रकार शिवमहापुराण, विशेषतः उसकी कैलास एवं वायवीय संहितायें अपने क्रियात्मक वर्णन (कर्मकाण्ड) के लिये तन्त्रों पर न केवल अवलम्बित हैं अपितु उन्हीं का विस्तृत एवं संक्षेप अनुकरण भी हैं।

---

५७. स्तम्भनं सर्षपेणापि लशुनेन तु पातनम्।
ताडनं रुधिरेण स्यात् खरस्योष्ट्रस्य चोभयोः ॥ शिव० ७, २, ३२, ४८।

५८. एतद्दशावताराणां महात्म्यं वर्णितं मुने।
सर्वकामप्रदं ज्ञेयं तन्त्रशास्त्रादिगर्भितम् ॥ वही, ३, १७, १४।

५९. एतासामपि शक्तीनामद्भुतो महिमा मुने।
सर्वकामप्रदो ज्ञेयस्तन्त्रशास्त्रादिगर्भितः ॥
शत्रुमारणकार्यादौ तत्तच्छक्तिः परा मता। वही, ३, १७, १५-१६।

योग

शिवमहापुराण में वर्णित योग के आधार हैं शिवशास्त्र, कामिकादि शिवागम, योगशास्त्र तथा कुछ अन्य पुराण[६०]। इस प्रकार शिवमहापुराणस्थ योग को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है—योगसूत्र एवं उसके आधार पर लिखे गये अन्य शास्त्रों के आधार पर वर्णित योग एवं शैवशास्त्र तथा शैवागमों के आधार पर वर्णित योग। इनमें से शिवमहापुराण की उत्तर वायवीय संहिता सप्तत्रिंश, अष्टत्रिंश तथा एकोनचत्वारिंश अध्यायों में वर्णित योग अपने बहुलांश में योगसूत्र तथा उसके आधार पर लिखित अन्य शास्त्रों के आधार पर लिखा गया है। इसके अतिरिक्त उमासंहिता के षड्विंश अध्याय सप्तविंश अध्याय एवं अष्टविंश अध्याय में तथा एकपंचाशत् अध्याय के कुछ श्लोकों में निर्दिष्ट योग शैवशास्त्र एवं शैवागमों तथा अन्य शास्त्रों के आधार पर वर्णित है।

शिवमहापुराण की पूर्ववायवीय संहिता के ३२वें अध्याय के ४५वें श्लोक से ५६ श्लोक तक एक निश्चित एवं अस्पष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण का वर्णन प्रस्तुत किया गया है, जो योग की एक पद्धति ज्ञात होती है, जिसके अनुसार आचरण करने से प्राणी पाशुपत ज्ञान को प्राप्त कर मुक्तिलाभ कर सकता है।

योग का एक अन्य अध्याय में सविस्तर वर्णन करने के कारण यहाँ इसका विस्तार नहीं किया जा रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिवमहापुराण कुछ कथांश को छोड़ कर सांख्य, वेदान्त, तन्त्र एवं योग के सिद्धान्तों की ही कहीं बृहत् तथा कहीं सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत करता है।

---

६०. पृथग्लक्षणमेतेषां शिवशास्त्रे समीरितम्।
शिवागमेषु चान्येषु विशेषात्कामिकादिषु ॥
योगशास्त्रेष्वपि तथा पुराणेष्वपि केषु च। शिव० ७, २, ३७, १७-१८।

परिशिष्ट-१

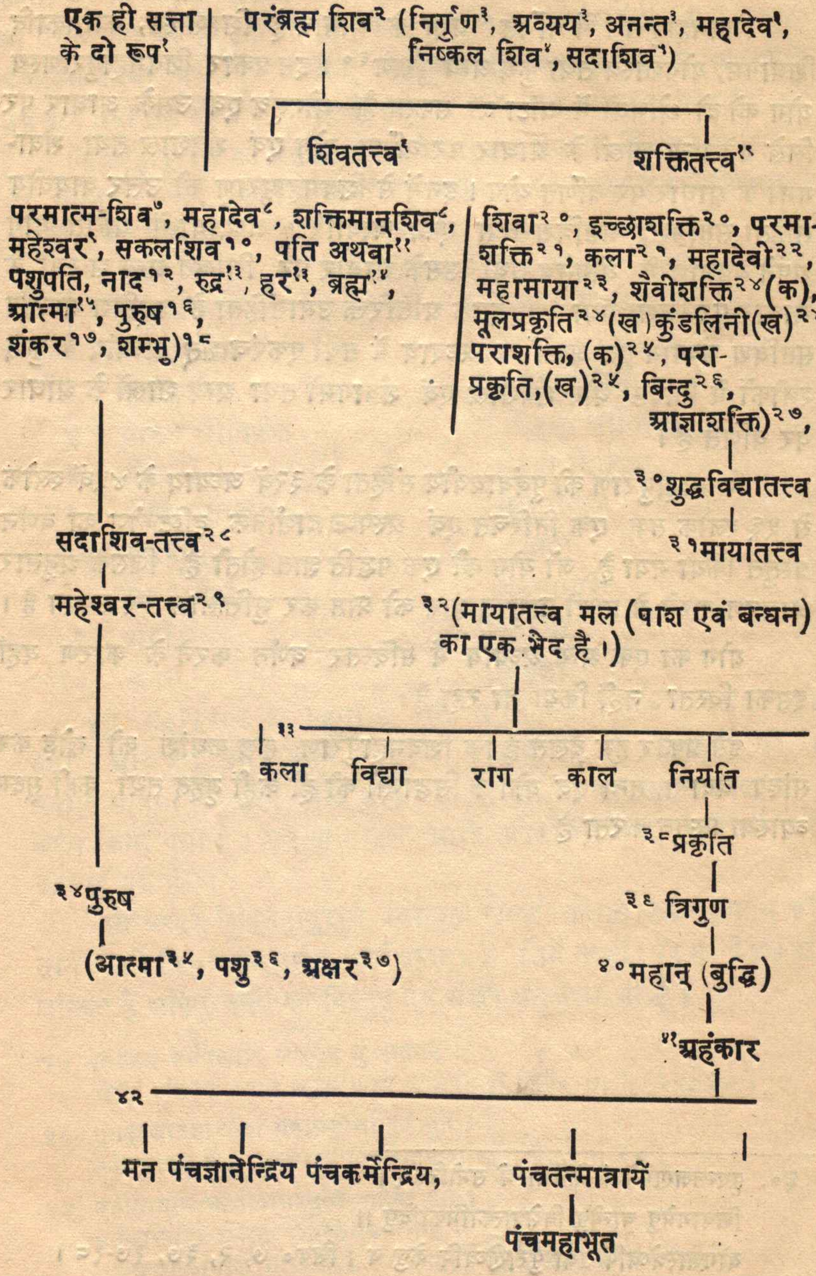
एक ही सत्ता के दो रूप[1]
परंब्रह्म शिव[2] (निर्गुण[3], अव्यय[3], अनन्त[3], महादेव[4], निष्कल शिव[4], सदाशिव[4])
शिवतत्त्व[6]
शक्तितत्त्व[19]
परमात्म-शिव[7], महादेव[8], शक्तिमान्‌शिव[8], महेश्वर[9], सकलशिव[10], पति अथवा[11] पशुपति, नाद[12], रुद्र[13], हर[13], ब्रह्म[14], आत्मा[15], पुरुष[16], शंकर[17], शम्भु)[18]
शिवा[20], इच्छाशक्ति[20], परमाशक्ति[21], कला[21], महादेवी[22], महामाया[23], शैवीशक्ति[24](क), मूलप्रकृति[24](ख) कुंडलिनी(ख)[24] पराशक्ति, (क)[25], पराप्रकृति,(ख)[25], बिन्दु[26], आज्ञाशक्ति)[27],
[30]शुद्धविद्यातत्त्व
[31]मायातत्त्व
सदाशिव-तत्त्व[28]
महेश्वर-तत्त्व[29]
[32](मायातत्त्व मल (पाश एवं बन्धन) का एक भेद है।)
[33]
कला
विद्या
राग
काल
नियति
[38]प्रकृति
[39] त्रिगुण
[40]महान् (बुद्धि)
[41]अहंकार
[34]पुरुष
(आत्मा[35], पशु[36], अक्षर[37])
[42]
मन
पंचज्ञानेन्द्रिय
पंचकर्मेन्द्रिय,
पंचतन्मात्रायें
पंचमहाभूत

१. परं ब्रह्म शिव एवं शिवतत्त्व एक ही सत्ता के द्विविध रूप हैं। एक ही सत्ता का यह भेद शक्ति के कारण होता है। शक्ति के अस्फुट अतः शान्त रहने पर परंब्रह्म शिव एवं शक्ति के सुस्फुट तथा कार्योन्मुख होने पर शिवतत्त्व कहा जाता है।

श्लोक—सकलं निष्कलं चेति स्वरूपद्वयमस्ति मे। शिव० । १, ९, ३०।

तदेव शिवरूपं हि पठ्यते च मुनीश्वराः।

सकलं निष्कलं चेति द्विविधं वेदवर्णितम् ॥ वही, ४, ४१, ९।

२. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

तदेव परमं प्रोक्तं ब्रह्मैव शिवसंज्ञकम् ॥ वही, ४, ४१, १४।

३. निर्गुणत्वे शिवाह्वो हि परमात्मा महेश्वरः।

परं ब्रह्माऽव्ययोऽनन्तो महादेवेति गीयते ॥ वही, २, १, ४, ३३।

४. देखिये:—उदाहरण संख्या १।

५. निर्गुणं परमं ब्रह्म सदाशिवमनामयम् ॥ वही, ६, ४, ८।

६. यच्चादौ हि समुत्पन्नं निर्गुणात् परमात्मनः।

तदेव शिवसंज्ञं हि वेदवेदान्तिनो विदुः ॥ ४, ४२, २।

७. आद्या सैका पराशक्तिश्चिन्मयी शिवसंश्रया।

यामाहुरखिलेशस्य तैस्तैरनुगुणैर्गुणैः।

समानधर्मिणीमेव शिवस्य परमात्मनः॥ वही, ६, १६, १३।

८. .... महादेवश्च शक्तिमान्। वही, ७, २, ४, ४।

९. य एकं बहुधा बीजं करोति स महेश्वरः ॥ वही, ७, १, ३, ७।

१०. देखिये—उदाहरण संख्या १।

११. तेषां पतित्वाद्देवेशः शिवः पशुपतिः स्मृतः। वही, ७, २, २, १२।

१२. बिन्दुः शक्तिः शिवो नादः ....। वही, १, १६, ८७।

१३. न ह्यीशो भगवाञ्छक्त्या ह्यात्मनो व्यतिरिक्तया।

कदाचिद्रमते रुद्रो लीलारूपधरो हरः ॥ वही, ३, ८, ३४।

१४. ब्रह्मेति शिवशक्त्योस्तु सर्वात्मत्वमिति स्फुटम्। वही, ६, १६, ३।

त्रिदेवजनको ब्रह्म सच्चिदानन्दविग्रहः ॥ वही, १, ६, १७, ४।

१५. सच्चिदानन्दरूपत्वं वदति ब्रह्मणः श्रुतिः।

असन्निवर्तकः शब्दः सदात्मेति निगद्यते ॥ वही, ६, १६, २५।

चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम् ॥ वही, ६, १६, ४४।

टिप्पणी:—शिवतत्त्व को परमात्मा कहा जाता है और पुरुष को आत्मा, यही यथार्थ स्थिति है। किन्तु किसी नाम को संक्षिप्त करके भी कहने या संकेतित करने की परिपाटी है। अतः परमात्मा को कहीं कहीं आत्मा भी कहा जाता है। निर्णय प्रसंगानुसार कर लिया जाता है।

१६. त्रिलिंगवर्ती सच्छङ्करः पुरुषोऽत्र विधीयताम् ॥ वही, ६, १६, २६ ।

टिप्पणी:—यहां पर पुरुष के स्थान पर पुरुष शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

१७. शंकरः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरी । वही, ७, २, ४, ५४ ।

१८. भास्करो भगवाञ्छम्भुः प्रभा भगवती शिवा । वही, ७, २, ४, ४२ ।

टिप्पणी:—परमात्म-शिव के और नामों की जानकारी के लिये द्रष्टव्य शिव० ७, २, ४ ।

१९ शक्तितत्त्व का प्रादुर्भाव शिवतत्त्व से बतलाया गया है :—

शक्तिस्तदैकलेनापि स्वैरं विहरता तनुः ।

स्वविग्रहात् स्वयं सृष्टा स्वशरीरानपायिनी ॥ वही, २, १, ६, १९ ।

शक्त्यादि पृथिव्यन्तं शिवतत्त्वसमुद्भवः । वही, ७, १, २९, २० ।

२०. सदाशिवाङ्कमारूढा शक्तिरिच्छा शिवाह्वया ॥ वही, ७, २, ३१, २२ ।

एषैवेच्छा शक्तितत्त्वं सर्वकृत्यानुवर्तनात् । वही, ६, १६, ७१ ।

२१. कला या परमाशक्तिः कथिता परमात्मनः ॥ वही, ७, २, ४, २९ ।

२२. शक्तिः साक्षान्महादेवी………… ॥ वही, ७, २, ४, ४ ।

२३. परमात्मा शिव की स्तुति में कहा गया है :—

महाबल महामाय महारस महारथ ॥ वही, ७, २, ३१, ९ ।

२४. (क) कोटिसूर्यप्रतिकाशां शैवीं शक्तीं च चिन्तयेत् ॥ वही, ७, २, १८, ३७ ।

२४. (ख) समस्तकार्यजातस्य मूलप्रकृतितां गता ॥

सैव कुण्डलिनी……………… ॥ वही, ७,१,२९,७ ।

२५. (क) या शक्तिः सा परा शक्तिः शिवतत्त्वसमाश्रया ॥ वही, ७,१,२९,५ ।

२५. (ख) व्यापिकातः पराशक्तिरविभक्ता षडध्वनाम् ॥

परप्रकृतिभावस्य तत्सत्त्वाच्छिवतत्त्वतः ॥ वही, ७,१,२९,१९ ।

२६. बिन्दुः शक्तिः……………… वही, । १,१६,८७ ।

२७. ईशेच्छा च ………विधिराज्ञापनं परम् ॥ वही, ७,१,३१,२८ ।

२८. बिन्दुनामक शक्तितत्त्वसे सदाशिवतत्त्व की उत्पत्ति बतलाई गई है :-

…………— बिन्दोर्देवः सदाशिवः ॥ वही, ७,२,४,२० ॥

२९. …………बिन्दोर्देवः सदाशिवः ॥

तस्मान्महेश्वरो जातः………… ॥ वही, ७,२,४,२० ।

३०. …………शुद्धविद्यामहेश्वरात् ॥ वही, ७,२,४,२० ।

टिप्पणी— महेश्वर तत्त्व से उत्पन्न होने पर भी शुद्धविद्यातत्त्व सदाशिव तत्त्व से सम्बद्ध स्त्री-तत्त्व है । यतः शिवतत्त्व से सम्बद्ध स्त्री-तत्त्व है शक्ति तत्त्व :-

श्लोक— एवं शक्तिसमायोगाच्छक्तिमानुच्यते शिवः ॥ वही, ७,२,४,३६ ।

परमात्मा शिव प्रोक्तः शिवा सा च प्रकीर्तिता ॥ वही, ७,२,४८ ।

और महेश्वर तत्त्व से सम्बद्ध स्त्री-तत्त्व है माया-तत्त्वः—

श्लोकः—शिवो महेश्वरो ज्ञेयः शिवा मायेति कथ्यते ॥ शिव० ७,२,४,३९।

इस प्रकार यह सुतरां निश्चित हो जाता है कि पुरुष-तत्त्वों में अविशिष्ट सदाशिव तत्त्व और स्त्री-तत्त्वों में अवशिष्ट शुद्धविद्या तत्त्व परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

३१. शुद्ध-विद्या-तत्त्व के अनन्तर माया तत्त्व परिगणित किया जाता है। जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है मया-तत्त्व महेश्वर तत्त्व की स्त्री-शक्ति है। यह मल, जिसे पाश एवं बन्धन भी कहा जाता है, का एक भेद है :—

३२. श्लोकः—मलत्रयमयं पाशं भोगभोग्यत्वलक्षणम् ॥ शिव० ७, २, १७, २८।
न शिवस्याणवो बन्धः कार्यो मायेय एव वा। वही, ७, २, ६, १।
नष्टमासीत् मलं सर्वं मायाजं कार्यमेव वा। वही, ७,२,१,१७।

३३. नियतिः कालरागश्च विद्या च तदनन्तरम्।
कला च पंचकमिदं मायोत्पन्नं मुनीश्वर ॥ वही, ६, १३, २८।

३४. शिवो यदा निजं रूपं परमैश्वर्यपूर्वकम् ॥ वही, ६, १६, ७३।
निगृह्य माययाऽशेषपदार्थग्राहको भवेत्।
तदा पुरुष इत्याख्या तस्सृष्ट्वेत्यभवच्छ्रुतिः ॥ वही, ६, १६, ७४।

३५. पश्वात्मानस्त्रिधा भिन्नाः ·············· । वही, ७, १, ३१, ७३।

३६. अयमेव हि संसारी मायया मोहितः पशुः। वही, ६, १६, ७५।

३७. अक्षरं पशुरित्युक्तः ··················· वही, ७, १, ५, १४।

३८. प्रकृति की उत्पत्ति माया नामक तत्त्व से बतलाई गई है। यह 'पुरुष' की स्त्री-शक्ति है।—
श्लोकः—मायातः पुनरेवाभूदव्यक्तं त्रिगुणात्मकम्। वही, ७, २, ४, २३।
पुरुषः परमेशानः प्रकृतिः परमेश्वरी ॥ वही, ७, २, ४, ४०।

३९. सात्त्विकादिविभेदेन गुणाः प्रकृतिसम्भवाः। वही, ६, १७, ९।

४०. विभक्त त्रिगुण से बुद्धितत्त्व की उत्पत्ति होती है :—
श्लोकः—गुणेभ्यो बुद्धिरुत्पन्ना वस्तुनिश्चयकारिणी। वही, ६, १७, ९।

४१. बुद्धितत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति कही गई है:—
श्लोकः—ततो महानहङ्कारः ·················॥ वही, ६, १७, १०।

४२. अहङ्कार से मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच तन्मात्र की उत्पत्ति होती है। पाँच तन्मात्र से पाँच महाभूत प्रादुर्भूत कहे गये हैं।—
श्लोकः—·················ततो बुद्धीन्द्रियाणि च।
जातानि मनसो रूपं स्यात् संकल्पविकल्पकम् ॥
कर्मेन्द्रियाणि ज्ञेयानि स्वकार्यसहितानि च ॥
भूतादिकादहङ्कारात्तन्मात्राण्यभवन् क्रमात्।
तेभ्यश्चाकाशवाय्वग्निजलभूमिजनिः क्रमात् ॥ वही, ६, १७, १०-१६।

टिप्पणी-यहाँ यह स्मरणीय है कि कभी एक ही नाम दो विभिन्न तत्त्वों के लिये भी प्रयुक्त हो जाता है, जैसा कि उपर्युक्त नाम-सूची से स्वयं ही स्पष्ट है। तथापि यह निश्चय है कि पुलिङ्ग नामों की गड़बड़ी पुलिंग तत्त्वों में और स्त्रीलिङ्ग नामों की गड़बड़ी स्त्रीलिङ्ग-तत्त्वों में ही होती है। ऐसा कभी नहीं होता कि पुलिङ्ग तत्त्व का नाम कभी स्त्रीलिङ्ग-तत्त्व के लिये भी प्रयुक्त हो जाय।

इसका समाधान स्वयं शिवमहापुराण में ही किया गया है। उसके अनुसार परमात्म-शिव, जिहें पुराण की भाषा में पुरशासन भी कहा जाता है, सम्पूर्ण पुलिङ्ग जगत् को धारण करते हैं और उनकी शक्ति शिवा सम्पूर्ण स्त्रीलिङ्ग जगत् को धारण करती है। परमात्म शिव एवं शिवा क्रमशः संसार के सम्पूर्ण पदार्थ एवं उनकी शक्ति हैं[1]। इस प्रकार सभी पुलिङ्ग तत्त्व एक ही सत्ता के रूप हैं उनमें परस्पर अभेद ही है, इसी बात को प्रदर्शित करने के लिये एक तत्त्व का नाम दूसरे तत्त्व के लिये भी व्यहृत हो जाता है। यही बात स्त्रीलिङ्ग तत्त्वों के विषय में भी समझनी चाहिये। कहाँ किस नाम से किस तत्त्व का वर्णन अभिप्रेत है यह प्रसंग से ज्ञात किया जा सकता है।

संख्याविषयक निर्णय :—

शिवमहापुराण के अनुसार भी तत्त्वों की संख्या षट्त्रिंशत् ही है[2]। यहां यह स्मरणीय है कि प्रकृति से समुद्भूत त्रिगुण की गणना अलग से नहीं की जाती है। त्रिगुण प्रकृति के साथ ही गतार्थ हो जाते हैं। यहां पर कार्य और करण में अभेद विवक्षा मान कर ही ऐसा किया जाता है[3]। यदि ऐसा न होता तो शिवमहापुराण के द्वारा सिद्धान्तरूप से स्वीकृत तत्त्वों की षट्त्रिंशत् (३६) संख्या अनुपपन्न हो जाती।

१—पुंलिंगमखिलं धत्ते भगवान् पुरशासनः।
स्त्रीलिङ्गं चाखिलं धत्ते देवी देवमनोरमा ॥ शिव० ७, २, ४, ६५।

यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदाहृता।
सा सा विश्वेश्वरी देवी स स सर्वो महेश्वरः। वही, ७, २, ४ ६७।

२—शिवतत्त्वादिभूम्यन्तं तत्त्वाध्वा समुदाहृत:।
षट्विंश (त्रिश) त्संख्ययोपेतः शुद्धाशुद्धोभयात्मकः ॥ वही, ७, २, १७, ४।

३—तुलना-यथा-ननु 'अव्यक्तं मायातः' इत्यादिना प्रकृत्यधस्तनतत्त्वानां चतुर्विंशतेरु-क्ततत्त्वात्कथमत्र ह्यधिकविंशतिरुच्यते। अत आह 'यस्मात् प्रकृतिगुणानाम्' इति ……
……… ततः कार्यकरणयोरभेदविवक्षयैवमुक्तमित्यविरोधः। 'तत्त्वप्रकाशिका' २४ ॥

परिशिष्ट—२

पुस्तक नाम	प्रकाशन-संस्थान अथवा ग्रन्थमाला-	सन्
(क)		
१. कठोपनिषद् (दीपिका, आनन्दगिरिकृत टीका एवं शांकर भाष्ययुक्त)	वाणी विलास संस्कृतपुस्तकालय, वाराणसी	
२. कूर्मपुराण	मोर प्रकाशन	१९६२
३. केनोपनिषद् दीपिका, आनन्दगिरिकृत टीका एवं शांकरभाष्ययुक्त)	वाणीविलास संस्कृतपुस्तकालय वाराणसी।	
(ग)		
१. गणकारिका (रत्नटीका)	गायकवाड सिरीज बड़ौदा	१९२०
(छ)		
१. छान्दोग्य उपनिषद् (आनन्दगिरिकृतटीका एवं शांकरभाष्ययुक्त)	वाणीविलास संस्कृतपुस्तकालय वाराणसी,	१९४२
(त)		
१. तत्त्वप्रकाश (तात्पर्यदीपिका टीका)	अनन्तशयन प्रकाशन	१९२०
२. तत्त्वप्रकाशिका (वृत्ति टीका)	श्रीरङ्गप्रकाशन	१९२९
३. तन्त्रालोक (विवेकव्याख्या)	काश्मीर-श्रीनगर ग्रन्थमाला	१९१८
४. तन्त्रसार	काश्मीर-श्रीनगर ग्रन्थमाला	१९१८
(द)		
१. देवी भागवत	मोर प्रकाशन	१९६०
(प)		
१. पद्मपुराण	मोर प्रकाशन	१९५७

पुस्तक नाम	प्रकाशन संस्थान अथवा ग्रन्थमाला	सन्
२. प्रत्यभिज्ञाहृदय (जयदेवसिंह की अंग्रेजी टीका)	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी	१९६३
३. परा प्रावेशिका (विवरण टीका)	काश्मीर-श्रीनगर ग्रन्थमाला	१९१८
४. पाशुपत सूत्र (कौण्डिन्यकृत भाष्य)	त्रिवेन्द्रम् प्रकाशन	१९४०
५. पातंजलयोसूत्र	भारतीय विद्याभवन प्रकाशन, वाराणसी,	१९६३
६. पुराण विमर्श	चौखम्भा विद्याभवन प्रकाशन, वाराणसी,	१९६५
(ब)		
१ ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य, भामती, वेदान्तकल्पतरु, कल्पतरु–परिमलसमन्वित)	बम्बई प्रकाशन	१९१७
२. ब्रह्म पुराण	मोर प्रकाशन	१९५४
(भ)		
१. भारतीय दर्शन (दत्त एवं चटर्जीलिखित)	पटना प्रकाशन	१९५८
(म)		
१. मत्स्य पुराण	मोर प्रकाशन	१९५४
२. महाभारत	सातवलेकर प्रकाशन	संवत् १९८०
३. महार्थमंजरी (परिमलव्याख्यासहित)	श्रीनगर प्रकाशन	१९१८
४. मार्कण्डेय पुराण	मोर प्रकाशन	१९६२
(र)		
१. रत्नत्रय (रत्नोल्लेखिनीव्याख्या)	श्रीरंग प्रकाशन	१९२५
(ल)		
१. लक्ष्मीतन्त्र	अड्यार, मद्रास प्रकाशन	१९५९
२. लिङ्ग पुराण	बम्बई प्रकाशन	संवत् १९८७

पुस्तक का नाम	प्रकाशन संस्थान अथवा ग्रन्थमाला	सन्
(व)		
१. वाराह पुराण	बम्बई प्रकाशन	संवत् १९८७
(श)		
१. शिवसूत्रविमर्शिनी	काश्मीर ग्रन्थमाला	१९११
२. श्वेताश्वतरोपनिषद् (शांकरभाष्य, शंकरानन्द तथा नारायणकृत श्वेताश्वतरोपनिषद् दीपिका,– विज्ञान भगवत्कृत श्वेताश्वतरोपनिषद् विवरणहित)	पुण्यपत्तन प्रकाशन	१९०५
३. शैवमत (ले० डा० यदुवंशी)	पटना प्रकाशन	१९५५
४. शैवसिद्धान्त परिभाषा	देवकोट्टै प्रकाशन	१९२६
५. श्रीमन्मृगेन्द्रागम (दीपिकाव्याख्यायुक्त)	अनन्तशयन प्रकाशन	१९२८
६. श्रीमद्भागवत	गीता प्रेस गोरखपुर	सं० २०२१
(ष)		
१. षट्चक्रनिरूपण(सटीक)	बम्बई प्रकाशन	१९००
२. षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह (विवरण व्याख्या)	श्रीनगर प्रकाशन	१९१८
(स)		
१. सर्वदर्शनसंग्रह (अभ्यंकरकृत दर्शनांकुरव्याख्या)	बम्बई प्रकाशन	१९२४
२. स्पन्दकारिका विवृति) (गौडपादभाष्य एवं स्वामिनारायणकृतभाष्यकिरणसमन्वित)	काश्मीर ग्रन्थमाला	१९१३
४. सात्त्वत-संहिता	कांची प्रकाशन	१९०२
५. सौन्दर्य लहरी (लक्ष्मीधरा टीका)	मद्रास प्रकाशन	१९५७
७. सौर पुराण	आनन्दाश्रमसंस्कृत ग्रन्थावली,	१८११ शक
(ह)		
१. हठयोग प्रदीपिका	बम्बई प्रकाशन	सं० १९८१

पुस्तकनाम	प्रकाशन संस्थान अथवा ग्रन्थमाला	सन्
(अ)		
१. अग्नि पुराण	मोर प्रकाशन	१९५७
1. A History of Indian Philosophy Volume V, (S. N. Das gupta)	Cambridge	1955
2. Bhaskari, Volume III, (K. C.) Pandey)	Lucknow	1954
3. The Development of Hindu Iconography, (J. N. Banerjee)	Calcutta	1951
4. History and Philosophy of Lingayat Religion, (M. R. Sakhar)		
5. Kasmir Saivism (J. C. Chatterji)	Srinagar-Kasmir	1914
6. The Garland of Letters "Varnamala'' (J. Woodroffe)	Madras, London	1922
7. Vaisnavism, Saivism and Minor Religious Systems. (R. C. Bhandarkar)	Poona	1929

पत्रिकायें	प्रकाशन संस्थान	अंक
१. कल्याण	गीता प्रेस, गोरखपुर	वर्ष ३६, सं १
२. पुराण	काशिराज ट्रस्ट रामनगर, वाराणसी,	जनवरी, १९६५
३. सारस्वती-सुषमा	वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय,	व १७पृ० १७९-२०० ।

4. Allahabad University Studies, Vol. X, 1934, pp. 37-130. 1934
Avataras of God by S. L. Katre.

लेखक की अन्य प्रमुख एवं पुरस्कृत कृतियां

१— सांख्यकारिका (युक्ति दीपिकासहिता)

२— मृच्छकटिकम्

३— मुद्राराक्षसम्

४— दशरूपकम्

५— वेदान्तसारः

६— वेणीसंहारम्

७— अष्टादश महापुराणों का आलोचनात्मक अध्ययन
(जिसका यह प्रथम भाग है, अन्य भाग प्रेस में)

प्रकाशक :

हरिशंकर त्रिपाठी

बी. १/१२२-३१ ए, डुमरांव कालोनी, अस्सी, वाराणसी ।